॥ श्रीलक्ष्मणायनमः ॥

॥ श्रीसीतारामाभ्यांनमः ॥



श्रीभरतायनमः

श्रीशत्रुघ्नायनमः

मानस-पीयूष

मासिकपत्रिका

उत्तरकांड दोहा १११ (१–३) से समाप्ति तक

जून-जुलाई सन् १९५९

सम्पादक तथा लेखक

श्रीअंजनीनन्दन-शरण

श्रीहनुमतेनमः

श्रीतुलसीदासायनमः

॥ श्रीरूपकलादेव्यैनमः ॥

कृतेन । १ । २ । १२ ।' इस प्रकार कहे हैं । अर्थात् कर्मसे प्राप्त किये जानेवाले लोकोंकी परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्यको प्राप्त हो जाय । (यह समझ ले कि) संसारमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है । कर्म स्वयं अनित्य हैं, वे अनित्य फलके देनेवाले हैं, उनसे स्वतः सिद्ध नित्य परमेश्वर नहीं मिल सकते, अतः ऐसे कर्मोंसे हमें कोई प्रयोजन नहीं । जो जिज्ञासु इस प्रकार समस्त भोगोंसे सर्वथा विरक्त हो और वास्तविक परमतत्वका ज्ञान प्राप्त करनेका उत्सुक हो । ऐसेको ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिए । इसीको फिर मंत्र १३ में दूसरे शब्दोंमें कहा है । मंत्र १३ में ब्रह्मज्ञानके अधिकारी ये बताये हैं—जो पूर्णतया शान्त-चित्त हो, मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये हुए हो ।—'सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय । १ । २ । १३ ।' शरणमें आये हुये ऐसे शिष्यको वह ज्ञानी महात्मा उस ब्रह्मविद्याका तत्त्वविवेचन पूर्वक भली भाँति उपदेश करे । ऐसा आदेश इस मंत्र में है ।

श्रीभुशुण्डीजीमें ये गुण हैं । यथा 'मन ते सकल बासना भागी । केवल रामचरन लय लागी ।', 'मैं बन गयउँ भजन जनत्राता', 'छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी', 'छन छन नव अनुराग' । एषणायें वासनायें ही चित्तको मलिन करती हैं, जब वही नहीं रह गईं तब चित्त प्रशान्त हुआ ही चाहे । मनपर विजय प्राप्त होनेपर ही वासनाओंसे छुटकारा मिलता है । 'सगुभौं सुनौं गुनौं नहि भावा','अस कवन अभागी । खरी सेव सुरधेनु त्यागी' में मंत्र १२ का भाव है । विवेकपूर्वक वैराग्य है कि श्रीरामजीको छोड़ सब व्यर्थ है, श्रीरामको ही प्राप्त करना चाहिए ।

खर्रा—'लागे करन ब्रह्म उपदेसा' इति । इसके चार कारण यहाँ कहे—१ ब्रह्मज्ञानरत, २ मुनि, ३ विज्ञानी, ४ मुझे परम अधिकारी जाना । 'परम अधिकारी' क्योंकि ब्राह्मणशरीर है जिसे ज्ञानका अधिकार है, दूसरे वैराग्यपूर्वक जिज्ञासा उठी है ।

गौड़जी—'परम अधिकारी०' ।—लोमशजीसे भुशुण्डिजीने सगुण ब्रह्मकी आराधना पूछी । उसके उत्तरमें उन्होंने कुछ थोड़ी रामचर्चा की परन्तु समझा यह कि जिज्ञासु निर्गुण उपासनाका पक्षपाती है और सगुणोपासना केवल कुतूहल-शान्तिके लिए उसने पूछी है । यह वास्तवमें निर्गुण उपासनाका अधिकारी है । चालाक जिज्ञासू अपने पक्षकी पुष्टिके लिए ऐसाही व्यवहार करते हैं । लोमशजीने यह न समझा कि भुशुण्डि इतना सरल है और चालाक जिज्ञासू नहीं है । इसीलिए उन्होंने निर्गुणका निरूपण किया और जब-जब भुशुंडी सगुणका प्रतिपादन करते थे तब तब वह फिर निर्गुण पक्षका पोषण करते थे । लोमशजी को भ्रम यह था कि यह जिज्ञासु वस्तुतः निर्गुण उपासनाके पोषणकी युक्तियाँ जाननेके लिए उत्तरपक्ष ग्रहण करता जाता है ।

पं. रा. व. श.--जब नित्य नैमित्त आदि कर्म करके उपासनामें दृढ़ता हो जाय तब अधिकारी होता है ।

करु०—परम अधिकारीके लक्षण इस कांडके अंतमें 'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम' इसमें दिए हैं । सगुण ब्रह्ममें ऐसी लगन तथा वैराग्य आदि परम-अधिकारीके चिह्न हैं ।

वि० त्रि०—'ब्रह्मज्ञानरत·············हृदयेसा ।' इति । ब्रह्मज्ञानी मुनिजीने समझा कि यह ज्ञानके जिये मेरे पास आया है । (यथा—निर्विण्ण चित्तं ब्रह्मणं ब्रह्मिष्ठं गुरुमुपासीत । श्रुतिः) अतः उन्हें ब्रह्मज्ञानका उपदेश करने लगे । यह नहीं समझा कि यह भक्तिका अधिकारी है, और भक्तिके अधिकारीके लिये ज्ञान और वैराग्य प्रायेण श्रेयस्कर नहीं होता (यथा--तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनोवै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह) क्योंकि वह अति अनुरागी विरागी होता है, और सेवक-सेव्य-भावको त्यागना नहीं चाहता ।

पं. रा. व. श.—'लागे करन ब्रह्म उपदेसा' इति । अर्थात् चरित कहकर अंतमें यह कहा कि सब लीला माया है, ब्रह्म अपनी मायाको ग्रहणकर यह चरित करता है । जो कुछ देखते हो यह सब ब्रह्म है—'सर्वं [illegible] ब्रह्म' यह ब्रह्म उपदेश करने लगे ।

नोट—'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा' से लेकर 'बारि बीचि इव गावहिं बेदा' तक, यही 'ब्रह्म उपदेश'

है। इसीको आगे 'निर्गुण मत' भी कहा है। यथा—'निर्गुन मत मम हृदय न आवा। १११। ७।' इन सब विशेषणोंके भाव पूर्व आ चुके हैं।

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥ ४॥
मन-गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥ ५॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥ ६॥

अर्थ—(वह) कला, इच्छा वा चेष्टा, नाम और रूप (इन सबसे) रहित है, अनुभवसे प्राप्त होने वा जानने योग्य है, अखंड है, उपमारहित है। ४। मन और इन्द्रियोंसे परे है, निर्मल और विनाशरहित है, विकाररहित, सीमारहित और आनंदराशि है।५। वेद कहते हैं कि तू वही है, उसमें और तुझमें भेद नहीं है; जैसे जल और जलकी लहर (एक ही हैं, उनमें कुछ भेद नहीं है)*। ६।

पं० रा० व० श०—१ 'अकल' अर्थात् वह घटता बढ़ता नहीं कि आज एक वर्षका हुआ, कल दो का, इत्यादि। 'अनाम अरूपा' का भाव कि वाचिक नाम रूप उपाधिके संबंधसे कहे जाते हैं। जब रूप नहीं तब दर्शन कैसा? उसका दर्शन बाहरसे नहीं होता वरन् वह अनुभवसे देख पड़ता है इति 'अनुभवगम्यः'। अनुभव प्राप्त होनेपर वह अखण्ड एकरस सर्वत्र जान पड़ेगा।

२ 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।०' का भाव कि कुछ भेद नहीं, जो तुम वही वह, भेद जो देख पड़ता है वह उपाधिमात्रका भेद है जैसे जल और लहरका। दोनों एक हैं, केवल वायुके लगनेसे ऊँचा उठनेसे उसे लहर कहने लगे। पवनके बंद होनेपर जल ज्योंका त्यों जल है। इसी तरह जीव ब्रह्मका प्रतिबिंब है, अविद्यामायाकी उपाधि ब्रह्ममें पड़ जानेसे वह जीव कहलाता है—(करु०—इसी तरह जीव और ब्रह्म एक है। वासना रूपी उपाधिसे जीव कहा गया। वासनाध्वंससे केवल ब्रह्म है)। वस्तुतः वस्तु भिन्न-भिन्न देखभर पड़ते हैं पर हैं एक ही, नाम अनेक हैं। उत्तम वृत्तिसे देखनेसे ब्रह्म एकरस है। भेद नहीं है, भेद अनित्य है; क्योंकि शरीरके संबंधसे है, शरीरके कारण ही भेद कहा जाता है।

'बारि बीचि इव'। यहाँ जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः अभेद है यह दिखा रहे हैं। लहर जलसे पृथक् नहीं किंतु जल स्वरूप ही है। इतने ही में लोमशजीका यह दृष्टान्त यहाँ लेना होगा। 'बारि बीचि' से गुणतः दोनोंमें अभेद नहीं है, इससे वह लोमशजीका आशय यहाँ नहीं है। गुणतः भेद है। जलसे लहर है, लहरसे जल नहीं। इसी तरह ईश्वरसे जीव जायमान है, जीवसे ईश्वर नहीं। जीव अंश है। पुनः, जल एक उसमें लहरें अनेक वैसे ही ईश्वर एक, जीव अनेक।

[उपर्युक्त भावके लिये भगवान् शंकराचार्यजीका यह वाक्य आधार है—'सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः। सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।' (षट्पदीस्तोत्र)। अभेद सिद्ध होने पर भी जीव ईश्वरका अंश ही है, जैसे तरंग समुद्रका। (प० प० प्र०)]

नोट—'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'—बा० १८ देखिए।

वै०—'ताहि तोहि नहि भेदा।' भाव कि तू अपना रूप भूला हुआ है। जब आत्मानुभवज्ञान होगा तब ब्रह्मानंद आप ही आप तेरेही अंतःकरणमें प्रकाशमान हो जायगा। इसी भूलसे तू बाहर ढूँढ़ता फिरता है। सगुण तो प्रयोजनमात्र हुआ वस्तुतः निर्गुण निर्गुणही रहा, वही मूल है, मूलको पकड़। जीव और ब्रह्म दोनों एक हैं, उपाधिमात्र दूसरा रूप और कथनमात्र दूसरा नाम है। महावाक्यको धारण कर।

नोट—'सो तैं...' इति। यथा 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि

---

* 'गावहिं बेदा', यथा—१ 'तत्त्वमसि' इति सामवेदे। इसीका 'सो तैं' कैसे थोड़ेमें है। यह सामवेदका महावाक्य है। २—'अयमात्मा ब्रह्म' इति अथर्वणे। ३—निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इति कल्पनादूरम्। 'नित्यानंदैक रसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम्।' (वेदान्त)।

श्वेतकेतो...। छा० ६। ८। ७।' अर्थात् वह जो सत्संज्ञक अणिमा जगत्का मूल बतलाई गई है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है; और हे श्वेतकेतो! वही तू है। यह मन्त्र आगे आठो खण्डोंमें प्रत्येक दृष्टान्त द्वारा समझाने पर आया है।

सि० ति०—'जो तत्त्व ब्रह्म है, वही तू है। वह—'प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी। ७२। ७।' है, वैसे तू भी यमादि साधनोंसे प्रकृतिपार (तीन अवस्था और तीन गुणोंसे पर) होकर 'निरीह बिरज अविनाशी' ब्रह्मके समान हो जायगा। जैसे वह 'तुरीयमेव केवलम्' है वैसे ही तू भी कैवल्यमुक्त स्वरूप हो जायगा। सेवक बननेकी क्या आवश्यकता है? इसे निर्गुण मत कहा है, क्योंकि प्रकृतिपार (गुणातीत) इसका होना फल है। आगे 'बारि बीचि इव' से भी तात्त्विक एकता ही सिद्ध की गई है। अभेदका अर्थ तुल्यरूपताका है, आगे स्पष्ट है; यथा 'जीव कि ईस समान' (दो० १११)।'

बाबा जयरामदास दीनजी—कुछ लोग 'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा...' इस वाक्यको लेकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं कि श्रीगोस्वामिपादका मत भी अद्वैतवाद ही था। वे कहते हैं कि यहाँ जीव और ब्रह्मकी एकता बतायी गई है, अतएव अद्वैतवाद है।

यहाँ पर मानस-भक्तोंको सचेत होकर विचार करना चाहिए कि यह उपर्युक्त वचन हेय अर्थमें आया है या ध्येय अर्थमें। इसी बातको तो श्रीभुशुण्डिजीने स्वीकार नहीं किया और लोमश ऋषिसे बहस छेड़ दी। उन्होंने इसपर शंका उपस्थित करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।' इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने जीव-ब्रह्मकी एकता सुनना भी भक्तिके विरुद्ध समझा। उन्होंने साफ़-साफ़ कह डाला—'राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ सो उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया। भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा।'; इसी विषादपर क्रुद्ध होकर लोमशने उन्हें काक होनेका शाप दे दिया। उसे भी भक्तभूषण श्री-भुशुण्डिजी सहर्ष शिरोधार्य कर निर्भय उड़ चले। क्योंकि वास्तवमें विरोधरहित हृदय तो भगवद्भक्तोंका ही हो सकता है, जो अपनेको दास और सारे जगत्को अपने प्रभुका रूप मानते हैं, जैसा कि भगवान् शिवने कहा है—'उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत् केहि सन करहिं बिरोध।'

इसी भावकी पुष्टि आगेके वचनों—'सुनु खगेस नहिं कछु रिषिदूषन। उर प्रेरक रघुबंस-बिभूषन। कृपासिंधु मुनि मति कर भोरी। लीन्हीं प्रेम परिच्छा मोरी।...। ११३। १-७।'—से भी होती है। रामभक्त भुशुण्डिजी जो कुछ भी हुआ उसे अपने प्रभु रघुवंशविभूषणकी ही प्रेरणा मानते हैं; परन्तु उनको ऐसा विश्वास है कि ब्रह्म-जीवकी एकताका कथन मुनिजीकी मति भोरी करके श्रीप्रभुने कराया था। यही कारण है कि उन्होंने उस कथनका सर्वथा विरोध करके और शापतक स्वीकार करके अपनी भक्तिकी दृढ़ताका प्रमाण दिखाया। ऐसे प्रसंगको भी अद्वैतवादके पक्षमें खींचना कहाँतक उचित है, यह विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

२ इसी तरह पूर्व दोहा ७१ के 'सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।' इस वाक्यको लेकर उन महानुभावोंका कहना है कि यहाँ मायाको मिथ्या कहा गया है, अतः अद्वैतवाद है।

समाधान—यहाँ भी ऊपरका प्रसंग 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही। ७०। ७।' से लेकर 'सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड। ७१।' तक देखिए। इसमें मैं अरु मोर तोर मैं माया' जो अविद्या है, उसीका पूरा वर्णन करते हुए संसारचक्र दिखाया गया है। अतः उसीके लिये, जिसके वशमें होकर यह जीव 'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर' में पड़ा हुआ है—'जा बस जीव परा भव कूपा', 'सो' शब्दका इस दोहेमें व्यवहार किया गया है। जब यह 'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर' ही उसका स्वरूप है तब तो यह अज्ञानता, मिथ्या मोहजन्य है ही। परन्तु यह भी श्रीरामकृपाके बिना निवृत्त नहीं हो सकती; यह श्रीकाकभुशुण्डिजी प्रतिज्ञा करके कह रहे हैं। क्योंकि यह श्रीरामजीके अधीन है। 'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा। सोइ

प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा।'

अतः मोह, काम, चिन्ता, श्रीमद, लोभ, यौवन, ममता, एषणा आदिको ही जिन्हें ऊपर 'माया कर परिवारा', बताया गया है, मिथ्या कहा गया है, क्योंकि ये सब मोह मूलक हैं। इनका आभास तभी तक मिलता है जब तक श्रीराम कृपासे यह जगत् राममय नहीं भासता, जबतक 'सियाराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।' का भाव उदय नहीं होता। अतएव यहाँ स्पष्ट रूपमें मायावाद श्रीरामजीकी कृपासे उसकी निवृत्ति सूचित की गई है।

३—इसी तरह 'मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया। ७८। ८।' को प्रमाण रूपमें पेश करके वे लोग कहते हैं कि 'यहाँ ईश्वर और जीवके भेदको मुधा (झूठा) कहा गया है, अतः इससे अद्वैतवाद सूचित होता है'।

इसके भी ऊपरके पदोंको देखिए—'ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर। जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥ माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥ परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥' जब ये पद ईश्वर और जीवका भेद बताने वाले हैं तब इसी प्रसंगमें इसी भेदको झूठा कहकर 'वदतो व्याघात' होना कैसे सम्भव है अतः यहाँ यह सूचित किया गया है कि यह जगत् जो हमें भेदाभेद रूपमें भास रहा है, इसका कारण माया ही है। यद्यपि यह नाना रूप जगत्का भेद जो मायाकृत है मुधा अर्थात् झूठा है, क्योंकि संपूर्ण जगत् एक भगवद्रूपही है, फिर भी भगवान्की कृपाके विना यह नाना-दर्शन् कभी जा नहीं सकता। इसीकी पुष्टि चौपाईके आगेके, 'रामचंद्रके भजन बिनु जो चह पद निर्बान। ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥...ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा।', इन पदोंसे होती है। श्रीरामजीके भजनद्वारा, उनकी कृपासे ही द्वन्द्व दुःख हट सकता है; अन्यथा कोई चाहे ज्ञानवानभी क्यों न हो, विना श्रीराम भजनके, अपने पुरुषार्थपर भव-सागर पार करनेको दावा करनेवाला बिना सींग-पूँछका पशुही है। जहाँ ऐसी बात है वहाँ अद्वैतवादका अर्थ करना भूल नहीं तो और क्या है ?

बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥ ७॥
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा॥ ८॥
रामभगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ ९॥
सोइ उपदेस कहहु † करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥१०॥

अर्थ—मुनिने मुझे अनेक प्रकारसे समझाया पर निर्गुणमत मेरे हृदयमें न धसा। ७। चरणोंमें माथा नवाकर मैंने फिर कहा—हे मुनीश्वर! मुझसे सगुण ब्रह्मकी उपासना कहिए। ८। रामभक्तिरूपी जलमें मेरा मन मछली हो रहा है (तब) हे चतुर मुनीश! (वह उससे) कैसे अलग हो सकता है ?। ९। दया करके वही उपदेश कीजिए जिससे मैं श्रीरघुनाथजीको अपनी आँखोंसे देखूँ। १०।

नोट—१ 'बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा' इति। छान्दोग्योपनिषद्में आरुणिके श्वेतकेतुसे कहने पर कि 'वही तू है', उन्होंने फिर समझानेकी प्रार्थना की। उसपर अरुणिने फिर समझाया है—'यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां रसं गमयन्ति। ६। ९। १। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति। २।' से लेकर ६। १६। ३।' तक जो अनेक भाँतिसे समझाया है वह सब 'बिबिध भाँति' में आ जाता है।—प्रथम मधुका और नदियोंका दृष्टान्त देकर समझाया

† करहु—रा० गु० द्वि०।

कि जिस प्रकार मधुमक्खियाँ मधु निष्पन्न करती हैं तो नाना दिशाओंके वृक्षोंका रस लाकर एकताको प्राप्त करा देती हैं, वे रस जिस प्रकार उस मधुमें इस प्रकारका विवेक प्राप्त नहीं कर सकते कि 'मैं इस वृक्षका रस हूँ और मैं इस वृक्षका रस हूँ'; पुनः, ये नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्वकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी होकर पश्चिमकी ओर। वे समुद्रसे निकलकर फिर समुद्रमें मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है। वे सब जिस प्रकार वहाँ (समुद्रमें) यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूँ, यह मैं हूँ'; ठीक इसी प्रकार यह संपूर्ण प्रजा सत्को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत्को प्राप्त हो गये हैं; एवं ये संपूर्ण प्रजाएँ सत्से आनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्के पाससे आई हैं। इस लोकमें वे व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्ग, डांस वा मच्छड़ जो जो भी होते हैं वे ही फिर हो जाते हैं। वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, आत्मा है और वही तू है। (२।९।१-४।, २।१०।१-३।)।

वृक्षका दृष्टान्त—यदि कोई इस महान् वृक्षके मूलमें आघात करे तो यह जीवित रहते हुए केवल रस-स्राव करेगा। इसी तरह यदि मध्यमें, या अग्रभागमें आघात करे तो भी रसस्राव करेगा। यह वृक्ष जीव (आत्मा) से ओतप्रोत है और जल पान करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है। यदि इस वृक्षकी एक शाखाको जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है। यदि दूसरीको छोड़ दे तो वह सूख जाती है, इत्यादि। इसी प्रकार यदि सारे वृक्षको छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है। इसी तरह तू जान कि जीवसे रहित होने पर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता। वह जो अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है...वही तू है। ६।११।१-३।

वटवृक्षका दृष्टान्त—इस वटवृक्षका एक फल ले आ। लानेपर फोड़कर देखनेको कहा कि इसमें क्या है? शिष्यने बताया कि इसमें ये अणुके समान दाने हैं। इनमेंसे एकको फोड़कर देखनेको कहा। तब बताया कि इसमें कुछ नहीं है। तब आरुणिने कहा कि इस वटबीजकी जिस अणिमाको तू नहीं देखता, उस अणिमाका ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष खड़ा हुआ है। (आगे वही मंत्र है—वह जो यह अणिमा है एतद्रूप...)। ६।१२।१-३।

लवणका दृष्टान्त—इस नमकको जलमें डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना। श्वेतकेतुने वैसा ही किया। तब आरुणिने कहा कि जो नमक जलमें डाला था उसे ले आओ। किन्तु उसने ढूँढ़नेपर उसे उसमें न पाया। (अरुणि—) 'जिस प्रकार वह नमक इसीमें बिलीन हो गया है (इस लिये तू उसे नेत्रसे नहीं देख सकता, उसे यदि जानना चाहता है तो) इस जलको ऊपरसे आचमन कर'। देख कैसा है? (उत्तर) नमकीन है। (गुरु-) नीचेसे आचमन कर। अब कैसा है? (उत्तर) नमकीन है। (गुरु-) 'अच्छा, अब इस जलको फेंककर मेरे पास आ'। उसने वैसा ही किया और बोला 'उस जलमें नमक सदा ही विद्यमान था। तबअरुणिने कहा—इसी प्रकार वह सत् भी निश्चय वहीं विद्यमान है। (आगे वही मंत्र है)। ६।१३।१-३।

अन्यत्रसे लाये हुए पुरुषका दृष्टान्त—जिस प्रकार जिसकी आँखें बँधी हुई हों ऐसे किसी पुरुषको गान्धार देशसे लाकर जनशून्य स्थानमें छोड़ दे। उस जगह जिस प्रकार वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिमकी ओर मुख करके चिल्लावे कि मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और आँखें बँधे हुए ही छोड़ दिया गया है। (तो) उस पुरुषके बंधनको खोलकर जैसे कोई कहे कि 'गांधार देश इस दिशामें है, अतः इसी दिशाको जा', तो वह बुद्धिमान समझदार पुरुष एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ गांधारमें ही ही पहुँच जाता है, इसी प्रकार इस लोकमें आचार्यवान् पुरुष ही (सत्को) जानता है; उसके लिये (मोक्ष होनेमें) इतना ही बिलंब है जबतक वह (देहबन्धन) से मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्मको) प्राप्त हो जाता है। (आगे वही मन्त्र है)। ६।१४।१-३।

मुमूर्षु पुरुषका दृष्टान्त—(ज्वरादिसे) सन्तप्त (मुमूर्षु) पुरुषको चारों ओरसे घेरकर उसके बांधव-

गया पूछा करते हैं—'क्या तुम मुझे जानते हो? मुझे पहचानते हो?' जबतक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं होती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन नहीं होता तबतक वह पहचान लेता है। वाणी, मन, प्राण, तेजके लीन हो जानेपर वह नहीं पहचानता। (आगे वही मंत्र है)। ६। १५। १-३।

चोरके तप्त परशुग्रहणका दृष्टान्त—(राजकर्मचारी) किसी पुरुषको हाथ बाँधकर लाते हैं (और कहते हैं—) इसने धनका अपहरण किया है, चोरी की है, इसके लिये परशु तपाओ। वह यदि चोरीका करनेवाला होता है तो अपनेको मिथ्यावादी प्रमाणित करता है। वह मिथ्याभिनिवेशवाला पुरुष अपनेको मिथ्यासे छिपाता हुआ तपे हुए परशुको ग्रहण करता है; किन्तु वह उससे दग्ध होता है और मारा जाता है। और यदि वह उसका करनेवाला नहीं होता तो उसीसे वह अपनेको सत्य प्रमाणित करता है। वह सत्याभिसन्ध अपनेको सत्यसे आवृत कर उस तपे हुए परशुको पकड़ लेता है। वह उससे नहीं जलता और तत्काल छोड़ दिया जाता है। वह जिस प्रकार उस (परीक्षाके) समय नहीं जलता (उसी प्रकार विद्वान्‌का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान्‌का होता है)। यह सब तद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है। तब वह (श्वेतकेतु) उसे जान गया, उसे जान गया। ६। १६। १-३।

नोट—२ (क) 'मम हृदय न आवा'। भाव कि हृदयमें तो सगुणोपासनाका वास हो रहा है तब निर्गुणके लिये जगह कहाँसे आती। (ख)—'पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा'। एक बार पहिले कह चुके हैं, यथा—'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान। ११०।' अब दूसरी बार फिर कहा।—['मुनि रघुपतिगुनगाथा कहे कछुक', इससे यह निश्चय हो गया कि ये सगुणोपासना जानते हैं, इसीसे फिर कहा, नहीं तो न कहते। (रा. शं.)] बारबार वही बात अपनेसे बड़ेसे दोहरानेसे उसका अपमान और कहनेवालेकी धृष्टता जनाती है, दूसरे, मुनिकी बात काटकर बीचमें अपनी बात कहना अशिष्टाचार है; अतः क्षमाके लिये 'नाइ पद सीसा कहेउँ'। पहले 'सगुनब्रह्म अवराधन' कहा और यहाँ 'सगुन उपासन', इस तरह दोनोंको एकार्थी जनाया। आराधना वा अवराधन=उपासना।

३ 'रामभगति जल...किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना' इति। (क) प्रवीणका भाव कि आप चतुर हैं, जानते हैं कि मछली जलसे अलग होकर कब रह सकती है। 'सगुणोपासना' कहकर यहाँ 'रामभक्तिजल' कहा। इस तरह सगुण-उपासना और रामभक्तिको एकही जनाया। रामभक्तिको जल कहकर निर्गुण-ब्रह्म-उपदेशको सूखा थल जनाया। मनको मीन कहकर जनाया कि मन सगुणोपासनासे क्षणभरभी अलग नहीं होता, क्योंकि वह तो उसका जीवन है तब दूसरी बात कैसे सुन सकता हूँ। ☞ इन वाक्योंसे अपनेको अति आर्त्त अधिकारी जनाया जिसमें अवश्य कहें, संकोच न करें। मीनका जैसा प्रेम जलमें है ऐसा किसीका नहीं, यह बात कविने दोहावलीमें थोड़े ही शब्दोंमें बहुतकुछ स्पष्ट कह दिया है।

वि. टी.—'रामभक्ति जल मम मन मीना।०' में यह शंका हो सकती है कि 'जब विप्रका मन मछलीकी नाईं रामतत्त्वरूपी जलमें पड़ रहा था तो फिर अधिक उपदेशकी क्या आवश्यकता थी?' उसका समाधान यह है कि श्रीरामचन्द्रजी परब्रह्म हैं और उनकी भक्ति जलवत् कही है तथापि वह भक्ति पूर्णरूपसे स्थिर नहीं हुई थी और उसमें विप्रके मनरूपी मच्छको चारा नहीं मिला था अर्थात् उसे श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन नहीं हुए थे। इस हेतु जबतक भक्ति पक्की न हो और मन संतुष्ट न हो तबतक उपदेशकी बारंबार आवश्यकता रहती है तभी तो विप्रकी प्रार्थना मुनिजीसे यह थी कि—'सो उपदेस करहु करि दाया। निज०'।

नोट—४ 'सोइ उपदेश कहहु...निज नयनन्हि देखौं रघुराया' यहाँ कहा और पूर्व कहा है कि 'रामचरन बारिज जब देखउँ। तब निज जन्म सफल करि लेखौं' इससे जनाया कि सगुण ब्रह्मकी उपासनासे मुख्य यही तात्पर्य था। 'निज नयनन्हि देखौं' अर्थात् दर्शन बिना मैं अपना जन्म सफल नहीं मान सकता। पुनः, भाव कि अनुभवसे नहीं, ध्यानसे नहीं, वरन् चक्षु इत्यादिसे प्रत्यक्ष देखूँ।

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा ॥११॥
मुनि पुनि कहि हरि-कथा अनूपा। खंडि सगुन-मत अगुन निरूपा* ॥१२॥

अर्थ—पहले अवधपति श्रीरघुनाथजीको नेत्रभर देखकर तब निर्गुणब्रह्मका उपदेश सुनूँगा। ११। मुनिने फिर अनुपम हरिकथा कहकर सगुण मतका खण्डन कर निर्गुण मतका निरूपण (प्रतिपादन, सिद्धांत) किया। १२।

नोट—१ 'भरि लोचन बिलोकि...' इति। (क) 'भरिलोचन', यथा—'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी। १। ५०। २।', 'यह उत्सव देखिअ भरि लोचन। १। ८८।१।', 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन। १। १४६। ६।', 'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना। २११ छंद।', 'भरि लोचन छबि लेहु निहारी। १। २४६। ३।' इत्यादिमें जो भाव है वही यहाँ है। अर्थात् अघाकर देखकर, बहुत अच्छी तरह इन नेत्रोंसे जी भरकर दर्शन करके। नेत्रोंमें उस रूपको दर्शन करके भर लूँ तब। (ख) 'अवधेसा' अर्थात् रघुकुलमें जो अवतार लेकर राजा हुए उस अवधपति रूपका दर्शन करना चाहता हूँ, अन्य किसी रूपका नहीं। (ग) 'तब सुनिहौं०' का भाव कि जबतक सगुण रूप श्रीअवधेशरूपका साक्षात् दर्शन न हो जायगा, तबतक मैं दूसरी बातका उपदेश न सुनूँगा। आप निर्गुण निरूपणका व्यर्थ परिश्रम न करें। इससे दिखाया कि दर्शनकी कैसी उत्कट लालसा है।

२ ☞ दर्शनकी उत्कट लालसा है, यह बारंबार कहकर जनाया है। (१) रामचरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सुफल करि लेखौं।', (२) सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।', (३) सगुन उपासन कहहु०', (४) 'सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया।', (५) 'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा।'

सि. ति.—'तब सुनिहउँ...'—यह कथन वास्तवमें व्यंग्यसे उपेक्षापरक है, जैसे कहीं सत्संगमें कोई अपनी ही कविताकी बार-बार बड़ाई करके उसीको बार-बार सुनाता है। तब कोई आवश्यक प्रसंग रुका हुआ देखकर लोग कह देते हैं कि अच्छा मैं इसे चलते समय नोट कर लूँगा, अब अमुक प्रसंग होने दीजिये। अन्यथा विचार किया जाय कि जब श्रीकाकजीको सगुणके साक्षात् दर्शन भी हो गए। तब श्री लोमशजीके पास निर्गुण उपदेश लेनेके लिये क्या काकजी आये? २७ कल्प तो बीत गये। पूर्व विना पहिचानके आये थे, अब तो गुरुका नाता भी हो गया। पर सगुण-दर्शनके पीछे श्रीकाकजीने निर्गुणमतकी चर्चा भी नहीं की। क्या करें? जनक-विश्वामित्र संवाद बा. २१५ देखिए, तथा 'ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोयननि अनुभये उभय सरस राम जाने हैं। गी. १। ५६।', 'अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौ गुन दिये। जा. मं. ४५।' अर्थात् निर्गुणके ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा सगुण दर्शनका आनंद सौगुणा है।

नोट—३ 'पुनि कहि हरि कथा अनूपा।०' अर्थात् जैसे पूर्व कहा था वैसेही फिर कहा और कहकर फिर उसका खण्डन किया कि यह नित्य नहीं है नैमित्त है। नित्य एकरस निर्गुण ही है। पुनः इस तरह खण्डन किया कि सगुणमें हानिलाभ, शोक मोहादिक व्यवहार देखे जाते हैं तब भला वे उपासकोंके चित्तसे हर्ष शोकादि कैसे दूर कर सकते हैं अतः निर्गुणका ही ध्यान श्रेष्ठ है—(पं०)। अवतार मायासे होता है, अनित्य है, थोड़े दिन रहकर पूर्व निर्गुण ब्रह्ममें लय हो जाता है, इत्यादि।—विशेष ११२ (१२) में देखिए।

तब मैं निर्गुन † मत करि दूरी। सगुन निरूपौं करि हठ भूरी ॥ १३ ॥
उत्तर प्रति-उत्तर मैं कीन्हा। मुनि-तन भए क्रोध के चीन्हा ॥ १४ ॥

अर्थ—तब मैं निर्गुणमतको दूर (खण्डन) कर बहुत हठ करके सगुण मतका निरूपण करता।१३।

* निर्गुन रूपा (का०)। † निर्गुन मति—ना० प्र०।

मैंने उत्तर प्रत्युत्तर किया अर्थात् उत्तर पर उत्तर दिया। मुनिके शरीरमें क्रोधके चिह्न उत्पन्न होगए। १४।

पं०—सगुणका निरूपण करता, इस भाँति कि 'जो रूप-रेखसे परे है उसका ध्यान क्या और अरूप अरेख में स्थित भय सुख क्या? सगुणके दर्शन अमृत वचन-श्रवण, सारूप्यादि मुक्तिमें सुख प्रत्यक्ष है।

वै०—'तब मैं'। अर्थात् प्रथम मैंने विनीत भावसे जिज्ञासु बनकर प्रश्न किया। उसका उन्होंने परिपूर्ण समाधान न किया। फिर दूसरी बार मैंने आर्त्त अर्थार्थी होकर प्रश्न किया तबभी जब मुनि खण्डन करने लगे तब मैंने विचारा कि मैं तो इनको आचार्य्य मान प्रश्न करता हूँ और ये मेरे प्रतिपक्षी होकर मेरे इष्टकी न्यूनता दरसाते हैं तहाँ भक्तिपक्षकी ऐसी रीति है यथा शिवसंहितायां (कि)—'रामादन्यं परं श्रेष्ठ यो वै पांडित्यमात्रतः। संतप्त हृदयं तस्य जिह्वांछिद्याम्यहं मुने'॥ ऐसा विचारकर मैंने निर्गुणमतको खण्डनकर दूर कर दिया और फिर उन्हींके वचनोंसे बड़े हठपूर्वक सगुणको सर्वोपरि निरूपण करूँ।—

इस तरह कि जो आपने 'तत्त्वमसि' 'सो तैं०' कहा सो उसका अर्थ इस प्रकार है—'तत्कोर्थः तस्य ईश्वरस्य त्वं असि भवसीत्यर्थः तेनजीव ईश्वरयोरेव अनादिसम्बंधः तस्य कस्य परात्पर परब्रह्मणः श्रीरामचन्द्रस्य मुख्यत्वेन ननु श्रीरामचन्द्रे एव जीवानां मुख्य संबंधः' अर्थात् हे जीव! परब्रह्म श्रीरामजीमें और तुझमें अंशी अंश प्रकाशी प्रकाश, शेषी शेष, स्वामी सेवक इत्यादि संबंध अनादि कालसे है। पुनः जो आपने 'ताहि तोहि नहिं भेद' में 'अयमात्मा ब्रह्म' प्रमाण दिया (सो सुनिये)—'तत्र अयं शब्दः शान्ताः तकारस्य निर्देशत्वात् क्षेत्रज्ञे प्रविशति महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च'। अर्थात् यह शरीर क्षेत्र है जिसमें क्षेत्रज्ञ जीव बसता है सो महाभूत अहंकार बुद्धिके वश इन्द्रिय विषय इच्छा द्वेष सुख दुःखमें पड़ा है........। २—'उत्तर प्रतिउत्तर'। यथा मुनि बोले कि श्रुति स्मृति कहती है कि जैसे पुरुष एक है पर दर्पणमें दूसरा रूप देखता है, जलमें चन्द्रमा नाना रूपसे जो देख पड़ता है सो तो शून्य है क्योंकि वह न तो घटे, न बढ़े, न भीगै, वैसेही परमात्माभी आत्मा रूपसे जीवोंके अन्दर व्याप्त है। जीव और आत्माके धर्म विलग हैं। पुनः, बोले कि जैसे घटाकाश मठाकाशके नाश होनेपर केवल आकाश रहता है, वैसेही यावत् अज्ञान दशा है तावत् भेद देख पड़ता है। जब तक भेदबुद्धि है तब तक जन्ममरण नहीं छूटेगा। अतएव भ्रमको त्यागकर एक ब्रह्महो निश्चय मानो। स्वयंप्रकाश ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई नहीं, इत्यादि। इसके उत्तरमें मैंने कहा कि जब दूसरा है ही नहीं तब उपदेश कैसा? उपदेशसे तो सिद्ध-साधकता स्पष्ट है अतएव जीव और ईश्वरमें भेद प्रत्यक्ष है और ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है तदर्थ श्रुति जीवोंको उपदेश देती है। क्योंकि हर्ष विषादादि जीवोंके धर्म सदा उनमें रहते हैं और ईश्वर सच्चिदानंद अखंड ज्ञानरूप है। अतः ईश्वर जीवका एकत्व संभव नहीं।—(वै०)।

नोट—लोमश-भुशुण्डी-वाद कुछ इस प्रकार कहा जाता है—(कथासे)—

मुनि—'खंडि सगुन मत०'। (प्रथम सगुन कह गए। फिर) कहा कि तीन प्रकारके चेतन हैं—१ ब्रह्म २ ईश्वर ३ जीव। सर्वव्यापक, निर्लेप, आकाशवत्, सर्वगत, निर्विशेष ब्रह्म मायामें प्रतिबिंबित होनेसे मायाको ग्रहण करनेसे मायोपाधित 'ईश्वर' कहा जाता है और जो अविद्योपाधित है वह 'जीव' है। ब्रह्महो अविद्याके नाना रूपोंमें प्रतिबिंबित होनेसे जीव कहलाता है। अतः ईश्वरकीभी उपासना मायिक ही ठहरी। इसकी उपासनासे केवल चित्तकी एकाग्रता होना इतना ही उपयोग है। इससे सगुणोपासना करनेवालोंको कुछ कालमें निर्विशेष ब्रह्मके बोध होनेसे मुक्ति होती है। सगुणोपासना अंतमें आपसे आप छूट जाती है। अतः जो सर्वगत निरतिशयानन्द ब्रह्मकी प्रथमसे ही उपासना करते हैं वे सगुणोपासककी अपेक्षा शीघ्र संसारसे छूटकर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। क्योंकि ब्रह्महो मायोपाधिक ईश्वर और अविद्योपाधिक जीव हुआ है।

विप्र—(कागभुशुण्डजी बोले कि) महाराज! मायाको ब्रह्म ग्रहण करता है कि माया ब्रह्मको ग्रहण करती है? यदि मायाको कहिए कि वह ब्रह्मको ग्रहण करती है तो माया जड़ है उसमें ब्रह्मको ग्रहण करनेकी शक्ति कहाँ? यदि कहिए कि ब्रह्मने मायाको ग्रहण किया तो मायासे ब्रह्मका कुछ प्रयोजन नहीं, वह तो आनन्द स्वरूप है। मायाको ग्रहण करही नहीं सकता।—(उत्तरमें) मुनि चुप रहे।

विप्र—(तब फिर प्रश्न किया कि) माया ब्रह्मसे भिन्न है कि ब्रह्ममें है ? यदि ब्रह्ममें है तो माया हमारेमें है यह ब्रह्म जानता है कि नहीं ? यदि जानता है, तो ब्रह्म ज्ञानवान् है केवल ज्ञानमात्र निर्विशेष कैसे ? यदि नहीं जानता है तो विना जाने अंगीकार कैसे करता है ? और फिर ब्रह्ममें अज्ञपनाभी आगया।

मुनि—माया अनादि है।

काक—तब तो माया और ब्रह्म दो अनादि हुए, अद्वैत कैसे ? (मुनि उत्तर न दे सके)।

विप्र—आपने कहा है कि मायामें ब्रह्म प्रतिबिंबित है तो प्रतिबिंब साकार वस्तुका होता है। ब्रह्मको निराकार कहते हैं कि साकार ? (उत्तर) मुनि—निराकार।

विप्र—निराकारका प्रतिबिंब कहीं देखा गया है ? (उत्तर) मुनि—नहीं।

विप्र—तब निराकार परब्रह्मका प्रतिबिंब मायामें कैसे ? (मुनि चुप रहे।)

विप्र—ब्रह्म सविशेष है कि निर्विशेष ? (उत्तर) मुनि—निर्विशेष।

विप्र—निर्विशेषका बोधक शब्द कौन है ? (उत्तर) मुनि—ज्ञानमात्रं ब्रह्मेति।

विप्र—ज्ञान, यह 'ज्ञाव बोधने' इस धातुसे बनता है। कर्णमें 'ल्युट्' प्रत्यय है। अन आदेश होनेसे ज्ञान शब्द बना। तो यह तो प्रकृति प्रत्ययके योगसे निर्विशेषका बोधक नहीं हो सकता।

मुनि—निर्विशेषका अर्थ तुम क्या करते हो ?

विप्र—निर्विशेष निराकार इत्यादि शब्द किसी विशेषणसे विशिष्ट वस्तुको दूसरे वस्तुमें विशेषणके निषेधको बोधन करते हुए ब्रह्मका बोधक है।···इत्यादि।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'उत्तर प्रति उत्तर'—मुनिने 'तत्त्वमसि' महावाक्यके अर्थ रूपमें 'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीचि इव...' कहा है, मुनिका अर्थ इस अर्धालीके प्रसंगमें कहा गया। श्रीभुशुण्डिजीने प्रति-उत्तर रूपमें ऐसा अर्थ किया कि–वाक्यके गूढ़ अभिप्राय प्रकट करनेके लिये ही उपमा दी जाती है। 'बारि बीचि इव' यह उपमा 'तत्त्वमसि' के भावको प्रकट कर देती है। तत्-त्वं-असि अर्थात् वही तू है। इसका अर्थ श्रुतिके प्रकरणके अनुसार करना चाहिए। पूरी श्रुति इस प्रकार है; यथा—'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। छां० ६। ८। ७।' अर्थात् यह जो अणिमा है एतद्रूप (ब्रह्मात्मक) ही यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। इसके पूर्वकी श्रुति 'यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन...। छां० ६। १।' में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म जगत्का कारण कहा गया। उसीको आगे 'स देव सौम्य···। छां० ६। २।' इस श्रुतिमें सत् संज्ञासे कहा गया। पुनः 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय। छां० ६। २। ३।' में तत्' शब्द से कहा गया। उसी तत् शब्दसे कहे हुए सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको यहाँ भी 'तत्' शब्दसे कहा है और 'त्वं' शब्द श्वेतकेतुके लिये है। अतः 'तत्त्वमसि' का अर्थ हुआ—वह ईश्वर तू है। सर्वज्ञ ईश्वर और अल्पज्ञ जीवका प्रत्यक्ष ऐक्य देखा नहीं जाता। अतः सत्यवादिनी श्रुतिका अभिप्राय यहाँ कुछ विशेष अर्थ से है— वह यह कि जो 'सत्' एक है वही अनेक प्रकारका हुआ और जैसा एक है वैसाही अनेक है। एकका नाम 'सत्' ही उचित है और उसीके अनेक होनेपर अनेकका एक ही 'ब्रह्म' ऐसा नाम चल सकेगा। जब आकार भिन्न हुए तब व्यवहारके लिये उन आकारोंके भिन्न-भिन्न नाम रक्खे गए। जैसे इससे पूर्वके 'मृत्पिण्ड' के विकारोंके नामोंके दृष्टान्तसे कहा गया है।

स्पष्टार्थ यह हुआ कि जो 'सत्' प्रलयमें एकही था—वही तू (श्वेतकेतु आदि जो नाना हुए हैं) है। सत् चिदचित्से विशिष्ट और तू भी चिदचित्से विशिष्ट है। जगत्के सब व्यष्टि आकार चिदचित्विशिष्ट ही हैं। प्रत्येक प्राणी देह (अचित्) जीवात्मा (चित्) और अन्तर्यामी ब्रह्म (ईश्वर) से विशिष्ट रहते हैं। शरीरी ब्रह्मके प्राधान्यसे शरीररूप चिदचित्भी ब्रह्म संज्ञासे कहे जाते हैं। इस तरह श्वेतकेतुको ब्रह्मका शरीर एवं नियाम्य कहकर गुरुजीने उसका अहंकार दूर किया कि शरीरके गुण, विद्या आदिके वैभव शरीरीके ही हैं, शरीररूपी जीवको उनका अभिमानी नहीं होना चाहिए। यह प्रसंग उद्दालक महर्षिजीने अपने पुत्र श्वेतकेतुके

विद्याके अहंकारको दूर करनेके लियेही छेड़ा था।

पाँ०—मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा' इति। भाव कि मुनि कहनेको थे तो मननशील और हो गए क्रोधके रूप। (क्रोधके चिह्न यह कि नेत्र लाल हो गए, होंठ फड़कने लगे, शरीरपर क्रोधकी ललामी आ गई, इत्यादि)।

सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किए। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह * के हिए॥ १५॥
अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन † ते होई॥ १६॥

शब्दार्थ—अवज्ञा = अनादर, अपमान।

अर्थ—हे प्रभो! सुनिए। बहुत अनादर करनेसे ज्ञानियोंकेभी हृदयमें क्रोध उत्पन्न हो जाता है।१५। यदि कोई चन्दनकी लकड़ीको (आपसमें) अत्यन्त रगड़े तो उससे (भी) आग प्रगट हो जायगी। १६।

प० प० प्र०—१ 'उपज क्रोध ज्ञानिन्हके हियें' इति। यहाँ संत वा साधु शब्द न देकर सूचित किया कि ज्ञानियोंके हृदयमें क्रोध उत्पन्न हो जाता है, किंतु ज्ञानी रामभक्तोंके, संतोंके, हृदयमें क्रोध नहीं उपजता, उन्हें तो 'निंदा अस्तुति उभय सम' होते हैं यह श्रीमुखवाक्य है। विशेष 'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु।१११।' में देखिए।

२ 'अनल प्रगट चंदन ते होई' इति। 'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा' सिद्धान्तवाले लोमश मुनि चन्दन है। उत्तर-प्रत्युत्तररूपी संघर्षण करनेसे अग्निका प्राकट्यसूचक धूमरूपी क्रोधके चिह्न प्रगट हुए अब थोड़ीही देरमें शापरूपी अग्नि प्रकट होगी।

नोट १—ज्ञानी चंदनसमान शीतल होते हैं। पर जैसे चन्दनमें अग्नि तत्त्व गुप्त है वैसे ही ज्ञानीके हृदयमेंभी क्रोधादि सूक्ष्मरीतिसे दबे हुए वर्तमान हैं, अपने ज्ञान वैराग्य शमदमादिसे उन्होंने काम-क्रोधादिको दमन कर रक्खा है पर वे अति सूक्ष्म रूपसे भीतर मौजूद हैं—'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे'। 'अति विषय' पाकर प्रकट हो जाते हैं क्योंकि यह जीवका धर्म ही है। चंदनके साधारण रगड़से अग्नि नहीं निकलती, जब अत्यन्त रगड़ होगी तभी उसमेंसे अग्नि प्रकट होगी; वैसेही ज्ञानी भी क्षमाशील और शीतल होते हैं, साधारण अवज्ञासे उन्हें क्रोध कभी नहीं हो सकता जब अवज्ञा अतिको प्राप्त होती है तभी क्रोध उत्पन्न होता है। 'प्रगट' का भाव कि गुप्त रूपसे तो सदा बनी रहती है, प्रकट नहीं देख पड़ती। यहाँ दृष्टान्तालंकार है।

वि० टी०—अतिशय संघर्षणके कारण साधुओंको भी क्रोध करना उचित बताया गया है। जैसा कि महाभारतके वनपर्व २८। ६। ८ में लिखा है—

'न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।...तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता'। अर्थात न तो सदा क्रोध ही कल्याणकारी होता है और न सदा क्षमा करना ही श्रेयस्कर है। इस हेतु सदा क्षमा करनेका भी पंडित लोग निषेध करते हैं।

यद्यपि आगे चलकर गोस्वामीजी लिखते हैं कि 'सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन।०' इत्यादि, तथापि उनका यहाँका कथनभी यथार्थ है। बहुत अवज्ञा करने पर ज्ञानीके हृदयमें क्रोध आ जाता है, इसकी पुष्टिभी वे 'अति संघर्षन०' से करते हैं। जबतक जीवका सम्बन्ध मायासे है अथवा यों कहिये कि ज्ञान संपादनकर ममता, मोह आदिको लोग अपने वशमें कर लेते हैं, तथापि देहका संबंध जबतक जीवके साथ रहता है तबतक सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण कुछकुछ अंशमें बने ही रहते हैं। इस प्रकारकी असावधानीसे ये गुण विशेषकर तमोगुण (जिसके कारण मनुष्यके हृदयमें क्रोध उत्पन्न होता है) अवसर पाकर प्रबल हो उठता है जैसा कि इसी कांडमें लिखा है—'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय०'।

* ज्ञानिहु—रा० गु० द्वि०, का०। † चंदनहु—का०।

दोहा—बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ज्ञान।
मैं अपने मन बैठ तब करौं बिबिधि अनुमान ॥
क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु† द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ॥१११॥

अर्थ—मुनि बारंबार क्रोधसहित (क्रोधावेशमें) ज्ञानका निरूपण करते थे। तब मैं बैठे-बैठे अपने मनमें अनेक प्रकारके अनुमान करता कि—विना द्वैतबुद्धिके क्या क्रोध हो सकता है ? द्वैत क्या विना अज्ञानके हो सकता है ? (इसी तरह) क्या मायाके वश परिच्छिन्न, जड़ जीव ईश्वरके समान हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं। १११।

नोट—१ क्रोध मुनिको हुआ; अतएव 'क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु' इसी प्रसंगसे अपर विचार मनमें आये जो वे आगे कहते हैं—(खर्रा)। २—'द्वैतबुद्धि बिनु'=अपनेसे पृथक् दूसरेको माने विना। भाव कि जब प्राणी यह मानेगा कि मैं एक व्यक्ति हूँ और यह या वह मुझसे भिन्न दूसरा व्यक्ति है तभी उसे दूसरेपर क्रोध आ सकेगा, अन्यथा नहीं। मुनि सबको ब्रह्म बतलाते हैं, एकसे दूसरा नहीं बताते। इसीपर यह विचार करते हैं कि जब दूसरा है ही नहीं तब मुनि क्रोध क्यों और किसपर करते हैं, अतः यह निश्चय है कि जीव ब्रह्म नहीं है, वह तो माया-आवरणसे ढका हुआ है, कथनमात्रसे वह क्या ईश्वरके समान हो सकता है ? कदापि नहीं।

'द्वैत कि बिनु अज्ञान' इति। ज्ञानका लक्षण यह है कि 'देख ब्रह्म समान सब माहीं'। सबमें परमात्माको देखनेसे द्वैतभाव नहीं रह जाता। ज्ञानरहित होनेपर, अविद्यामायाके वश होनेसे ही द्वैतबुद्धि आयेगी। ज्ञान रहते द्वैतबुद्धिका अभाव रहेगा, वह ज्ञानीभक्त अपनेही प्रभुको सबमें देखेगा, सबमें प्रभु हैं, मैं सबका सेवक हूँ तब क्रोध कैसा ? यथा—'निजप्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'।

पं० श्रीकान्तशरणजी—अज्ञानसे द्वैत होता है और द्वैतसे क्रोध। ज्ञानके विरुद्ध वृत्तिको अज्ञान कहते हैं। सबमें परमात्माको समान देखनेसे द्वैत भाव नहीं रहता। सब जीव भगवान्के शरीर हैं। अतः जीवोंके द्वारा सुखदुःखकी प्राप्ति उन-उन कर्मानुसार भगवान्की प्रेरणासे होती है। प्रभु सर्वज्ञ एवं न्यायशील हैं; अतः सब ठीक ही करते हैं। ऐसा विचार रहनेसे किसीसेभी शत्रु-मित्र आदि भाव नहीं होते। क्योंकि फिर कोई जीव प्रीति-वैरका कर्ता नहीं रह जाता।

द्वैत तो नानात्व दृष्टिसे होता है, यथा 'जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परौं नहि अस कछु जतन बिचारी। वि. ११३।' अर्थात् जननी आदि इन सब रूपोंके द्वारा सब प्रकारसे हित करनेवाले आप ही हैं; ये सब आपके शरीर हैं। इस ऐक्यदृष्टिके विरुद्ध द्वैतरूप अर्थात् उन्हें पृथक् पृथक् सत्तावान माननेपर उन-उनके ऋणी होनेसे तमकूप (अज्ञानमय भवकूप) में पड़ूँगा, इस द्वैतरूप अज्ञानसे रक्षाका यत्न विचारिये—यह प्रार्थना है।

तात्पर्य यह कि नानात्व दृष्टि ही अज्ञान है, उसीसे द्वैत होता है और द्वैतसे क्रोध; यथा 'जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृत दुख संसय सोक अपारा। सत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हें बरिआई। त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाईं। वि. १२४।'

प. प. प्र.—'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु' इति। (क) यहाँसे वह विप्र अनेक अनुमान करता है। पर इसका भाव यह नहीं है कि ये सभी अनुमान सिद्धान्त हैं। इनमेंसे कई अनुमान सत्य (संवादी भ्रम) हैं और कुछ असत्य (विसंवादी भ्रम) हैं। अद्वैत बुद्धि स्थिर होने पर भी कभी-कभी प्रारब्ध-कर्म संयोग-

† 'द्वैतबुद्धि बिनु क्रोध किमि' (का०)। भाव कि कहते भर हैं, उसपर आरूढ़ नहीं।

वश, कभी ईशप्रेरणावश क्रोधादि विकारोंकी क्रिया होती है। नारदजीने प्रत्यक्ष भगवान्को ही शाप दिया है। वृत्रासुर ब्रह्मनिष्ठ था पर उसने तो अनुचित अत्याचार भी किये हैं। सहस्रार्जुन भी भगवान् दत्तात्रेयके शिष्य थे, ब्रह्मनिष्ठ थे पर उन्होंने भी जमदग्नि ऋषिपर अत्याचार किया। अतः 'क्रोध कि द्वैत बिनु' यह निरपवाद सिद्धान्त नहीं है। नारदजी विशिष्टाद्वैती मानो या अद्वैती, उन्होंने नलकूबर मणिग्रीवोंको शाप दिया है। रघुपतिको लंका और पंचवटीमें क्रोध हुआ है।—सारांश यह है कि संत या ज्ञानीकी पहचान बाह्य लक्षणोंसे करनेमें धोखा रहता है। लोमश, नारद, अगस्त्य आदि महापुरुष कारण पुरुष होते हैं, ईश्वरी प्रेरणारूपी माया उनको निमित्त करके अघटित घटना कराती है।

रा. बा. दा.—भुशुंडीजी तर्क करते हैं कि लोमश ऐसे विज्ञानी चिरंजीवी को क्रोध आ गया इससे सिद्ध है कि जीवमें अज्ञानकारण सूक्ष्म बना रहता है, काल पाकर जागृत हो जाता है। इसीसे जीव मायावश दीन हो रहा है, तब वह ईश कैसे हो सकता है।...यदि कोई कहे कि उन्होंने शिक्षा-भागमें क्रोध किया है तो यह भी नहीं बनता क्योंकि अज्ञानी शिष्य पर ही शिक्षा संभवित है और जो मतवादी है उसपर शिक्षा भाव कैसा?

नोट—'माया बस परिछिन्न जड़०' इति। ईश्वर स्वतंत्र है, जीव मायावश परतंत्र होकर जड़ हो रहा है। परतंत्र स्वतंत्रके समान कैसे हो सकता है? यहाँ विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादन किया है। अर्थात् ईश्वर, जीव और माया तीनोंकी स्थिति पृथक् पृथक् दिखाई है। 'परिच्छिन्न'=सीमायुक्त, परिमित।=पृथक् किया हुआ—(श० सा०)। इस तरह भाव हुआ कि वह ईश्वरसे अलग है। इस प्रकार भाव यह है कि जीव मायावश होनेसे अहंकारी हो गया, कर्माभिमानी होनेसे भगवान्से विमुख हो गया, देह गेहको अपना मानने लगा, यहाँ तक मायासे गाँठ जोड़ ली कि स्वयं अपने को देह मानने लगा, देहाभिमानी हो गया। यथा 'जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो॥ माया बस स्वरूप बिसरायो।...तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्ही। अपनेहि करनि गाँठि हठि दीन्ही॥ ताही तें परबस पर्‍यो अभागे। वि. १३६।' यही सब भाव 'माया बस परिछिन्न' में है। देहाभिमानी होनेसे, अपनेको देह माननेसे 'जड़' कहा गया, क्योंकि देह जड़ वस्तु है, पंचभूतोंसे रचित है। 'जीव कि ईस समान'—१। ६९ में देखिए, वहाँ विस्तारसे लिखा गया है। जीव परतन्त्र है, मायाके वश हो जानेवाला है, उसके वश होनेसे वह देहाभिमानी कर्माभिमानी है। यथा 'मायाबस्य जीव सचराचर।' 'मायाबस्य जीव अभिमानी' (७८। ४, ६)। और ईश्वर स्वतन्त्र है, माया उसके वशमें है, वह प्रभुसे सदा डरती रहती है, उनके इशारेपर नाचनेवाली है, यथा 'परबस जीव स्वबस भगवंता। ७८। ७।', 'ईस बस्य माया गुनखानी। ७८। ६।', 'बंध मोच्छ प्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव। ३। १५।', 'देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी। १। २०२।', 'सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा। ७२। २।' ईश्वर उसके वशमें नहीं हैं, वे तो उससे परे हैं। यथा 'प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ७२। ७।', 'माया मोह पार परमीसा। ५८। ७।', 'माया खलु नर्तकी बिचारी। ११६। ४।' जीव बंधनमें पड़ता है, ईश्वर उसे छुड़ा देता है। यथा 'बंध मोच्छ-प्रद। ३। १५।', इत्यादि। अतः जीव ईश्वरके समान कैसे हो सकता है। [रा० प्र०—'परिछिन्न०' अर्थात् मायाके वश उसीके घेरेमें पड़ा चारों ओरसे भली प्रकार छिपा है और उसी प्रकार जड़ सा हो गया है।]

☞ इस प्रसंगभरमें 'प्रत्यक्षप्रमाण' 'वक्रोक्ति' और 'प्रथमविनोक्ति' अलंकारोंकी संसृष्टि है।

कबहुँ कि दुख सबकर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके॥ १॥
परद्रोही कि होहिं निःसंका*। कामी पुनि कि रहहिं अकलंका॥ २॥
बंस कि रह द्विज-अनहित कीन्हे। कर्म कि होहिं स्वरूपहि† चीन्हे॥ ३॥

* परद्रोही की होहि निसंका—भा० दा०, रा० गु० द्वि०। 'परद्रोही कि होहि निःसंका'—(का०, ना० ग०)। † रूप बिनु चीन्हे—(का०)।

अर्थ—सबका भला चाहनेसे क्या कभी दुःख हो सकता है? जिसके पास पारसमणि है क्या उसे दारिद्र्य (कंगालपन) सता सकता है?।१। क्या परद्रोही निश्शंक हो सकता है? और क्या कामी कलंकरहित रह सकते हैं?।२। क्या ब्राह्मणका अनभल करनेसे वंश रह सकता है? (अर्थात् नहीं रह जाता, उसका नाश अवश्य होता है)। क्या अपना स्वरूप पहिचान लेनेपर कर्म हो सकते हैं?। ३।

नोट—१ (क) 'कबहुँ कि दुख सबकर हित ताके' इति। परहित करना धर्म है, यथा—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। ४१। १।' धर्मसे सुख होगा—दोहा १० देखिए। (ख) 'तेहि कि दरिद्र०', यथा—'डरहु दरिद्रहि पारस पाये'—अ० २१० (२) देखिए। (ग) 'परद्रोही कि होहिं निःसंका'। दूसरेसे जो वैर करता है उसे स्वयंभी शत्रुसे भय रहता है कि वह मेरा कुछ अहित न करे।—'ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहु मन बिश्राम। भूतद्रोहरत०'। ६। ७७।' (घ)'बंस कि रह०', यथा—'दहइ कोटि कुल भूसुर रोसू। १२६। ४।', 'जिमि द्विजद्रोह किये कुल नासा। ४। १७। ८।' क्योंकि एक तो वे अपने तेजसे बलवान् हैं, दूसरे भगवान् उनका अपमान सह नहीं सकते। उनके लिए तो अवतार लेते हैं—'बिप्र-धेनु-सुरसंतहित लीन्ह मनुज अवतार'। तब भला विप्रद्रोही उन्हें कब भावेगा। यथा 'मोहि न सोहाइ बिप्रकुल द्रोही। ३। ३३। ८।'

नोट—२ आशय यह है कि आत्मस्वरूप जान लेनेपर वह सदा आत्मामें ही रमण करता हुआ उसीमें तृप्त और उसीमें सन्तुष्ट रहता है। आत्माके अतिरिक्त उसे ज्ञानयोग या कर्मयोगरूप साधनोंकी अपेक्षा नहीं रहती। उसके धारण-पोषण और भोग आदि सब कुछ आत्मा ही है। उसके लिये अब कुछ भी कर्तव्य नहीं है। रह गई यह बात कि कोई मनुष्य बिना कर्मके रह ही नहीं सकता, तो उसके संबंधमें यह जान लेना चाहिए कि उसके द्वारा जो भी कर्म देखनेमें आते हैं वे सब कामना और संकल्पसे रहित होनेसे वे भुने हुए बीजके समान शुभाशुभ फलदाता नहीं हो सकते, यही बात भगवान्ने गीतामें कही है—'यस्य सर्वेसमारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं...। ४। १९।'

वे कर्म उसके द्वारा बिना ही किसी अपने प्रयोजनके (यदि वह प्रवृत्तिमार्गवाला है तो लोकसंग्रहके लिये और निवृत्तिमार्गवाला है तो जीवन-यात्रा-निर्वाहके लिये) केवल चेष्टामात्र ही क्रिया होती है। (श्री-शाङ्करभाष्य)। उसके कर्म प्रकृतिसे पृथक् आत्मस्वरूपके अनुसन्धानपूर्वक किये जानेके कारण वे कर्म संकल्प से रहित होते हैं। (प्रकृति और प्रकृतिके गुणोंके साथ आत्माकी एकता करके समझनेका नाम 'संकल्प' है। (श्रीरामानुजाभाष्य) ऐसा पुरुष कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता क्योंकि वह नित्यस्वरूपमें ही तृप्त है; वह कर्मके नामपर ज्ञानका ही अभ्यास करता है। यथा 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः। गीता ४। २०।'—इस श्लोकसे 'कर्म कि होहिं' का भाव और भी स्पष्ट हो जाता है। श्लोक २१-२३ भी इसीसे सम्बद्ध हैं, पाठक देख लें।

प. प. प्र.—स्वरूपानुभूति होनेपर कर्म हो ही नहीं सकता, यह भाव लेनेसे यहाँ विसंवादी भ्रम है, असत्य है। कारण कि 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' यह सिद्धान्त है। सत्य सिद्धान्त है—'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते। गीता।'

अन्य सब अनुमान सत्य हैं।

गौड़जी—'कर्म कि होहिं०'।—कर्म करनेवाली इन्द्रियाँ हैं और अहंकार (जो भीतरी इन्द्रिय है) समस्त कर्मोंकी जिम्मेदारी लेता है। मोहवश जीवात्मा अपनेको अहंकार मानकर सब कर्मोंका करनेवाला समझता है।—'अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते' (गीता)। अहंकारसे विमोहित आत्मा अपनेको कर्ता मानता है। जब स्वरूपज्ञान हो जाता है जिसे आत्मज्ञान भी कहते हैं तो उसे यह पता चल जाता है कि आत्मा कुछ करता धरता नहीं है। यहीं कर्मका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मानुभवके बाद फिर कर्म नहीं होता।

करु०—अपने स्वरूपको चीन्हनेपर वह शुभाशुभ कर्म नहीं कर सकता किन्तु 'स्वस्वरूप चीन्ह लेनेसे

शुभाशुभकर्म किंचित् कालके वशसे होते रहते हैं पर उस पुरुषको परिणाममें दोनों काम नहीं लगते जैसे भूना हुआ अन्न।—'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुर्पण्डितं बुधाः।'

☞ 'कामी पुनि कि रहहिं अकलंका'।—यहाँ कहा कि कामी कलंकी होता है और आगे कहते हैं कि 'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई'। इससे जनाया कि कामी होना पाप है। यही बात पूर्व भी कही है, यथा—'परद्रोही परदाररत परधन परअपबाद। ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद'।

वै०—१ 'कबहुँ कि दुख०'। भाव कि ईश्वर सबका हितकर्त्ता और अखंड ज्ञान तथा सदा आनंदरूप है, यदि जीव वही है तो इसको दुःख हो नहीं सकता; पर जीवोंको शुभाशुभकर्मोंका भोग दुःख नित्य देख पड़ता है। अतः जीव ईश्वर कैसे हो सकता है? जैसे पारसमणि जिसके पास है वह दरिद्र नहीं हो सकता। २-'परद्रोही कि होहि०'। भाव कि ईश्वर स्वतंत्र है, निर्विकार है, जीव क्रोधवश सबका द्रोही है, अतः सविकार होनेसे सदा शंकित रहता है। इसी तरह कामविकारवश कलंकित रहता है। तब वह ईश्वर कैसे हो सकता है? ३—'बंस कि रह०' इति। जीव लोभ और अभिमानवश होकर ब्राह्मणकी हितहानि करता है इससे नाश होता है। भाव कि यद्यपि जीव ईश्वरांश है तथापि आत्मरूप भूल गया, मायावश जीवत्व धारण कर देहाभिमानी हुआ और पाप पुण्य करके दुःख-सुख भोगता है; यदि वह आत्मरूपको पहिचाने तो पापपुण्य कैसे कर सके? क्योंकि स्वरूप चीन्हने पर कर्म होते नहीं; तब जो जीव कर्म करता है वह ईश्वर के समान कैसे हो सकता है?

खर्रा—'कर्म कि होहिं०'। भाव कि जैसा ऋषिने ज्ञानका स्वरूप कहा है वैसा स्वरूप जान लेने पर फिर क्या कर्मसाधन वेष-तपस्यादि रहता? अर्थात् यह कथनमात्र ही उनका जान पड़ता है, तादृशविश्वास नहीं है।

काहू सुमति कि खल संग जामी। सुभ गति पाव कि परत्रियगामी॥ ४॥
भव कि परहिं परमात्मा* बिंदक। सुखी कि होहिं कबहुँ हरिनिंदक†॥ ५॥
राजु कि रहै नीति बिनु जाने। अघ कि रहहिं हरिचरित बखाने॥ ६॥
पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावै कोई॥ ७॥

अर्थ—क्या दुष्टके संगसे किसीमें सुन्दर बुद्धि उत्पन्न हुई है? क्या परस्त्रीगामी शुभ (उत्तम) गति पा सकता है?।४। क्या परमात्माको जाननेवाले एवं प्राप्त भवमें पड़ते हैं? क्या भगवान्‌की निन्दा करनेवाले कभी सुखी होते हैं?।५। क्या विना नीति जाने राज्य रह सकता है? क्या भगवान्‌के चरित गाने से पाप रह सकते हैं?।६। क्या विना पुण्यके पवित्र यश होता है? क्या विना पापके कोई अपयश पाता है?।७।

नोट—१ 'काहू सुमति कि खलसंग जामी', यथा—'बिनसै उपजै ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग। कि० १५।', 'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई। २। २४। ८।' (ख) 'सुभगति पाव कि परत्रियगामी' यहाँ कहा और पूर्व कहा था कि 'कामी पुनि कि होहिं अकलंका।' कामी और परत्रियगामी एक ही हैं। इसमें पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि दो स्थान पर दो पृथक् पृथक् बातें कह रहे हैं। पहलेसे कामीका इहलोक बिगड़ना और दूसरेसे परलोक नष्ट होना कहा। कलंक इस लोकमें और अशुभगति परलोकमें। इस तरह लोक परलोक दोनोंका नष्ट होना कामसे दिखाया।

२ (क) 'भव कि परहिं०' अर्थात् नहीं पड़ते, वे तो प्रभुके ही हो जाते हैं—'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'। हरिनिन्दक सुखी नहीं होते क्योंकि 'हरिगुरनिंदक दादुर होई। जनम सहस्र पाव तन सोई।

* 'परमातमबिंदक' † 'परनिंदक'—(का०)।

१२१ । २३ ।' और 'जनमत मरत दुसह दुख होई ।' (ख) 'बिंदक' शब्द मानसमें दो बार आया है और इसी प्रसंगमें । एक तो दोहा १०५ (४) में 'परम साधु परमारथ बिंदक', दूसरे यहाँ । विन्दक = प्राप्त करनेवाला, जाननेवाला, ज्ञाता । यह संस्कृत भाषाका शब्द है ।—'क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं...। २ । ४ । १७ ।' यहाँ देखनेकी बात यह भी है कि दोनों जगह दूसरे चरणमें 'हरिनिंदक' शब्द भी है ।

३—नीति-विना राज्य नहीं रहता—'राज नीति बिनु०'—आ० २१ (८) देखिए । हरिचरित तो पापनाशक है,—'समन पाप संताप सोक के । १ । ३२ । ५ ।', तब उसके कहनेपर पाप कब रह सकता है ?

४—'पावन जस कि पुन्य बिनु होई' । भाव कि यश अपावन भी होता है । कुकर्मसे, या पापसे जो यश कमाया जाय वह पावन नहीं है जैसे रावणादिका यश । इसी भावसे लक्ष्मणजीका व्यंग परशुराम प्रति इस प्रकार है—'लषन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा । तुम्हहि अछत को बरनइ पारा ।' गर्भके बालकोंको मारना पावन यश नहीं है । अतः कहा कि 'पावन यश' पुण्यकर्मसे ही होता है ।

नोट—५ ☞ 'कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके' इत्यादिका भाव कि—जीवमें ये सब गुण अवगुण देखनेमें आते हैं, खलसंगसे दुर्बुद्धि, परतियगामी होनेसे नरकगामी, परमात्मचिंतनसे भवपार, हरिनिंदा करनेसे दुःखी, अनीतिवान् होकर राज्यभ्रष्ट, हरिगुणगान करके निष्पाप, पुण्य करके यश और पाप करके अपयशका भागी होता दिखाई देता है । ईश्वरमें ये कोई बातें नहीं हैं । तब जीव ईश्वर समान कैसे ? जैसे ये सब सिद्धान्त अटल हैं, अबाधित हैं, वैसे ही 'जीव कि ईस समान' यह सिद्धान्त भी निर्वाद और अटल जानना चाहिए ।

लाभु कि किछु हरिभगति समाना । जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना ॥ ८ ॥
हानि कि जग एहि सम किछु भाई । भजिय न रामहि नर तनु पाई ॥ ९ ॥

अर्थ—क्या हरिभक्तिके समान कोई दूसरा लाभ है कि जिसे श्रुति, संत और पुराण गाते हैं ? ।८। भाई ! क्या संसारमें इसके समान कोई हानि है कि मनुष्यशरीर पाकर श्रीरामचन्द्रजीका भजन न करें ? । ९ ।

नोट—१ हरिभक्तिके समान कोई लाभ नहीं है, यथा—'लाभ कि रघुपतिभगति अकुंठा ।६।२६।८।' इससे यह पाया गया कि यह सर्वोपरि लाभ है सही पर इसके न करनेसे कोई हानि नहीं है, चाहे हम करें या न करें । उसपर कहते हैं कि 'हानि कि जग०' । अर्थात् ऐसा न समझो । मनुष्यतन पाकर यदि रामभजन न किया तो इसके समान लोकपरलोकमें कोई हानि नहीं है । भक्ति सर्वोपरि लाभ है और भक्तिरहित होना सर्वोपरि हानि है । २—'लाभ कि किछु' और 'हानि कि जग' कहनेका भाव कि सुत, वित, नारि, परिवार, संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रताप, तेज, ज्ञान, योग, जप, तप, दान, स्वर्ग, अपवर्ग इत्यादि सबकी प्राप्तिभी इसके सामने कुछ भी लाभ नहीं है, और न इन सबका नाश भी 'भक्तिहीनता' के समान हानि नहीं है । इससे जनाया कि विना भक्तिके समस्त सांसारिक लाभ भी व्यर्थ ही हैं । ४३ (७) से दोहा ४४ तक जो भाव कहे गए हैं वे सब इन अर्धालियोंमें है । ८४ (४-५) भी देखिए ।

अघ कि पिसुनता † सम कछु आना । धर्म कि दया सरिस हरिजाना ।।१०।।
एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ । मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ ।।११।।

अर्थ—चुगलखोरीके समान क्या कोई और पाप है । हे हरिवाहन्‌जी ! क्या दयाके समान कोई धर्म है ? ।१०। इस प्रकार मैं (जीव और ईश्वरके भेदकी पुष्टताके प्रमाण योग्य) अगणित युक्तियाँ मनमें विचार करता रहा और मुनिका उपदेश आदरसे न सुनता था । (अर्थात् वे बकते जाते थे, मैं उनके वचनपर कान न देता था न उनके सन्मुख दृष्टि ही रखता था) । ११ ।

† पिसुन तामस—(ना० प्र०), 'बिना तामस'—(का०) ।

पं०—'पिसुनता' पद चुगलीका वाचक और निन्दाका उपलक्षक है।‡ २—यहि बिधि अमिति०' इति। यहाँ तक अष्टादशयुक्तियोंसे सिद्ध किया कि जैसे सबोंमें विना कारणके कार्य नहीं होता वैसे ही द्वैत-विना क्रोध नहीं होता, इत्यादि, इसी प्रकारकी युक्तियाँ विचारता रहा।

नोट—☞'मैं अपने मन बैठ तब करउँ बिबिध अनुमान' उपक्रम और 'एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ' उपसंहार है। २० चरणोंमें ये युक्तियाँ वा अनुमान हैं। 'एहि बिधि' और 'अमित' पद देकर जनाया कि सब अनुमान वा युक्तियाँ इसी प्रकारकी थीं पर इतनी ही न थीं, न जाने कितनी युक्तियाँ, उस समय मनमें आईं, उनकी गिनती नहीं कर सकता, केवल यही बता सकता हूँ कि इसी प्रकारकी थीं। चौपाइयोंमें १८ युक्तियाँ हैं। दोहेमें जो कहा कि 'जीव कि ईस समान' उसीकी पुष्टि इन युक्तियोंसे करते हैं। इसीसे दोहेमेंकी गणना नहीं की। १८ युक्तियाँ देकर जनाया कि अठारहो पुराणोंका सार-सिद्धान्त यही है।

पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा॥ १२॥
मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि। उत्तर प्रति-उत्तर बहु आनसि॥ १३॥
सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सबही ते डरही॥ १४॥

अर्थ—मैंने बारंबार सगुणोपासनाका ही पक्ष स्थापित किया। तब मुनि कुपित होकर कोपयुक्त वचन बोले। १२। अरे मूढ़! मैं तुझे परम सिद्धान्त, सर्वोत्तम शिक्षा देता हूँ, तू उसे नहीं मानता और बहुत सा उत्तर प्रत्युत्तर देता है। १३। तू सत्य (सिद्धान्त) वचनपर विश्वास नहीं करता, कौवेकी तरह सभीसे डरता है। १४।

नोट—१ (क) पहले जब उत्तर प्रत्युत्तर किया तब क्रोधके चिह्नमात्र शरीरपर देख पड़े थे, अब 'पुनि पुनि' सगुण पक्ष ही सिद्ध करनेपर वे कोपयुक्त हो गये, इससे जनाया कि पहिले कुछ उत्तर देते जाते थे यद्यपि पूर्ण रीतिसे उत्तर न बन पड़ता था और अब अपने पक्षमें परास्त हो गए, कोई उत्तर नहीं दे सके, तब उसके बदले क्रोध किया। क्रोधका बल परुष वचन है, अतः 'बोलेउ बचन सकोपा' से कठोर वचन बोलना जनाया। (ख) यहाँ उत्तरोत्तर क्रोधकी वृद्धि दिखाई है, यथा—'मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा', फिर 'बारंबार सकोप मुनि करहि निरूपन ज्ञान' और अब कठोर वचन कह डाला जो क्रोधका पूर्ण बल है—'बोलेउ बचन सकोपा'। (ग) यहाँ मुनिके मन वचन और तन तीनोंसे क्रोध दिखाया। 'उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये' यह मन, 'बोलेउ बचन सकोप' यह वचन और 'मुनि तन भये क्रोधके चीन्हा' यह तन।

नोट—२ (क) 'परम सिख' अर्थात् निर्गुणमत अद्वैतज्ञान परमोत्तम शिक्षा है। इससे परम हित है। आगे इसीको 'सत्य वचन' कहा है। भाव कि निर्गुण-मत ही सत्य है, सगुण सत्य नहीं है; अतः यही परम शिक्षा है। (ख) 'न मानसि' अर्थात् परम शिक्षाका अनादर करता है, उसे तुच्छ समझता है, उसको अनहित मानता है। (ग) 'आनसि' का भाव कि बाहरसे प्रमाण लालाकर उत्तर दिए हैं, केवल युक्तिहीसे उत्तर नहीं दिए।

वि. त्रि.—'मूढ़ परम..........आनसि' इति। भुशुण्डिजीने बहुत हठ करके सगुण निरूपण किया और उनके साथ अत्यन्त वादविवाद किया, इसलिये मूढ़ कहते हैं। ब्रह्मोपदेशही परमोपदेश है; उसे मुनिजी दे रहे थे, उसे अवनत मस्तक हो शिरोधार्य्य करना तो दूर गया, उलटा उनके सिद्धान्तकाही खण्डन करने लगे, उत्तर-प्रत्युत्तर वादी-प्रतिवादीमें होता है गुरु शिष्यमें नहीं। 'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई।' अतः मुनिजीको क्रोध हुआ।

‡ 'परनिंदा सम अघ न गिरीसा' आगे कहा है और यहाँ 'अघ कि पिसुनता सम कछु आना' कहा है। चुगलीभी परनिंदा ही है। इस तरह दोनों वाक्योंमें कोई विरोध नहीं है।

नोट—३ बायस इव सबही ते डरही' इति। 'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती' यह कौवेका लक्षण है। वचनपर विश्वास नहीं करता, समझता है कि हमारी वस्तु छलसे ठग न लें। किसीने कहा है—'ईर्षी घृणीस्व संतुष्टः क्रोधनो 'नित्य शंकितः'। परभाग्योपजीवी च षडेते दुःख भागिनः।'

सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला॥ १५॥

लीन्ह स्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥ १६॥

अर्थ—अरे शठ! तेरे हृदयमें अपना बड़ा भारी पक्ष है। तू शीघ्र चाण्डाल पक्षी होजा। १५। मैंने शापको सिरपर चढ़ा (शिरोधार्य कर) लिया। उससे न तो मुझे कुछ भय हुआ और न दीनता ही आई। १६।

नोट—१ (क) 'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला' इति। 'विशाल' इससे कि बहुत हठ कर करके सगुणपक्ष ही सिद्ध करते रहे और मुनिकी बात न सुनते थे, उलटे उनका खण्डन करते थे, यथा—'तब मैं निर्गुनमत करि दूरी। सगुन निरूपौं करि हठ भूरी', 'उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा।', 'पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा', 'तब मुनिहौं निर्गुन उपदेसा' इत्यादि वाक्य विशालपक्षके सूचक हैं। (ख) हृदयमें 'पक्ष' भरा है, अतः (स्वपक्षके सम्बन्धसे) पक्षी होनेका शाप दिया। कोप बहुत है, यथा—'बारंबार सकोप मुनि करइ निरूपन ज्ञान'। उसपर भी उत्तर-प्रत्युत्तरसे वह बहुत प्रचंड हो गया है, यथा—'लषन उतर आहुति सरिस भृगुपति कोप कृसानु।' अतः घोर शाप दिया कि पक्षियोंमेंभी चाण्डाल पक्षी हो। पक्षियोंमें कौवा चाण्डाल पक्षी है, यथा—'काकः पक्षिषु चांडालः' इति चाणक्ये। पुनः, कौवेका शाप इससे दिया कि 'बायस इव सबही ते डरही', अतः वायसही होजा। ‡

२ 'लीन्ह सीस चढ़ाई' का भाव कि इष्टदेवका प्रसाद समझकर उसको आदर-पूर्वक स्वीकार कर लिया। देवताका पुष्पादि प्रसाद शिरोधार्य्य किया ही जाता है। प्रभुका प्रसाद समझा, यह आगेके वचनोंसे स्पष्ट है, यथा—'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन। कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी॥ लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी।' इत्यादि। प्रसाद जाना, अतः चाण्डाल पक्षी होनेका शाप सुनकरभी डर न लगा। यदि शाप समझते तो भय होता, यथा—'नृप सुनि श्राप बिकल अति त्रासा। बा० १७४। ४।' भय लगता तो शापसे व्याकुल होकर मुनिसे दीनता-पूर्वक विनती करते। यथा—'फिरेउ राउ मन सोच अपारा', 'त्रसित परेउ अवनी अकुलाई। बा० १७४। ७। ८।', 'अति सभीत नारद पहिं आये। गहि पद आरत बचन सुनाये। हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फलु पाया। श्राप अनुग्रह करहु कृपाला। १। १३६। २-४।' [शिवशाप सुनकर त्रास हुआ था, यथा—'कंपित मोहि बिलोकि अति', तब गुरुने दीनतापूर्वक शिवजीकी विनती की थी कि शापानुग्रह कीजिए। पर यहाँ भय दीनता कुछ न आई। त्रास न होना यह रामभक्तका सहज स्वभाव है, यथा—'बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा। ४६। ५।' भगवान्‌का वानरसेनाको यही उपदेश है कि 'सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू'—(लं० ११७); अतः शापका सिर चढ़ाना, भयका न होना और न दीनता प्राप्त होना क्रमसे कहे। 'न दीनता आई' अर्थात् मैंने शापानुग्रहकी विनती भी न की। श्रीशिवजीका बर है ही कि ज्ञान कभी न जायगा अतः कागदेहकी चिन्ता न हुई।

पं०—'भय न दीनता आई' यह समझकर कि सहस्रजन्म शिवशापसे लिये तहाँ एक और यह भी सही। वा, दुःख-सुख सब भगवत्‌की आज्ञासे जानकर भय क्या करते और किसके दीन होते। वा, जन्मके

‡ करु०—यहाँ मुनिके शापमें एक आशीर्वाद झलकता है। क्योंकि भुशुण्डीजीने जो सगुणब्रह्मका बारम्बार पक्ष किया वह मुनिने कागका पखना करके कहा कि इसी पक्षरूपी पखनासे उड़कर विहंगमार्गसे रामधामको प्राप्त होगा। परमपदकी प्राप्तिके दो मार्ग हैं, एक विहंगमार्ग दूसरा पिपीलिकामार्ग। तहाँ कर्मकांड अष्टाङ्गयोग और ज्ञानकाण्डका मोक्ष पिपीलिकामार्ग जानो और उपासना विहंगमार्ग है।—सारांश यह कि तू अपने मतका पक्षी सदा बना रहेगा।—(वै०)

बाद दृढ़ भक्तिकी प्राप्ति इस तनमें जानकर।

दोहा—तुरत भएउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।
सुमिरि राम रघुबंसमनि हरषित चलेउँ उड़ाइ॥
उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥११२॥

अर्थ—तब (मुनिके शाप देतेही) मैं तुरंत काग हो गया। फिर मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर और रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीका स्मरण कर मैं हर्षपूर्वक उड़ चला। हे उमा! जो श्रीरामचरणानुरक्त हैं, काम-मद-क्रोध रहित हैं, वे जगत्को अपने प्रभुमय देखते हैं तब वे वैर किससे करें? *। ११२।

नोट—१ (क) शाप था कि 'सपदि होहि' अतः उसकी पूर्त्ति दिखाई कि 'तुरत भयउँ'। शापवश वही शरीर काकशरीर हो गया, शरीर छोड़कर गर्भवास करके पक्षी न होना पड़ा। क्योंकि 'सपदि' यह वाक्य मिथ्या हो जाता। (ख) 'पुनि'=तत्पश्चात् एवं दुबारा। क्योंकि जब आये थे तब सिर नवाया था। अब जाते समय फिर सिर नवाया, यह विदाईका प्रणाम है। 'मुनिपद सिरु नाइ' उपसंहार है और 'देखि चरन सिरु नाएउँ। ११०।' उपक्रम है। (ग) 'राम रघुबंसमनि'। रामसे निर्गुणब्रह्म न समझ लिया जाय इससे साथ ही 'राम रघुबंसमनि' कहा अर्थात् शापसे भयभीत होकर उपासना बदल डाली ऐसा कोई न समझे। उपासना दृढ़ बनी रही। (घ) 'भय न दीनता आई' अतः 'हरषित चलेउँ उड़ाइ' उस वचनकी पुष्टि यहाँ हुई।

रा० शं०—१ 'मुनिपद सिरु नाई' क्योंकि शिवाज्ञा थी कि 'जानेसु संत अनंत समाना'। २—'सुमिरि राम', क्योंकि स्मरणसे अगमभी सुगम हो जाता है जैसा 'सुमिरु सनेह सों तू नाम रामराय को। संबर निसंबरको सहाय असहाय को' इस पदसे स्पष्ट है। ‡

नोट—२ हर्षित उड़कर चल दिये, इसका कारण दूसरे दोहेमें कहते हैं। 'हरषित चलेउँ उड़ाइ' तक भुशुण्डिवाक्य है, आगेका दोहा शिववाक्य है। 'निज प्रभुमय देखहिं जगत' यथा—'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना। २। १३१।' 'निज प्रभुमयके' दो भाव हैं—एक यह कि सबको रामरूपही देखते हैं, चाहे वह जड़ पदार्थ हो चाहे चेतन। उनको यही देख पड़ता है कि ये हमारे प्रभु ही हैं, उनको सर्वत्र प्रभुका रूप छोड़ और कुछ देख नहीं पड़ता। अतः भयकी जगह कोई है ही नहीं। भा० ११। २९ में भगवान्‌ने यही उद्धवजीसे कहा है कि सब मैं ही हूँ। दूसरे यह कि सब प्राणियोंमें हमारे ही प्रभु विराजमान हैं, वे ही सबके उरके प्रेरक हैं। यही बात आगे कहते हैं।

* १—प्रभुसे वैर हो नहीं सकता अतः संसारमें उसको किसीसे वैर नहीं होता। जिसे किसीसे वैरविरोध हो उसे समझ लेना चाहिये कि वह रामचरणानुरक्त अभी नहीं है। २—भगवान्‌के लिये शापभी सहे, जो कुछ आपत्ति आवे वहभी प्रसन्नता पूर्वक शिरोधार्य्य करे पर अपनी उपासना न छोड़े। ये उपदेश यहाँ मिलते हैं। ३—पां०—'उमा जे रामचरनरत०' यह कहकर ज्ञानपक्ष और उपासनापक्षकी गति दिखाते हैं कि उनको क्रोध हुआ और ये प्रसन्नचित्त हैं।

‡ पं०—१ मुनिसे श्रीरामयश और तत्व सुना था अतः प्रणाम किया। वा, यह प्रणामभी एक प्रकारसे तर्क है कि धन्य हैं आप अभेदवादी कि जिनको इतना कोप हुआ। २—रामस्मरण यह कि मेरी उपासना आपने दृढ़ बनाये रक्खी। हर्ष भगवत्की इच्छा समझकर कि—जैसे वे रक्खें वैसे रहना उचित है, वा, मनुष्य-देहसे पृथ्वीपर चलते थे अब आकाशमें उड़ सकेंगे। वा, 'विप्रतनमें अहंकार था', इसमें अहंकार न रहेगा। ३—उड़ चले कि क्रोधमें और शाप न दें।

नोट—३ ईशावास्योपनिषद्‌में इसी प्रकार यह श्रुति है—'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६।' अर्थात् जो आत्मामें समस्त भूतोंको स्थित देखता है और समस्त भूतोंमें आत्माको देखता है वह किसीसे घृणा नहीं करता।

भा० ११। २९। १२-१९ में विस्तारसे यही कहा है—

'मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्। ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खं समलाशयः। १२।
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते। सभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः। १३।
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके। अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः। १४।
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्। स्पर्द्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि।१५।
विसृज्य स्मयमानान्स्वान्दृशं व्रीडां च दैहिकीम्। प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्।१६।
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्तसंशयः। १८।
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम। मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः। १९।'

(अर्थात्) 'सब प्राणियोंमें और अपनेमें भीतरबाहर मुझको ही देखे। मैं आकाशवत् सर्वत्र आवरणरहित व्याप्त हूँ। इस प्रकार केवल ज्ञानका आश्रय लेकर जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है, ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर, विप्रभक्त, सूर्य, चिंगारी, अक्रूर तथा क्रूरमें समान दृष्टि रखता है वही पंडित है। बहुत समय तक सबमें मेरी ही भावना करनेसे स्पर्द्धा, असूया, तिरस्कार, अहङ्करादि दोष मिट जाते हैं। अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको, अपनेमें देहबुद्धिको तथा लज्जा छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी साष्टांग दण्डवत् करे। (१२-१६)। इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि करनेसे सब कुछ ब्रह्ममय देख पड़ता है।१८। मन, वचन, तनकी समस्त वृत्तियोंसे सबमें मेरी ही भावना करे।'

गीतामें भी कहा है कि यह सब सूत्रमें मणियोंके समान मुझमें पिरोया हुआ है—'मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव। ७। ७।' भाव यह कि ये कार्यावस्था और कारणावस्थामें स्थित मेरे शरीररूप समस्त जड़चेतन वस्तुमात्र उनमें आत्मरूपसे स्थित मुझ परमेश्वरमें सूत्रमें पिरोये हुए मणियोंकी भाँति पिरोये हुए हैं, अर्थात् मेरे आश्रित हैं। 'यस्य पृथिवी शरीरम्। बृ० उ० ३। ७। ३।', 'यस्यात्मा शरीरम्। शा० ब्रा० १४। ५। ६। ५। ३०।', 'एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा, दिव्यो देव एको नारायणः। सु० उ० ७।' इत्यादि श्रुतियोंसे जगत्‌का शरीररूपमें और ब्रह्मका आत्मरूपमें स्थित होना प्रसिद्ध है। परमपुरुषका शरीर होनेके नाते सब कुछ उनके आत्मरूप परमपुरुषका ही स्वरूप है; अतएव सब रूपोंमें परम पुरुष ही स्थित है। इसलिये समस्त शब्दोंसे उसीका वर्णन है। (श्रीरामानुजभाष्यसे)।

'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। १। ७।', 'सातवँ सम मोहि मय जग देखा। ३। ३६। ३।', 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। ४। ३।', और इसी काण्डमें पूर्व बहुत लिखा जा चुका है। 'वासुदेवः सर्वमिति' भी इसी भावसे कहा गया है।

नोट—४ इसी प्रकार जब रुद्राणीने चित्रकेतुजीको शाप दिया था कि 'तू भगवान् विष्णुके साधुजन-सेवित चरणकमलोंके समीप रहने योग्य नहीं है। अतः तू अधम आसुरी योनिको प्राप्त हो। ऐसा होनेसे तू फिर महापुरुषोंका अपराध न करेगा। (भा० ६। १७। १५)।', तब उन्होंने उस शापको सादर स्वीकार कर लिया और शापानुग्रहके लिए विनती न की, किंतु स्तुति करके अंतमें यही कहा कि—मैं शाप-मोचनके लिए आपको नहीं प्रसन्न करता, किंतु हे सती! आप जिन मेरे वाक्योंको बुरा मानती हैं उनको क्षमा करें। यह सब भाव 'लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई' और 'पुनि मुनिपद सिरु नाइ' में कविने कह दिए हैं।

जैसे यहाँ 'लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई' कहा है वैसे ही चित्रकेतुने 'प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्ज-लिनाम्बिके। भा० ६। १७। १७।' कहा है। अर्थात् मैं आपका शाप अपनी अञ्जलीमें ग्रहण करता हूँ। साथही यह कहा है कि देवगण मनुष्योंके लिये जो कुछ कहते हैं वह उनके पूर्वकर्मकाही फल होता है। जीव

कर्मानुसार सुख दुःख भोगता है, विवेकहीन ही अपने अथवा दूसरेको कर्ता मानते हैं। मानसके 'पद सिरु नाई' और 'हरषित चलेउँ' में ये भाव भी ग्रहण किये जा सकते हैं यद्यपि शिवजीने समाधान दूसरी प्रकार 'निज प्रभुमय...' इस तरह किया है।

जैसे चित्रकेतुके इस आचरणसे शिव, रुद्राणी, देवता, ऋषि, इत्यादिको विस्मय हुआ वैसेही भुशुण्डिजीके इस आचरणसे पार्वतीजीको विस्मय हुआ, यह शिवजीके आगेके समाधानसे स्पष्ट है—'उमा जे रामचरन रत...'। यहाँ शिवजीने सबका समाधान करते हुए कहा है कि—'तुमने अद्भुतकर्मवाले भगवान् हरिके दासानुदास निस्पृह महात्माओंका माहात्म्य देखा! भगवत्-परायण व्यक्तिगण किसीसे नहीं डरते एवं स्वर्ग, नरक और मुक्तिमें समान दृष्टि रखते हैं। परमेश्वरकी लीलासेही देहधारियोंको देहकी प्राप्ति एवं उसके लिए ही सुख, दुःख, जन्म, मरण, और शाप, अनुग्रह हुआ करते हैं...यह महाभाग चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर एवं शान्त और सर्वत्र समदर्शी है। अतएव ऐसे पुरुषोंके कार्योंमें विस्मय न करना चाहिए।—(भा० ६।१७) और यहाँभी ऐसाही भाव 'उमा जे रामचरन रत...करहिं बिरोध' से प्रकट किया है। जैसे वहाँ चित्रकेतुकी असुर-योनिमें भक्ति वैसेही यहाँ भुशुण्डीजीको काकदेहमें भक्ति।

जैसे चित्रकेतुके सम्बंधमें कहा है 'नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः।' वैसेही यहाँ 'जे रामचरनरत' 'निज प्रभुमय देखहिं जगत' कहा है। जगत् शब्दमें स्वर्ग, नरक, अपवर्ग, सुख-दुःख, जन्म-मरण और शाप अनुग्रह तथा चर अचर सभी जीवोंका ग्रहण हो गया। दोनों जगह भवानीको ही संबोधित करके कहा है। आगे श्लोक ३४ में जो कहा कि 'तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोनुगः। सर्वत्र समदृक्छान्तोह्यहं चैवाच्युतप्रियः।' (यह महाभाग चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर एवं शान्त और सर्वत्र समदर्शी है,...) उसका 'सर्वत्र समदृक' मानसका 'निज प्रभुमय देखहिं जगत' है। 'शान्त' में 'बिगत काम मद क्रोध' और 'केहि सन करहिं बिरोध' आ गया।—इस तरह दोनों प्रसंगोंका मिलान हो जाता है।

भा० ४।७ में जो भगवान्ने कहा है कि 'यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरः पाण्यादिषु कचित्। पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः। ५३।' जिस प्रकार पुरुष अपने शिर और हाथ आदि अङ्गोंमें कभी 'ये अन्य हैं' ऐसी बुद्धि नहीं करता उसी प्रकार मेरा भक्त सभी प्राणियोंमें अन्य बुद्धि नहीं करता।—यह भाव भी 'प्रभुमय देखहिं जगत्' में आ जाता है।

सुनु खगेस नहि कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥ १॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी॥ २॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनो, (शाप देने में) लोमश ऋषिका कुछभी दोष नहीं, रघुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी ही सबके हृदयके प्रेरक हैं। १। दयासागरने मुनिकी बुद्धि भोली करके मेरे प्रेमकी परीक्षा ली। २।

नोट—१ 'सुनु खगेस'। (क) 'सुनु' पदसे नये प्रसंगका आरम्भ दिखाया। शापका प्रसंग हो गया। तदन्तर्गत 'काक देह' का कारण कहा गया। अब 'काक देहमें भक्ति कैसे हुई?' यह प्रसंग चला। पुनः, (ख) ऊपर दोहेमें 'उमा जे रामचरनरत०' यह शिवजीने स्वनिर्मित समाधान कहा अब भुशुंडिकृत समाधान यहाँ कह रहे हैं, यह जनानेके लिए 'सुनु खगेस' कहा। पुनः, (ग) भुशुंडि-गरुड़-संवादके बीचमें शिव-पार्वती-संवाद आ गया था, अतः 'सुनु' कहकर फिर भुशुण्डिवाक्य कहते हैं।

२ (क) 'उमा जे०' में शिवजीने बताया कि निरपराध शाप देनेपर भी भुशुण्डीजीने कुछ विरोध न किया इसका क्या कारण था। और 'ज्ञानी मुनि होकर लोमशजीने शाप कैसे दे दिया?' इसका समाधान स्वयं भुशुण्डीजी आगे करते हैं। (ख) 'नहि कछु रिषिदूषन०' इति। भाव कि सुख-दुःख, शाप-अनुग्रह इत्यादिके कर्त्ता जीव नहीं हैं, परमेश्वरही अपनी मायाके द्वारा इन सबकी सृष्टि करते हैं। मिलान कीजिए

चित्रकेतुके वचनोंसे।

'नैवात्मा न परश्चापि कर्त्ता स्यात्सुखदुःखयोः। कर्त्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च॥ १६॥ गुणप्रवाह एतस्मिन्कः शापः कोन्वनुग्रहः। कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा। २०। एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया। एषां बंधं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः। २१।' अर्थ—(हे माता सती!) आप या कोई दूसरा उस सुख दुःखका कर्त्ता नहीं है। अज्ञानी पुरुष ही अपनेको या अन्यको कर्त्ता मानते हैं। यह संसार गुणोंका प्रवाह है; इसमें शाप या अनुग्रह, स्वर्ग या नरक, सुख या दुःख क्या है? एक परमेश्वरही सुख दुःख बंधन मोक्षादिकी सृष्टि करता है। (भा० ६, १७)। शिवजीने भी ईश्वरलीलासे ही इनका प्राप्त होना कहा है। यथा 'देहिनां देहसंयोगाद्द्वन्द्वानीश्वरलीलया। सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च। श्लो० २६।'

वि० त्रि०—विचार करनेसे दूषणाधिक्य मुनिजीमें ही दिखाई पड़ता है। भुशुण्डिजीकी रुचि जब देख ली कि निर्गुण ब्रह्मकी ओर नहीं जाती तो उन्हें हठपूर्वक रुचि फेरनेका प्रयत्न करना अनुचित था। यथा—'अब तुम्ह बिनय मोरि मुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू।' भुशुंडिजी कहते हैं कि उसमें ऋषिजीका कुछ भी दोष नहीं था। उनके हृदयमें, मेरी परीक्षाके लिये, रामजीने ऐसी ही प्रेरणा कर दी।

वै०—'लीन्ही प्रेम परिच्छा' इति। 'मति भोरी' से जनाया कि मुनि अनन्य रामोपासक थे। प्रभुकी प्रेरणासे उन्होंने सगुणका खण्डन किया।

पं०—'प्रेम परीछा' कि निर्गुणतत्वज्ञान सुनकर मेरी भक्तिको त्याग करता है या नहीं। किंवा मेरी उपासना निमित्त कष्ट पानेपर मुझमें प्रेम रखता है या नहीं। 'कृपासिंधु' का भाव कि निर्गुण सगुणमें जो मेरी भेद-बुद्धि थी उसके मिटानेके लिए मुझे शाप दिलाया था।

रा० शं०—'नहिं कछु रिषि दूषन' इससे ऋषिको निर्दोष किया पर साथ ही 'उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन' से रघुनाथजीपर दोष आता है; अतः उसका निराकरण करनेके लिए 'कृपासिंधु०' कहा। भगवान् अपने भक्तोंका महत्व प्रकट करनेके लिए, भक्ति दृढ़ करनेके लिए, संसारको भवसे तारनेके लिए, परीक्षा लेते हैं।

रा० प्र०—'उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन' से जनाया कि 'मुनिने परवश ऐसा किया। परवशतामें दूषण नहीं। 'कृपासिंधु' क्योंकि परीक्षामें निर्वाह उन्हींकी कृपासे है।

प. प. प्र.—लोमश मुनिको जो क्रोध हुआ था वहाँ उनका नहीं है। यह शिवजीकी लीला है या श्रीरामजीकी। शिवजीने कहा था कि 'अब जनि करहि बिप्र अपमाना'। उन्होंने विप्रकी प्रार्थनासे उस शूद्र को मुनिदुर्लभ बर दिया है। यहाँ परीक्षा कर रहे हैं कि वह शूद्र (अब विप्र जिसको पूर्व जन्मकी स्मृति है) शिवाज्ञाका पालन कहाँतक करता है। 'मुनि पद सिरु नाइ हरषित चलेउ'—बस इससे परीक्षा हो गई। विप्र (अब काग) ने घोर दंड देनेपर भी अपमान नहीं किया, नमन ही किया। अतः अब पल्ला उलट गया।

नोट—३ इस प्रसंगमें दोहा ११० 'मेरु सिखर बट छाया...' से लेकर दोहा ११२ तक बराबर 'मुनि' शब्दका प्रयोग है—'मुनि लोमस आसीन', 'मुनि कृपाल खगराज', 'ब्रह्मज्ञानरत मुनि', 'मोहि मुनि समझावा', 'मुनीसा', 'मुनीस', 'मुनि पुनि कहि हरिकथा', 'मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा', 'बार बार सकोप मुनि', 'मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ', 'तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा', 'पुनि मुनि पद सिरु नाइ'। यह शब्द बारह बार आया है। इसके पश्चात् मुनिने जब फिर भुशुण्डिजीको बुला लिया उस समयसे बिदाईतक ('सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई। ११३। ५।' से 'करि बिनती मुनि आयसु पाई। ११४। ८।' तक) बराबर 'मुनि' शब्द प्रयुक्त हुआ है—दस बार आया है। बीचमें यहाँ ११३ (१-४) में दो बार 'रिषि' और दो बार मुनि आया है। यथा-'सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन', 'कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी', 'मुनि मति पुनि फेरी भगवाना' और 'रिषि मम महत सीलता देखी।'

इससे सूचित होता है कि मानसमें ऋषि और मुनि पर्याय माने गए हैं, अथवा श्रीलोमशजी

ऋषि और मुनि दोनों हैं। अथवा जब ऋषिके लक्षण देखे गए तब ऋषि कहा, जब मुनिके लक्षण देखे तब मुनि कहा।

मुनि और ऋषिमें यह भेद बताया गया है—जो पहले ऊर्ध्वरेता होकर नियमित भोजन करता है, जिसको किसीभी विषयमें कोई संदेह नहीं है तथा जो शाप और अनुग्रहमें समर्थ और सत्यप्रतिज्ञ है, ऐसा ब्राह्मण 'ऋषि' माना गया है। यथा 'ऊर्ध्वरेता भवत्यग्रे नियताशी न संशयी। शापानुग्रहयोः शक्तः सत्यसन्धो भवेदृषिः। स्कंद पु० माहे. कुमा. ३। २६६।' जो निवृत्तिमार्गमें स्थित संपूर्ण तत्त्वोंका ज्ञाता, कामक्रोधसे रहित, ध्याननिष्ठ, निष्क्रिय, जितेन्द्रिय तथा मिट्टी और सुवर्णको समान माननेवाला है, ऐसे ब्राह्मणको 'मुनि' कहते हैं। यथा 'निवृत्तः सर्वं तत्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः। ध्यानस्थो निष्क्रियो दान्तस्तुल्यमृत्काञ्चनो मुनिः। स्कंद माहे. कुमा. ३। २६७।'

शाप देनेमें समर्थ ऐसे कि ब्राह्मण तुरत चाण्डालपक्षी हो गया। अनुग्रह करनेमें समर्थ ऐसे कि भुशुण्डीजीको अनेक दुर्लभ वरदान दे दिये। इत्यादि लक्षण उनमें ऋषिके हैं ही और मुनिके समस्त लक्षण हैं।

☞ 'कारन कवन देह यह पाई' का उत्तर समाप्त हुआ।

रामचरितसर प्राप्तिके प्रश्नका उत्तर

मन बच क्रम मोहि निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना॥ ३॥
रिषि मम महत * सीलता देखी। रामचरन बिस्वास बिसेषी॥ ४॥
अति बिसमय † पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥ ५॥

अर्थ—मन, वचन और कर्मसे मुझे अपना दास जान लिया तब भगवान्‌ने फिर मुनिकी बुद्धि फेर दी। ३। ऋषि मेरी महान् (बहुत-बड़ी) सहनशीलता और श्रीरामजीके चरणोंमें बहुत विश्वास देखकर अत्यन्त विस्मित होकर बारंबार पछताकर मुनिने मुझे आदरपूर्वक बुला लिया। ४-५।

नोट—१ 'मन बच क्रम मोहि निज जन जाना' इति। मन, वचन और कर्मके उदाहरण—

मन—'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला।'; 'निर्गुन मत मम हृदय न आवा'; 'मैं अपने मन बैठ तब करउँ बिबिध अनुमान। १११।' से 'एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ' तक; 'रामभगति जल मम मन मीना।'

बचन—'मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि। उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि।', 'पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा', 'तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी। उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा',

कर्म—(महतशीलता)—'लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥
तुरत भएउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।'

२ (क) ☞ 'निजजन जाना' से जनाया कि जिनमें ये गुण हों वही निजदास हैं। (ख) 'पुनि फेरी' से पूर्व सिद्धान्त 'उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन' को पुष्ट किया। अर्थात् उन्हींने भोरी की, उन्हींने फिर जैसी की तैसी कर दी, न निर्गुणपक्ष रह गया न क्रोध। (ग) 'महत सीलता'। पूर्व जो कहा है कि 'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई' (९०। ६), वह अपनेही में चरितार्थ दिखाते हैं। ब्राह्मणगुरु परमसुशील थे। यथा—'एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुर कर कोमल सील सुभाऊ। ११०। २।' उनकी सेवा की, यद्यपि कपटसे ही तो भी, उसका फल मिला कि स्वयं सुशील हो गए।

रा० शं०—भुशुंडीजीने अपने परम सुशील गुरुसे द्रोह किया, उसके लिए आज तक उनको पश्चात्ताप है। उसीका फलस्वरूप लोमशद्वारा यह शाप है। वैसे ही लोमशजीको इनकी सुशीलता देख अपने क्रोधका पछतावा है। 'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा०' यह भी सिद्ध हो गया।

---

* सहनसीलता—(का०)। † बिसमै—(भा. दा.)

नोट—३ 'बिश्वास बिसेषी'। भाव कि विश्वास तो पूर्वसे ही था, जैसा 'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान। ११०।', 'पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा।', 'रामभगति जल मम मन मीना।', 'तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा।', प्रार्थनासे न माने तब भुशुंडिजीने उत्तर प्रत्युत्तर किए—'तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी।'; मुनिके कोप करनेपरभी 'पुनि पुनि सगुनपच्छ मैं रोपा' इत्यादि उद्धरणोंसे स्पष्ट है। चाण्डाल पक्षी हो जानेपरभी वह पक्ष न छोड़ा, न दीन हुए; अतः 'विशेष' कहा।

पं० रा० व० श०—'अति बिस्मय' इति। भागवतापराध तथा अपना ही कसूर समझकर, कि प्रश्न उसका क्या था और मैं कहता क्या था उसपरभी निरपराधको शाप दिया, डरे और पुनः पुनः पश्चात्ताप हुआ।

पं०—'अति विस्मय' कि मैंने इसकी बुद्धिकी थाह न पाई, यह तो बड़ा गंभीर और गुणवान् है।

मम परितोष बिबिधि बिधि कीन्हा। हरषित राममंत्र तब ‡ दीन्हा॥ ६॥
बालक रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि पुनि कृपानिधाना॥ ७॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा। सो प्रथमहि मैं तुम्हहि सुनावा॥ ८॥

अर्थ—अनेक प्रकारसे मेरा संतोष किया। फिर हर्षित होकर मुझे राममंत्र दिया। ६। दयासागर मुनिने मुझे बालकरूप रामका ध्यान बताया। ७। सुंदर और सुख देनेवाला यह ध्यान मुझे बहुत अच्छा लगा। वह ध्यान मैंने प्रथमही आपको सुनाया है। (अर्थात् अब दुहरानेकी आवश्यकता नहीं)। ८।

पं० रा० व० श०—'मम परितोष०' इति। न जाने क्या कारण है, हमारे कुछ समझमें नहीं आता कि हमारी बुद्धिमें क्यों यह आ गया कि हम तुम्हें अद्वैत ज्ञानी बनावें। देखो, सर्व जगतके नियंता परमेश्वर ही हैं, वही सबके हृदयके प्रेरक हैं। उनकी ही प्रेरणासे ऐसा हुआ। अब तुम कोई चिन्ता न करो, अब मैं तुम्हें परम गोप्य, सर्वोपरि सिद्धान्त सगुण ब्रह्म श्रीरघुनाथजीकी उपासना बताता हूँ। शाप देकर फिर बड़ी अनुग्रह की अतः कृपानिधान कहा।

पं०—'मम परितोष०'। अर्थात् कहा कि बड़ोंके आगे इतना हठ करना योग्य नहीं; इसीसे लोक-शिक्षा-हेतु तुमको दण्ड किया। सगुण निर्गुणमें भेद नहीं, तुम भेद मानते थे; उसके निवारणार्थ यह हुआ। काक-देहकी चिन्ता न करो, होनहार ही ऐसा था, तुम्हें इसी देहमें अत्यन्त महत्त्वकी पदवी मिलनी है।

रा० प्र०—यहाँ गुरु शिष्यमें कौन जीता? गुरु जीते। शिशोपनिषद्में बालही रूप ब्रह्मनिरूपण बालक परमहंसरूप है, ऐसा कहा है। गुरुने शिष्यकी रुचि रखते हुएभी अपनाही मत और पक्ष जमाया।

करु०—यहाँ व्यंगसे ऐसा जान पड़ता है कि मुनिके हृदयमें भुशुण्डीसे वादविवाद करनेसे श्रीराम-स्वरूप आ गया, शुद्धाद्वैत मत पलटकर शुद्ध विशिष्टाद्वैती हो गए।

नोट—१ 'हरषित राममंत्र तब दीन्हा' इति। (क) 'हरषित' से जनाया कि पूर्व जो मैंने तर्क वितर्क, उत्तर-प्रत्युत्तर किये थे उसका खेद अब मनमें नहीं रह गया। अब वात्सल्य भाव उदय हो गया, मुझे गोप्य रामोपसनाका अधिकारी जान हर्ष-पूर्वक राममंत्र देकर शिष्य बनाया। (ख) राममंत्रसे षडक्षर तारक ब्रह्म संज्ञक राममंत्र अभिप्रेत है; क्योंकि भगवान् व्यास और भगवान् शङ्कर आदिने इसीको 'परं। जाप्य' कहा है। [मंत्र तथा बीज एवं उनकी व्याख्या श्रीरामपूर्वतापिन्युपनिषद्के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खण्ड में विस्तारसे है। बाबा श्रीहरिदासाचार्यजीका भाष्य देखिए। राममंत्र तो अगणित हैं पर रामोपासक षडक्षर तारक ब्रह्म-संज्ञक मंत्र देते हैं। यह वैदिक मंत्र है।] (पं० रा० व० श०)। (ग) 'तब दीन्हा' से इस राममंत्रको दुष्प्राप्य जनाया। (रा० प्र०)।

२ 'बालक रूप राम कर ध्याना।...' इति। (क) मंत्र देकर उसका अर्थ तथा किस प्रकार जप

‡ मोहि दीन्हा—(का०)।

करना चाहिए, यह बताकर जिसका मंत्र है उसीका ध्यान बताना चाहिए। ध्यानमें उपासना और भाव (संबंध) भी आ जाते हैं। श्रीभुशुण्डी (विप्र) जीने जो पूछा था–'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान। ११०।' वह सब मंत्र और ध्यानमें आ गया। (ख) 'बालक रूप राम'–अन्य अवस्थाओंके चरित्रोंमें धर्माचरण है, धर्मके अनुसरणकी शिक्षा है। बालक रूपमें ही माताको अपना अद्भुत अखंड रूप दिखाया था, बालक रूपमें ही चिरजीवी मुनि उनके मुखमें प्रविष्ट हुए थे और माया का दर्शन उसीमें कराया गया था, इस रूपमें बहुत रंगके चरित होते हैं, यह योगियों तथा महायोगीश्वर श्रीशंकरजीका इष्ट है, इत्यादि कारणोंसे मुनिने 'बालक रूप राम' का ध्यान बताया। यह ध्यान पूर्ण माधुर्यमय है, इसमें ऐश्वर्यका लेश नहीं।

सनत्कुमारसंहितान्तर्गत श्रीरामस्तवराजमें दास्यभाव शान्तरसका ध्यान यह है–'अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमंडपमध्यगे। स्मरेत्कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनं शुभम्॥ १०॥ तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं नाना रत्नैश्चवेष्टितम्। स्मरेन्मध्ये दाशरथिं सहस्रादित्य तेजसम्॥ ११॥ पितुरंकगतं राममिंद्रनीलमणिप्रभम्। कोमलांगं विशालाक्षं विद्युद्वर्णावराम्बरम्॥ १२॥ भानुकोटि प्रतीकाशं किरीटेन विराजितम्।' इत्यादि।

रा० शं०—जबसे मुनिने निर्गुणपक्षका निरूपण उठाया तबसे 'कृपानिधान' विशेषण न दिया था जब सगुण ध्यान बताया और उन्हींका मंत्र दिया तब 'कृपानिधान' कहा। [सगुणब्रह्म अवराधना पूछनेपर और यहाँ उनकी कृपासे प्राप्ति होने पर 'कृपानिधि' विशेषण दिया। 'कृपा करके' कहिए इसके लिए वहाँ 'कृपा निधि' विशेषण दिया था; यथा 'तब मैं कहा कृपानिधि तुम्ह सर्बज्ञ सुजान। सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान। ११०।' और यहाँ 'कृपा करके बताया' इससे यहाँ 'कृपानिधान' कहा]

नोट—३ 'सुंदर सुखद' पहले दिखा आए हैं। ७६। ३।' 'नृप मंदिर सुंदर सब भाँती' से 'रूपरासि नृप अजिर बिहारी।...। ७७। ८।' तक यह 'सुंदर सुखद' ध्यान है। सुखद=बुद्धयादिको विश्रामदाता।

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाखा॥ ९॥
सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई॥ १०॥
रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥ ११॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी॥ १२॥

अर्थ—मुनिने मुझे कुछ समय तक वहाँ रक्खा तब रामचरित-मानस का वर्णन किया। ९। आदरपूर्वक यह कथा सुनाकर फिर मुझसे ये सुन्दर वचन बोले।१०। हे तात! सुन्दर गुप्त रामचरितसर मैंने शिवजीकी कृपासे पाया। ११। तुम्हें श्रीरामजीका खास भक्त जाना इससे हे तात! मैंने सब बखानकर तुमसे कहा। १२।

नोट—१ 'मुनि मोहि कछुक काल...' इति। कुछ काल अपने पास रक्खा, क्योंकि बिना कुछ काल तक रहे पूरा रामचरितमानस कोई सुन समझ नहीं सकता। और यदि चरितमें संशय आदि होते हैं तब तो उसके निवारणार्थ बहुत काल तक रहकर कथा-सत्संग करना पड़ता है। यथा 'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा। ६१। ४।' भुशुण्डीजीको मोह संशय तो है नहीं, इससे 'कछुक काल' ही लगा। २ 'सादर कथा सुनाई'–सादर अर्थात् अनुरागपूर्वक, मुझपर वात्सल्य रखते हुए कहा। वात्सल्य है इसीसे 'सब' विस्तारसे कहा। यथा 'तातें मैं सब कहेउँ बखानी', नहीं तो सब कथा बखानकर न कहते।

☞ गरुड़जीके 'रामचरित सर सुंदर स्वामी। पायेहु कहाँ कहहु नभगामी', इस प्रश्नका उत्तर यहाँ दिया। 'रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा', ऐसा मुनिने मुझसे कहा। मुनिको शिवजीसे प्राप्त हुआ और मुनिसे मुझे प्राप्त हुआ। गौड़जी तथा कुछ टीकाकारोंका मत है कि 'रामचरितसर' से यहाँ सररूपकसहित समस्त रामचरितमानस ही अभिप्रेत है। ६४। ७। देखिए। यहाँ शंका होती है कि 'बालकांडमें तो कहा था कि 'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा॥' और यहाँ कहते हैं कि लोमशजीसे हमें मिला। यह परस्पर विरुद्ध भासित होता है।' इसका समाधान यह है कि दोनों वाक्यों

का समन्वय इस प्रकारसे हो जाता है कि शिवजीने लोमशजीके द्वारा भुशुंडीजीको दिया। इसी प्रकार शिवजीने गोस्वामीजीको दिया—श्रीनरहर्य्यानन्दजीद्वारा। †

प० प० प्र०—बालकांडके 'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगति अधिकारी चीन्हा ।३०।४।' का ही उपसंहाररूपमें यहाँ विकास किया गया है। 'अधिकारी चीन्हा' अर्थात् परीक्षा करके पहिचान लिया। परीक्षाकी विधि यहाँ बताई। शिवजीने ही लोमशजीकी बुद्धिमें प्रवेशकर परीक्षा ली और उन्हींके मुखसे स्वयं रामचरितमानसका प्रवचन किया। भुशुंडिजीने रामचरितमानस केवल एक बार यहीं सुना। दो बार सुनते तो गरुड़जीसे वैसा कह देनेमें संकोच न करते।

श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि "लीला चरित गुप्त नहीं कहा जाता है; वह तो प्रगट है'; उसके कहने की मनाही नहीं है।" पर दोहा १२८ में शिवजीके 'मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राषी।। तव मन प्रीति देषि अधिकाई। तब मैं रघुपति-कथा सुनाई।। यह न कहियसठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।। इत्यादि। १२८।१-५।' इस वचनसे इसका समानाधिकरण कैसे होगा यह उन्होंने नहीं लिखा है। इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि श्रीरामचरित गोप्य रहस्य है। अधिकारीको ही सुनाना चाहिए। अधिकारीके लक्षण १२८। ६-८ में बताए है तथा पूर्व भी यत्रतत्र लिखे गए हैं।

रामभगति जिन्ह के उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं।। १३ ।।
मुनि मोहि बिबिधि भाँति समुझावा। मइँ सप्रेम मुनिपद सिरु नावा।। १४ ।।
निज कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्हि मुनीसा।। १५ ।।
रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे।। १६ ।।

अर्थ—हे तात! जिनके हृदयमें श्रीरामभक्ति नहीं है उनसे कभीभी (यह रामचरितसर) न कहना। १३। मुनिने मुझे अनेक प्रकार समझाया (तब) मैंने प्रेमपूर्वक मुनिके चरणोंमें माथा नवाया। १४। अपने करकमलसे मेरा मस्तक स्पर्शकर अर्थात् सिरपर हाथ फेर हर्षित होकर मुनीश्वर लोमशजीने मुझे आशीर्वाद दिया। १५। अब मेरी कृपासे अविचल परिपूर्ण भक्ति सदैव तेरे हृदयमें बसेगी। १६।

नोट—१ 'कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं' इति। 'कबहुँ न' का भाव कि यह 'सर' तो रामभक्त तथा इसके अधिकारियोंको छोड़ दूसरेसे किसी हालतमें न कहना। २—'बिबिध भाँति'। यहाँ एक 'भाँति' कहकर फिर 'बिबिधभाँति' पद दे दिया क्योंकि आगे इसे फिर ग्रंथके अन्तमें कहना है। वह सब इस पदसे जना दिए। [पुनः, 'बिबिधि भाँति' जैसे कि एक तो अनधिकारीके सामने कहना उत्तम पदार्थका फेंकना है, दूसरे मतवादियोंसे विवाद करनेसे खेद होगा; इससे गुप्त रखनाही भला है। (वै०)। पुनः, रा० प्र० के मतानुसार विविध भाँतिसे कृपा छोहयुक्त मित्रसंमित आदि वाणीसे समझाना अभिप्रेत है]। ३—'मैं सप्रेम मुनिपद सिरु नावा' यह रामचरित, सगुणध्यान, इत्यादिकी प्राप्तिकी कृतज्ञता सूचित की। गुरु आदिको प्रणाम करनेमें प्रेम पुलकादि होनेही चाहिएँ नहीं तो प्रणाम व्यर्थ हो जाता है, यह कई बार लिखा जा चुका है।

† १ बालकांडमें शिवजीसे प्राप्ति और यहाँ लोमशसे प्राप्ति कही। इससे जान पड़ता है कि लोमशजीसे सुनकर फिर शिवजीसेभी सुना। या कल्पान्तरभेद हो।—(रा० प्र०)। २—वहिर्लापिकासे यह समझ पड़ता है कि महादेवजीने लोमशरूप होकर अपने आशीर्वादकी परीक्षा ली। जब अति दृढ़ जाना तब श्रीरामचंद्रने उसी रूपसे उपदेश किया, आशीर्वाद दिया और श्रीरामचरितमानस सुनाया।—(रा० प्र०)। ३—मनमें प्रेरणा करके दिलाया इससे शिवजीकाही देना ठहरा—(खर्रा)। ४—'संभुप्रसाद०' में भाव कि शंभु लोमशरूप हैं। इसीसे शम्भुको अध्यारोपण करके शम्भुद कहा। किन्तु ये लोमशही हैं; किसी कालमें शिवप्रसादसे पाया वही अब इन्होंने भुशुण्डीको दिया; यही शिवजीका देना है। (खर्रा)।

'महाप्रलयमें नाश नहीं, आश्रममें आते ही मोहनाशके कारण' का उत्तर।

दोहा—सदा रामप्रिय होहु*तुम्ह सुभगुन-भवन अमान।
कामरूप इच्छा-मरन ज्ञान-बिराग-निधान॥
जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत।
ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत॥११३॥

अर्थ—तुम सदा श्रीरामजीको प्रिय और श्रीरामजी तुमको प्रिय होंगे, तुम सदा शुभगुणधाम, मानरहित और कामरूप होगे, मृत्यु तुम्हारी इच्छा पर रहेगी (अर्थात् जब तुम शरीर छोड़ना चाहोगे तभी शरीर छूटेगा अन्यथा तुम्हारी मृत्यु न होगी। तुम ज्ञान-वैराग्य-निधान होगे और जिस आश्रममें तुम श्रीभगवान्‌का स्मरण करते हुए निवास करोगे वहाँ एक योजन तक अविद्या माया न व्यापेगी। ११३।

नोट—१ 'सदा रामप्रिय होहु तुम्ह'—भुशुंडीजीको श्रीरामजी प्रिय थे ही। उन्हींके लिये तो शाप स्वीकार करना पड़ा। उनको यही लालसा थी कि 'रामचरनपंकज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं।' अब वे श्रीरामजीके भी प्रिय हो गए। यथा 'रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा। ६४। २।'

खर्रा—'कामरूप' कहकर रूपान्तर होनेकी शक्ति भी दी। इच्छा-मरणसे प्रलयमें भी नाशसे रहित किया। गुणभवनसे गुणोंका निवास और निधान (अर्थात खानि) से दूसरोंको भी निकालकर देनेकीभी शक्ति दी। (रा० प्र०)। शुभगुणभवन होनेसे अभिमानका भय होता है अतः यह कहकर फिर 'अमान' कहा कि तुमको यह विकार न होगा।

नोट—२ 'जेहि आश्रम तुम्ह बसब' अर्थात् जहाँभी तुम्हारा निवास होगा। चाहे जहाँ तुम रहो। 'सुमिरत श्रीभगवंत' कहकर स्मरण करना आवश्यक जनाया। श्रीभगवंतसे जनाया कि ऐश्वर्य सदा मनमें धारण किए हुए स्मरण करना। [पुनः, श्रीभगवंत—भाव कि भगवान् तो बहुतोंकी संज्ञा है; पर श्रीरघुनाथजी केवल भगवान ही नहीं वरन् श्रीभगवान् हैं, सब भगवानोंकी शोभा इनमें है। ये सबमें श्रेष्ठ हैं जैसे कि चालीस पचास महन्तोंमें एक श्रीमहन्त होता है वैसे ही सब भगवानोंमें ये श्रीभगवंत हैं। अथवा, 'श्रीभगवंत' से श्रीसीतासंयुक्त भगवान् रामचन्द्रजीको जनाया। (पं० रा० व० श०)] ☞ यह आशीर्वाद आश्रमके विषयमें है और यह गरुड़जीके 'प्रभु तव आश्रम आये मोर मोह भ्रम भाग। कारन कवन' इस प्रश्नका उत्तर है। आगे भुशुण्डिजीके लिए आशीर्वाद है—'काल कर्म गुन दोष सुभाऊ' इत्यादि।

रा० प्र०—यहाँ लोमशके वरदान और उसपर भी ब्रह्मवाणीका प्रमाण है कि अविद्या माया न व्यापेगी और पूर्व ८९ (३) में कहा है कि 'तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया' इत्यादि ? भाव यह है कि यहाँ परोक्ष है और वहाँ प्रत्यक्ष, अथवा 'लोमश द्वारा कार्यका निरोध रहा और रघुनाथजी द्वारा कारणका निरोध हुआ।'—[यहाँ अविद्यामाया न व्यापनेका वरदान है और श्रीरामजी विद्यामायासेभी अभय कर देते हैं।] यहाँ आकाशवाणी है, आगे प्रत्यक्ष न होकर वही वर दिया है। ११४ (५-७) देखिए।

पं०—'जोजन एक प्रजंत'। चारों वृक्षोंके तले बैठकर जो तुम ध्यानादिक चार कर्म प्रतिदिन करोगे उसके प्रभावसे चार-चार कोस तक माया निकट न आवेगी।

काल कर्म गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ॥ १॥
रामरहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥ २॥

* होब—(का०)।

बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह रामपद होऊ ॥ ३ ॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि-प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं ॥ ४ ॥

अर्थ—काल, कर्म, गुण, दोष और स्वभाव (जनित) कुछ भी दुःख तुमको कभी न व्यापेंगे ।१। अनेक प्रकारके सुंदर रामरहस्य जो इतिहास और पुराणोंमें गुप्त वा प्रगट हैं, वह सब भी तुम विना परिश्रम के जानोगे और तुम्हारा नित्य नवीन अनुराग श्रीरामजीके चरणोंमें होगा अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा। २-३ ।' तुम जो इच्छा मनमें करोगे हरिकृपासे वह कुछभी दुर्लभ न होगी अर्थात् सब मनोरथ पूर्ण होते रहेंगे ।४।

☞ 'तुम्हहिं न व्यापत काल अति कराल कारन कवन' का यहाँ उत्तर है। 'काल कर्म०'—'काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं। २१ ।' तथा 'हरिमाया कृत दोष गुन...। १०४ ।' और 'मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। ४१ ।' देखिए। 'रामरहस्य' पूर्व लिखा जा चुका है। रा० प्र० ने यहाँ मानस भरके राम-रहस्य एकत्र दिये हैं। 'बिनु श्रम' अर्थात् पढ़नेकी जरूरत नहीं, स्वतः प्राप्त हो जायगा।

रा० शं०—अविरल रामभक्ति बसनेमें 'प्रसाद अब मोरे' कहा और इच्छापूर्त्तिके लिए 'हरिप्रसाद' कहा। 'हरि' का आश्रय लिया क्योंकि जानते हैं कि विना उनके निर्वाह कठिन है। वे देख चुके हैं कि भस्मासुरको जो वरदान दिया गया था उसका निर्वाह भगवान्‌हीने किया। इसीसे तुरन्त आकाशवाणी हुई।

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्म-गिरा भइ गगन गँभीरा ॥ ५ ॥
एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भगत करम मन बानी ॥ ६ ॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भएऊ। प्रेम मगन सब संसय गएऊ ॥ ७ ॥

अर्थ—हे धीरबुद्धि! सुनिए। मुनिका आशीर्वाद सुनकर आकाशमें गंभीर ब्रह्मवाणी हुई। ५। 'हे ज्ञानी मुनि! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो अर्थात् जो तुमने आशीर्वाद दिया है वैसा ही होगा, यह कर्म, मन और वचनसे मेरा भक्त है। ६। आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ, मैं प्रेममें मग्न हो गया, सब संदेह जाता रहा। ७।

नोट—१ 'सुनि मुनि आसिष...' इति। (क) 'सुनि' क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हैं, सर्वज्ञ हैं, यथा 'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं', 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना' (१। १८५)। ब्रह्मगिरा अर्थात् आकाशवाणी जो हुई वह ब्रह्मकी थी। (ख) 'गंभीरा' इति। गंभीरसे जनाया कि ऐसी गहरी हुई कि मैं भी कानसे सुन सकूँ। 'गँभीरा' में शोक-संदेह हरण और सुखदका भी भाव है। यथा 'गगनगिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह। १। १८६।...गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।' पंजाबीजी लिखते हैं कि 'यहाँ गंभीरता यह है कि मुनिको ज्ञानी कहा और मुझे भक्त। तात्पर्य कि ज्ञानी और भक्त दोनों समान प्रिय हैं, किंतु भक्त ज्ञानीसे भी अधिक प्रिय हैं।' इस तरह गंभीरसे गूढ़ आशय भरी हुई भी जनाया।

२ 'एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी।...' इति। मुनिकी वाणी सत्य होती है। यथा 'मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू। ४। २८। ६।' उसपर भी ब्रह्मवाणीने उसका समर्थन 'एवमस्तु' कहकर किया, अतः वह सब परम सत्य हुई।

नोट—३ (क) ☞ किस कारण काक-देह हुई इसका उत्तर लोमशशापपर समाप्त हुआ। तत्पश्चात 'रामचरितसर कहाँ पाया? आश्रममें आते ही मोह क्यों दूर हो गया? कराल काल क्यों नहीं व्यापता?' इन सबका मिश्रित उत्तर दोहा ११३ (३) से प्रारम्भ होकर यहाँपर समाप्त होता है। अर्थात् मुनिके प्रसादसे चरित मिला और अन्य सब बातें मुनिके आशीर्वाद तथा भगवान्‌के आशीर्वाद (एवमस्तु) से हुईं। (ख)—'हरष मोहि भएऊ' का कारण कि भगवान्‌ने मुझे अपना भक्त स्वीकार किया और मुनिके सब आशीर्वाद अभीसे निस्संदेह सफल कर दिये।

☞ यहाँतक तीनके आशीर्वाद भक्तिके संबंधमें हुए—
१ शिवजी—पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥
२ लोमशजी—रामभगति अविरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥
३ ब्रह्मगिरा—यह मम भगत करम मन बानी।

प्रथमका फल यह हुआ कि रघुनायकलीला करते, गुण श्रवण करते—'सुनत फिरौं हरिगुन अनुवादा', कीर्त्तन करते—'रघुपति जस गावत फिरउँ।'—यह नवधाभक्ति हुई। दूसरेका फल कि 'अविरल भक्ति' सदा 'बसेगी' अर्थात् मनवचनकर्म तीनोंसे भक्त होगे। इसीकी पुष्टि तीसरेसे हुई। अविरलभक्ति होनेसे जब-जब अवतार होता है तबतब 'बरष पाँच तहँ रहौं लुभाई'। अंतमें प्रभुने जब बरदान दिया तबसे कोई माया कभी न व्यापी। दर्शनकी लालसा मुनिके आशीर्वादसे पूरी हो गई। इसी अभिलाषासे इनके पास आए थे—'सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया। १११। १०।' वैजनाथजी लिखते हैं कि 'मुनिके आशीर्वादसे पराभक्ति हुई, पर जीव-बुद्धि बनी रही; इसीसे प्रभुकी शरण हुए और प्रभुने भक्ति का वर दिया तब आत्मरूपमें अचल अनुराग हुआ। अब भक्तिकी परिपूर्णता हुई।'

पं०—'सब संशय' क्या हैं? यह कि मैंने मुनिकी बहुत अवज्ञा की थी, साधु-अवज्ञा कल्याणका नाशक है—'साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी'। कहीं इसी विचारसे मेरे संतोष-निमित्त तो मुनिने ऐसा नहीं कहा। ब्रह्मगिरासे सत्यताकी प्रतीति हुई।

करि बिनती मुनि आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई॥ ८॥
हरष सहित एहि आश्रम आएउँ। प्रभु प्रसाद दुर्लभ बर पाएउँ॥ ९॥
इहाँ बसत मोहि सुनु खगईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥ १०॥
करौं सदा रघुपतिगुनगाना। सादर सुनहिं बिहंग सुजाना॥ ११॥

अर्थ—मुनिकी विनती करके और उनकी आज्ञा पाकर उनके चरणकमलोंमें बारंबार सिर नवाकर हर्षसहित मैं इस आश्रममें आया। प्रभु श्रीरामजीकी कृपासे मैंने कठिन दुष्प्राप्य वर पाया। ८, ९। हे पक्षिराजजी! सुनिए। मुझे यहाँ वास करते हुए २७ कल्प बीत गए। १०। मैं (यहाँ) सदा आदरपूर्वक श्रीरघुनाथजीका गुणगान करता हूँ और चतुर पक्षी उसे सादर सुनते हैं। १०।

नोट—१ (क) 'करि बिनती', यह कि ऐसी ही कृपा बनाये रखियेगा। (रा० प्र०)। फिर दर्शन करता रहूँगा, दूर रहने पर स्नेह, छोह न छोड़ियेगा, 'लरिका जानि करब नित नेहू' इत्यादि। (ख) 'मेरु सिखर बटछाया मुनि लोमस आसीन। देखि चरन सिर नाएउँ। ११०।' उपक्रम है और 'करि बिनती मुनि आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई। हरष सहित एहि आश्रम आएउँ। ११४। ८, ९।' उपसंहार है। (ग) 'आयसु पाई'—कहीं जाय तो आज्ञा लेकर वहाँसे चले, यह शिष्टाचार है और यहाँ तो मुनिने पूर्व चल देनेपर स्वयं सादर बुलाया था, यथा—'अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई;' अतः आयसु माँगकर चलना यह मुनिका आदर करना है।—'निज निज गृह गए आयसु पाई। ४७। ८।' देखो। 'पुनि पुनि' अत्यन्त कृतज्ञता तथा प्रत्युपकारका असामर्थ्य जनाता है। पुनः, 'पुनि पुनि सिरु नाई', क्योंकि अभिलाषसे कहीं अधिक अनुग्रह हुआ।

२ 'हरष सहित एहि आश्रम...' इति। (क) 'हरष सहित' अर्थात् कृतार्थ होकर। (ख) 'एहि आश्रम' से जान पड़ता है कि यह आश्रम इन्होंने पूर्व ही देख रक्खा था, इनको यह परम रमणीक और भजन करने योग्य जान पड़ा था। अतः लोमशजीके पाससे सीधे यहाँ आए। (ग) 'प्रभुप्रसाद दुर्लभ बर पाएउँ'—भाव कि ऐसा वर किसी प्रकार भी पुरुषार्थ करने, अनेक साधनोंमें पच पच मरनेसे प्राप्त नहीं हो सकता; एकमात्र प्रभुके परमप्रसादसे ही मिल सकता है।

नोट—३ इसके बाद मुनिके आशीर्वादका चरितार्थ दिखाते हैं—

		चरितार्थ
रामभगति अविरल उर तोरे । बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे ॥ सदा रामप्रिय होहु०	१	'करउँ सदा रघुपति गुनगाना०' से 'पुनि उर राखि राम सिसुरूपा०' तक
'जेहि आश्रम तुम्ह बसब' से 'कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ' तक	२	इहाँ बसत मोहि सुनु खगईसा । बीते कलप सात अरु बीसा ॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं । हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं	३	'निज प्रभु दरसन पायेउँ०' 'प्रभु प्रसाद दुर्लभ वर पाएउँ०'

४—जो मुनिने कहा था कि 'जेहि आश्रम तुम्ह बसब सुमिरत श्रीभगवंत' उसका चरितार्थ 'करौं सदा रघुपतिगुन गाना' से जनाया ।

पं० रा० व० श०—'बीते कलप सात अरु बीसा' इति । आजकल जो संकल्प पढ़ा जाता है उसमें वर्तमान् कलियुगको २८ वें कल्पका कलियुग कहते हैं, यथा—'अष्टाविंशतिमे कलियुगे कलिप्रथम चरणे' । इससे ज्ञात होता है कि सम्भवतः इसी कल्पमें गरुड़जी भुशुण्डिजीके पास गए थे । महाप्रलयमेंभी नाश न होनेका कारण बताया कि भगवान् लोमशके वरदानसे ऐसा होता है । प्रलयके समय अविद्याकृत सब पदार्थोंका नाश होता है, यहाँ एक योजनपर्य्यन्त अविद्या नहीं है अतः इनका नाश नहीं होता ‡ ।

वि० त्रि०—इहाँ बसत........सात अरु बीसा' इति । भाव यह कि रामचरितसरकी प्राप्ति भुसुण्डिजीको लोमशऋषिसे हुई, अर्थात् इसके पूर्वके रामावतारकी कथा मुनिजीने भुसुण्डिजीको सुनाई, उसके बाद भुसुण्डिजी नीलगिरिपर आये । वहाँ सत्ताईस कल्प बीते । उसके बाद गरुड़जी आये । उनको उन्होंने वह कथा सुनाई । उसी कथाको शिवजीने पार्वतीसे कहा । उसी संवादको याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीसे कहा । उसी संवादको गोस्वामीजी कह रहे हैं । फलतः गोस्वामीजी उन रामावतारोंकी कथाएँ कह रहे हैं जिन्हें हुए कमसे कम सताईस कल्प हुए । और वाल्मीकिजीने इस कल्पके रामावतारकी कथा कही है । अतः वाल्मीकीय रामायण और रामचरितमानसके कथा-भागमें अन्तर न पड़नाही आश्चर्य है ।

रा० प्र०—'करौं सदा रघुपति गुन गाना' से गुणगानकी अन्य सब कर्मोंसे प्रधानता जनाई । इसमें परोपकार भी है । 'सुजान' से जनाया कि ये सब पक्षके ज्ञानी, योगी और परमहंस आदि हैं ।

जब जब अवधपुरी रघुबीरा । धरहिं भगतहित मनुज सरीरा ॥ १२ ॥
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ । सिसु-लीला बिलोकि सुख लहऊँ ॥ १३ ॥
पुनि उर राखि राम-सिसु-रूपा । निज आश्रम आवौं खगभूपा ॥ १४ ॥

अर्थ—जब जब रघुवीर श्रीरामचन्द्रजी अवधपुरीमें भक्तोंके कल्याणके लिए मनुजशरीर धारण करते हैं ● । १२ । तबतब मैं श्रीरामजीकी पुरीमें जाकर रहता और शिशुलीला देखकर आनंद प्राप्त करता हूँ । १३ । फिर, हे पक्षिराज ! बालरूप श्रीरामको हृदयमें धरकर मैं अपने आश्रममें आता हूँ । १४ ।

‡ करु०—प्रलय पाँच प्रकारके हैं । नित्य, युगान्त, नैमित्तिक, आत्यन्तिक और महाप्रलय । इन्हींको पाँच प्रकारके कल्प कहते हैं । यहाँ २७ कल्प नैमित्तिक कल्प हैं जो ब्रह्माके एक-एक दिन पूरा होनेपर होते रहते हैं । महाकल्प वा महाप्रलय वह है जो ब्रह्माकी १०० वर्षकी आयु पूरी होनेपर होती है ।

● १ रा. प्र.—'रघुबीर०' अर्थात् सनातन द्विभुज-भूपरूप मनुजशरीर धरते हैं । अर्थात् भावमें मनुष्योंके बीच भूमिमें प्रगट होते हैं । रामपुर=श्रीअयोध्याजी,—'पहुँचे दूत रामपुर पावन' । २-'रघुबीर धरहिं मनुज सरीरा' से स्पष्ट करते हैं कि जब साकेतसे अवतार होता है । तब क्योंकि रघुबीररूपसे उसी लोकमें निवास रहता है ।—विशेष ७५-२ देखिए । 'भगतहित मनुजसरीर' के भाव पूर्व आचुके हैं ।

नोट—'उर राखि राम सिसु रूपा०' से जनाया कि शिशुचरितके बाद चला आता हूँ। ये पाँच वर्ष बराबर लगातार रहता हूँ।

कथा सकल मैं तुम्हहिं सुनाई। कागदेह जेहि कारन पाई॥ १५॥
कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी। राम-भगति महिमा अति भारी॥ १६॥

अर्थ—जिस कारण मैंने काकशरीर पाया वह सब कथा मैंने आपको सुनाई। १५। हे तात! मैंने आपके सब प्रश्नोंके उत्तर कहे। रामभक्तिकी महिमा अत्यन्त भारी है। १६।

नोट १—काक-देह पानेके कारणकी कथा प्रधान है, इसीके अन्तर्गत अन्य सब प्रश्नोंके उत्तर आ जाते हैं। अतः प्रथम 'कागदेह केहि कारन पाई' कहकर तब यह कहा कि 'कहेउँ तात सब प्रश्न तुम्हारी।' अर्थात् उसीमें सब आगए। प्रश्नोंके उत्तर यथा-स्थान प्रकरण देकर लिखे जा चुके हैं। २—'सब निज कथा कहउँ मैं गाई। ६५। ४।' उपक्रम है और 'कहेउँ तात सब०' उपसंहार। लगभग २० दोहोंमें यह प्रसंग कहा गया है। आगे श्रीरामभक्तिकी महिमा कहते हुए शुष्क ज्ञानका निरास करते हैं।

☞ गरुड़जीने ज्ञानको विशेष मान रक्खा है, यह बात उनके प्रश्नके शब्दोंसे प्रगट है। वे प्रश्नके प्रारंभमें भुशुण्डिजीको पहले ज्ञाननिधान कहकर तब भक्त कहते हैं, यथा—'ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा। रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा', तथा अंतमें काल न व्यापनेका कारण 'ज्ञान प्रभाउ कि जोगबल' यही समझते हैं। अतएव भुशुण्डिजीनेभी आदि और अंतमें ज्ञानादिका निरास कर भक्तिको प्रधान और सर्वसुखका कारण प्रतिपादन किया है—आदिमें 'बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना।। सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावै छेमा। ९५। ५-६।' यह कहा और अंतमेंभी उसी भक्तिकी महिमा कहकर प्रसंगको समाप्त करते हैं। इसी तरह आगे भी ज्ञान और भक्तिके विषयमें प्रश्न करते हुए गरुड़जीने ज्ञानको प्रथम कहा है—'ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता' और उत्तरमें भुशुण्डीजी उसको उलट देते हैं-'भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा'।

(भक्ति महिमा)

दोहा—ताते यह तन मोहि प्रिय भएउ रामपद नेह।
निज प्रभु दरसन पाएउँ गए सकल संदेह॥
भगतिपच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पाएउँ देखहु भजन प्रताप॥११४॥

अर्थ—मुझे यह शरीर इससे प्रिय है कि इसमें मुझे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें स्नेह हुआ, मैंने अपने प्रभुका दर्शन पाया और मेरे सब संदेह दूर हो गए। हठ करके मैं भक्तिपक्षमें दृढ़ रहा जिससे महर्षिने मुझे शाप दिया। (अंतमें) मुनियोंकोभी जो दुर्लभ है वह बरदान मैंने पाया—यह भजनका प्रताप देखिए।११४।

खर्रा—'ताते०', यथा—'जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान। दो० १४२।' यहाँ काक-तन प्रिय होनेके तीन कारण कहते हैं—१ रामपदमें स्नेह हुआ, २—निज-प्रभुका दर्शन पाया, और ३—सब सन्देह गया। ये तीनों (बातें) इसी देहमें प्राप्त हुईं।

पं० रा० व० श०—'भगतिपच्छ हठ करि रहेउँ...भजन प्रताप' इति। भाव कि जो भक्तिमें दृढ़ रहते हैं उनको ही ऐसा लाभ होता है कि ऐसे महर्षिसे हठ करने पर, वादविवाद करनेपर, भी हानिके बदले परम लाभ हुआ। शाप उलटकर आशीर्वाद हो गया। यह भक्तिका माहात्म्य है इसमें गिरनेकी शंका कदापि नहीं।

नोट—श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्‌की स्तुति करते हुए श्रीनारदादि मुनियों तथा ब्रह्मा-शिवादि देवताओंने भी भक्तिकी महिमा और ज्ञानकी न्यूनता कही है। यथा—'येन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावा-

दविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो नादृतयुष्मदङ्घ्रयः । १० । २ । ३२ । तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो । ३३ ।' अर्थात् आपके भक्तोंसे भिन्न अन्यान्य लोग जो अपनेको मुक्त मानकर अभिमानवश आपकी भक्ति नहीं करते उनकी बुद्धि भली भाँति शुद्ध नहीं होती । अतएव वे आपके श्रीचरणोंकी अवहेलना करनेके कारण वे यदि बड़ी तपस्या और साधनाका कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचेसे ऊँचा पद भी पा जायँ तो भी वहाँसे गिर जाते हैं । किन्तु हे प्रभो ! जो आपके निज भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रक्खी है, वे कभी भी उन ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति अपने पथसे नहीं गिरते । वे तो बड़े-बड़े विघ्नोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकता, क्योंकि आप स्वयं उनके रक्षक हैं ।

इससे भारी विघ्न और क्या हो सकता है कि विप्र-शरीरसे चाण्डाल और वह भी चाण्डाल पक्षी-की देहमें उतार दिये गये । फिर भी उनको 'भय न दीनता आई ।' फल तो प्रत्यक्ष आपने देखा । 'माया काल कर्म गुण स्वभाव' इत्यादि सभीसे सदाके लिये निर्भय कर दिये गए ।

रा० प्र०—भजनका प्रभाव यह कि बाधक भी साधक हो गया, 'भगतनके साधक हैं तेई' । मुनिने शाप भी दिया पर बर जो मिला वह मुनियोंको भी दुर्लभ है । (लोमशजीकोभी वह सुख प्राप्त नहीं है जो मुझे है) ।

जे असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं ॥ १ ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥ २ ॥

अर्थ—जो ऐसी भक्तिको (कि जिसके प्रतापसे शाप भी उलट गया और दुर्लभ आशीर्वाद मिला, यह प्रभाव जिसका प्रगट है) जानबूझकर छोड़ देते हैं और केवल ज्ञानके लिये परिश्रम करते हैं, वे जड़ घरमेंकी कामदगौको त्यागकर दूधके लिये मदार खोजते फिरते हैं । १-२ ।

वि० त्रि०—'असि भगति' अर्थात् जो शापको भी मुनि दुर्लभवरमें परिणत करनेवाली, सब सुखोंकी खानि और ज्ञान-वैराग्यकी जननी है, ऐसी भक्तिको । भाव यह कि जब तक भगवद्भक्ति न हो, श्री-रामपदमें प्रेम न हो, तबतक कोई कल्याण नहीं हो सकता और प्रेम हो जानेपर कोई कल्याण रुक भी नहीं सकता, विना प्रार्थनाके सब कल्याण अपने-आप उपस्थित होते हैं और अकल्याण भी कल्याणरूपमें परि-णत होते हैं ।

'जानि परिहरहीं'—सर्वकल्याणका त्याग और भक्तिका त्याग एक वस्तु है । कोई भी प्रज्ञावान् जानबूझकर कल्याणका परित्याग नहीं कर सकता । जानबूझकर जिसने कल्याणका परित्याग किया, उसका दोष विना जाने परित्याग करनेवालेसे कहीं बढ़कर है । विना जाने कल्याणका त्याग करनेवाला जानते ही उसका ग्रहण कर लेगा, और जानबूझकर त्याग करनेवालेके पुनः ग्रहणकी सम्भावना भी नहीं है, अतः जान-बूझकर भक्तिके परित्याग करनेवालेका कभी भी कल्याण नहीं हो सकता ।

नोट—१ 'जानि' का भाव कि जो नहीं जानते वे क्षम्य हैं । पर जो जानते हुए भी ऐसी भक्तिको छोड़ते हैं वे 'जड़' हैं । जड़ोंमें चेतनता नहीं होती, न बुद्धि आदि । 'जड़' कहकर उन्हें कलिमलग्रसित विमूढ़ जनाया ।

नोट—२ 'केवल'का भाव कि भक्तिसंयुक्त ज्ञान हो तो हर्ज नहीं, केवल शुष्क ज्ञान जिसमें भक्तिका लेश नहीं उसके ही विषयमें यह दृष्टान्त है । ज्ञान रामभक्ति-संयुक्त हो तब तो वह ज्ञान शोभित ही है—'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू' ।

वि. त्रि.—'केवल ज्ञान' इति । भाव यह है कि बिना उपासनाके ऋतम्भराप्रज्ञा ही नहीं होती । वह

सत्य अर्थका प्रकाश करती है, इसी लिये इस बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है। पहिले उपासनासे ईश्वरमें चित्त एकाग्र होता है, तब उस समय केवल ईश्वर-शब्द ईश्वर-अर्थ और ईश्वर ज्ञान मात्र चित्तमें रह जाता है। फिर धीरे-धीरे ध्यान करनेवाला और ध्यान भी बेपता हो जाता है, केवल ईश्वर अर्थमात्र शेष रहता है, तब सच्चा ज्ञान ईश्वरका होता है। इस अवस्थावाली बुद्धिको ऋतम्भरा कहते हैं सो बिना प्रेमके ईश्वरमें चित्त एकाग्र ही नहीं हो सकता और बिना एकाग्र हुए ऋतम्भरा प्रज्ञा न होगी और बिना ऋतम्भराके ईश्वरका सच्चा ज्ञान हो नहीं सकता; इस लिये कहते हैं कि केवल ज्ञान श्रम है।

सगुण ब्रह्ममें चारों प्रकारकी समाधि होती है—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। भगवान्‌का स्थूलरूप विराट् है, अतः उसमें सवितर्क और निर्वितर्क समाधि होती है। और, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर सूक्ष्म रूप है, क्योंकि सूक्ष्मताका पर्यवसान अलिङ्ग (प्रकृति) तक है। अतः हिरण्यगर्भ और ईश्वरमें सविचार और निर्विचार समाधि होती हैं। निर्विचारमें निर्वितर्ककी भाँति अर्थमात्रका निर्भास रह जाता है। सवितर्कका स्थूल विषय है और सविचारका सूक्ष्म। यही दोनोंमें भेद है। निर्विचार समाधिके निर्मल प्रवाहसे ही अध्यात्मप्रसाद होता है, वहाँ ऋतम्भराप्रज्ञा होती है, उसीसे ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है। भक्तिसे ये सब बातें अपने-आप होती हैं। प्रेममें ही यह सामर्थ्य है कि वह प्रेमीको प्रेमास्पदके सन्निकट विना जाने भी लिये चला जाता है।

'श्रम करहीं'—बिना भक्तिके ज्ञान चाहनेवाले कितना बड़ा परिश्रम करते हैं यह 'ज्ञानदीपक'—प्रसंगमें देखियेगा। उसपर भी विघ्नबाहुल्यसे उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। इसी लिये फल-प्राप्ति न कहकर 'श्रम करहीं' कहा।

पं० रा० व० श०—श्रीमद्भागवत दशम स्कंधमें श्रीब्रह्माजी स्तुति करते हुए कहते हैं कि—'श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम। १४। ४।' अर्थात् समस्त कल्याणरूप आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानके लिये जो क्लेश करते हैं उनको क्लेश ही हाथ लगता है। जैसे कि एक गँवारने एक किसानको देखा कि उसने धानोंको कूटकर उनमेंसे चावल प्राप्त कर उन्हें पकाकर भोजन कर लिया। यह देख उसके जीमें आया कि हम पेटके लिये मजूरी आदि अनेक कष्ट क्यों उठावें, हम भी धान खेतमें पड़ा ही है इसे कूटकर खा लिया करें, खेतमें धानकी भूसी पड़ी ही थी वह उठा लाया और कूटता-कूटता थक गया, हाथमें फफोले पड़ गए। उसमें चावल कहाँ निकले, पर वह कूटता ही गया। इतनेमें बवंडर आया, सब भूसी उड़ गई, उस गँवारके हाथ केवल फफोले ही लगे।

नोट—३ गोस्वामीजीका दृष्टान्त उससे कहीं बढ़कर है।—'कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं०'। घरमें कामधेनु है, उससे जब और जितना दूध चाहें प्राप्त हो सकता है, पर ये मूर्ख हैं कि उसको तो छोड़ दें और दूधके लिये मदारके पेड़ ढूँढ़ते फिरें। कथा यों है कि एक मूर्खने एक मनुष्यको देखा कि वह मदारके पेड़से दूध ले रहा था। यह न समझा कि वह दवाके लिये दूध ले रहा है। बस उसने सोचा कि गौके पालनेमें तो बड़ा बखेड़ा है; घास भूसा खली इत्यादि लाना खिलाना इत्यादि कौन करे, यह उपाय तो बड़ा सहज है, गए और पेड़से दूध ले आए। बस उसने घरकी कामधेनुको तो निकाल दिया और आकसे दूध लेने चला। इतना मदार कहाँ कि खानेभरको दूध मिले, अतः 'खोजता फिर रहा है'। दूसरी मूर्खता यह है कि उसने यह न जाना कि दूध आँखमें लगा कि अंधा ही हो गया। आँख भी गँवा बैठा।

नोट—४ यहाँ भक्ति कामधेनु है, ज्ञान आक है, सुख दूध है; यथा—'जे सुख चाहहिं आन उपाई'।

वि. त्रि.—'कामधेनु गृहत्यागी'—पहले भक्तिके लिये 'जानि परिहरहीं' कह आये हैं। अतएव जो भक्तिको जानता है, भक्ति उसके घरमें है। उसे चाहिए कि उसीकी सेवा करे और लाभ उठावे। उसे कहीं कुछ ढूँढ़ना नहीं है। इतनेपर भी जिसने भक्तिकी उपेक्षा की, उसने मानों घरमें स्थित कामधेनुका त्याग किया।

कामधेनु यथेप्सित अमृतमय दूध जभी चाहो तभी देती है, और उसके अतिरिक्तभी जितनी कामनाएँ हों उन्हें पूर्ण करती है, इसी भाँति भक्ति कामधेनु है। मनचाहा परम कल्याणकर ज्ञान तो देती ही है और भी जो कुछ मनोवाञ्छित है उसे पूर्ण करती है। उस भक्तिद्वारा वास्तव ज्ञान न चाहकर निरुपास्ति ज्ञानकी ओर जो दौड़ता है, उसीके लिये कहा जाता है कि इसने घरमें बसी हुई कामधेनुका परित्याग किया।

श्रीकरुणासिंधुजीने इससे मिलता हुआ यह श्लोक महारामायणका दिया है—'ये रामभक्तिममलां सुविहाय रम्यां ज्ञाने रताः प्रतिदिनं परिक्लिष्ट मार्गे। आरान्महेन्द्रसुरभीं परिहृत्यमूर्खाः अर्कं भजन्ति सुभगे सुख दुग्ध हेतुम्।' अर्थात् हे सुभगे। जो लोग निर्मल, रमणीय रामभक्तिको सर्वथा त्यागकर प्रतिदिन अत्यन्त क्लिष्ट ज्ञानमार्गमें लगे रहते हैं, वे मूर्ख सुरभीको छोड़कर सुखरूपी दूधके लिये आपका सेवन करते हैं।

वि. त्रि.–'खोजत आकु फिरहिं पय लागी' इति। मदारका रस दूध-सा होता है पर स्वाद और गुणमें दूधसे एकदम विपरीत होता। इसी भाँति निरुपास्ति ज्ञानभी रूपरंगमें सोपास्ति ज्ञान-सा ही होता है, परन्तु किसी प्रकारकी समापत्ति (समाधि) न होनेसे ऋतम्भरा प्रज्ञाही नहीं होती। अतः उसमें सोपास्ति ज्ञानका कोई गुण नहीं होता, प्रत्युत उसमें बड़ा भारी दोष आ जाता है। तत्पदवाच्य परमेश्वरकी ओर मन न जानेसे वह तत्पदके शोधनमें भी सर्वथा असमर्थ है और संसारमें ममता रहनेसे त्वं पदवाच्य जीवकाभी शोधन नहीं कर पाता। अतः लक्ष्यार्थकी उसे प्राप्ति ही नहीं हुई, ऐक्य वह किसका करेगा? वाच्यार्थका ऐक्य हो नहीं सकता, अतः मुखसे 'ब्रह्मास्मि' उच्चारण करते रहनेपर भी और सारी प्रक्रिया कण्ठस्थ होनेपर भी उसे कल्पशतमें भी ज्ञान न होगा। उसकी दृष्टि ही नष्ट हो गई। अतः निरुपास्तिज्ञान मदारके दूधकी भाँति हानिकर है। निरुपास्तिज्ञानवालेके लिये अन्तर्मुख होना बड़ा कठिन है, अतः उसके प्रयत्नको 'घरसे बाहर खोजते फिरना' कहा। [श्रीत्रिपाठीजीके मतानुसार पयकी उपमा वास्तवज्ञानसे अर्थात् श्रीराम ब्रह्मके ज्ञानसे है]

सुनु खगेस हरि-भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ३॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥ ४॥

अर्थ—हे पक्षिराज! सुनिए। जो लोग भगवान्‌की भक्तिको छोड़कर अन्य उपायसे सुख चाहते हैं वे शठ हैं। वे मूर्ख महासमुद्रको अपनी जड़ करनीसे विना नावके तैरकर ही पार होना चाहते हैं●। ३-४।

वि. त्रि.—१ (क) 'हरि भगति बिहाई जे सुख चाहहिं' इति। पूर्व बताया कि ज्ञानेच्छुकके लिये भक्तिही उपाय है, अब बताते हैं कि सुख प्राप्तिका भी यही एकमात्र उपाय है। मिलान कीजिए—'रघुपति भगति बारिछालित चित बिनु प्रयास ही सूझै। तुलसिदास यह चिदबिलास जग बूझत-बूझत बूझै।', 'सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो। हरिपद बिमुख लह्यो न काहू सुख सठ यह समुझु सबेरो॥ बिछुरे ससि रबि मन नयननितें पावत दुख बहुतेरो। …' (विनय)। (ख) 'जे सुख चाहहिं' इति। सुख तो सभी चाहते हैं पर सबको सुखका चाहनेवाला नहीं कह सकते। जो जान बूझकर भी दुःखदायक वस्तुको गलेमें बाँधे फिरता है, उससे छूटनेका प्रयत्न नहीं करता उसे सुख चाहनेवाला कैसे कहें। यथा 'जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिपतिजाल अरुझान्यौ। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहू नहि जान्यौ।' (विनय)। जो सचमुच बिपत्तिजालसे छूटकर सुख चाहता है वही वस्तुतः सुख चाहनेवाला है। (ग) 'आन उपाई'—सुखके साधनमें जीवमात्र दिनरात लगे हैं पर भजन छोड़ किसी साधनमें सुख नहीं। यथा 'नाहिंन आवत आन

● वै०—'ये ब्रह्मास्मीति नित्यं वदति हृदि विना रामचन्द्रांघ्रिपद्मम्। ते बुध्यास्त्यक्तपोतास्तृणपरिनिचये सिंधुमुग्रं तरंति॥'—(महारामायणे)। पुनः, यथा—रुद्रयामले—'ये नराधम लोकेषु रामभक्ति पराङ्मुखाः। जपं तपं दया शौचं शास्त्राणामवगाहनम्। सर्वं वृथा विनायेन शृणुध्वं पार्वति प्रिये॥' पुनः यथा सत्योपाख्याने—'विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते।'

भरोसो । यहि कलिकाल सकल साधनतरु है श्रम-फलनि फरोसो ॥ तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो । पायेहि पै जानिबो करम फल भरि-भरि वेद परोसो ॥ आगम विधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो । सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग बियोग भरोसो ॥ काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो । बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥ बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो । गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राजडगरो सो ॥ तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो । राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो ।' (विनय) ।

नोट—१ (क) भाव कि हरिभक्ति छोड़ अन्य किसी उपायसे सुख नहीं मिल सकता । भवसिंधु पार करनेके लिए हरिभक्ति ही पार करनेवाली तरणी है, बिना इसके पैरकर पार पानेकी इच्छा मूर्खता है । (ख) भवसागर (जलादिवाले सप्त) समुद्रोंसे कहीं अगम है अतः उसे महासिंधु कहा । यह सिंधु भवके सामने अति लघु है, यथा—'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं । यह लघु जलधि तरत कति बारा' (लं०) । (ग) यहाँ भव महासिन्धु है, हरिभक्ति तरणी है, योगज्ञानादि अनेक उपाय करना पैरना है, अन्य साधनोंसे भवपार होनेकी इच्छा पैरकर पार पहुँचनेकी इच्छा है, दोनोंकी करनीमें मूर्खता है । सुख होना समुद्र पार होना है ।

२ 'महासिंधु बिनु तरनी···' इति । भवसागरका रूपक आर्ष ग्रंथोंसे पूर्व दिया गया है । बिनय ५६ में भव-सरिताका रूपक इस प्रकार है—'घोर अवगाह भव-आपगा पाप-जल पूर दुःप्रेच्छ दुस्तर अपारं । मकर षड्बर्ग गो नक्र चक्राकुलं कूल सुभ असुभ दुख तीव्र धारं ।' भगवान् और उनकी भक्तिको भवसिंधु तरनेका जहाज कहा है, यथा 'अजहूँ बिचारि बिकार तजि भजु राम जन सुखदायकं । भवसिंधु दुस्तर जलरथं भजु चक्रधर सुरनायकं । वि. १३६ ।' भक्तिके विना भवसिन्धुमें पड़े रहना पड़ेगा, यह पूर्व वेदोंने स्वयं कहा है । यथा 'भवसिंधु अगाध परे नर ते । पद पंकज प्रेम न जे करते । १४ छंद ५ ।'

वि. त्रि.—(क) अन्य साधनोंका भरोसा करना अपनी आत्माको धोखा देना है, अतः ऐसा करने वालेको 'सठ' कहा । यथा 'कपट सार सूची सहस बाँधि बचन परवास । करि दुराव चह चातुरी सो सठ तुलसीदास ।' (ख) 'महासिंधु' इति । देहाभिमान महासमुद्र है । यथा 'कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं । नक्र रागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकलप बीची बिकारं ।' (विनय) । विना इसके पार किये सुख मिल नहीं सकता । और देहभिमान-सागरके पार जानेका एकमात्र साधन भक्ति ही है । (ग) 'जड़ करनी'=विचार विहीन करणी । यदि इसे महासिंधुका विशेषण मान लें तो भाव होगा कि यदि समुद्र चेतनकरणी होता तो अनुनय-विनयसे भी किसी प्रकार प्राण-रक्षाकी आशा की जा सकती थी, पर वह जड़करणी है, अतः उससे किसी प्रकारकी सहायताकी आशा नहीं की जा सकती । (घ) 'पैरि पार चाहत'—भुजबलसे पैरकर जानेमें अनेक आपत्तियाँ हैं, एक तो मनुष्य-शरीरको इतना सामर्थ्य नहीं, दूसरे पर्वतोपम तरंगोंके थपेड़ोंसे बिकल होकर उसके आगे बढ़ना असंभव, यह भी सही तो जल-जन्तुओंका शिकार हो जायगा । इसी प्रकार महासिंधुके तरनेमें कैसाही पुरुषार्थी हो, संकल्प तरंगोंसे विकल हो जायगा, इनसे यदि बचा तो रागद्वेषादिका शिकार बन जायगा ।

नोट—३ पांडेजी 'पैरि पार चाहहिं जड़ करनी' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'पैरकर पार जाना (पहुँचना) चाहते हैं और करनी उनकी जड़ है अर्थात वे हाथ पाँव हिलाते नहीं' ।

सुनि भसुंडि के बचन भवानी । बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी ॥ ५ ॥
तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं । संसय सोक मोह भ्रम नाहीं ॥ ६ ॥
सुनेउँ पुनीत राम-गुन-ग्रामा । तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा ॥ ७ ॥

अर्थ—हे भवानी ! भुशुण्डीजीके वचन सुनकर गरुड़जी प्रसन्न होकर कोमल वाणी बोले । ५ ।

हे प्रभो ! आपकी प्रसन्नतासे मेरे हृदयमें संशय, शोक, मोह और भ्रम नहीं रह गए। ६। मैंने आपकी कृपासे पवित्र श्रीरामगुणग्राम सुने और आपकी कृपासे विश्राम पाया (अर्थात् मुझे शान्ति मिली)। ७।

वि. त्रि.—१ 'सुनि भुसुंडिके बचन…' इति। (क) यह कहकर गरुड़के चतुर्थ प्रश्नकी समाप्ति दिखाई। प्रश्न था—'प्रभु तव आश्रम आए मोर मोह भ्रम भाग। कारन कवन सो नाथ सब कहहु सहित अनुराग। ९४।' उत्तर हुआ कि भजनके प्रतापसे लोमश महर्षिके शापका वरदानरूपमें परिवर्तन ही इसका कारण हुआ। उत्तरके अंतमें भुशुण्डीजीने भजन-प्रताप पर बहुत ज़ोर दिया है अतः गरुड़जीको शङ्का उठ खड़ी हुई। अतः वे पुनः बोले। (ख) 'मृदु बानी'— कोमल वाणी बोलना सन्तस्वभाव है, यथा 'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।', गरुड़जी संत हैं। पूर्वभी कहा है—'कह मृदु बचन खगेसा।'

२ 'तव प्रसाद प्रभु…' इति। (क) 'तवप्रसाद' का भाव कि संशय आदि बड़े-बड़े साधनोंसे नहीं छूट पाते सो आपकी प्रसन्नता मात्रसे न रह गए। आपका प्रसाद अमोघ है। (ख) 'प्रभु' कहा क्योंकि इनको गुरु माना है, यथा 'गुर बिनु भवनिधि तरै न कोई'; अथवा शोक मोह विनाशनमें समर्थ देखकर प्रभु संबोधन किया।

नोट—१ (क) 'गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा। ९५। १।' उपक्रम है और 'सुनि भसुंडि के बचन भवानी।' उपसंहार है। यहाँ तक २० दोहों और तीन अर्धालियोंमें गरुड़जीके चारों प्रश्नोंके उत्तरमें भुशुण्डिवाक्य हैं। (ख) गरुड़की वाणी सुनकर कागजी हर्षित हुए थे, वैसे ही कागजीकी वाणी सुनकर गरुड़जीको हर्ष हुआ। 'गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा' वहाँ और 'बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी' यहाँ। (ग) 'तव प्रसाद'—आगे नोट ४ देखिए।

२ 'संसय सोक मोह भ्रम नाहीं।' इति। गरुड़जीको संशय, मोह और भ्रम और इनसे उत्पन्न दुःख था, यथा—'भयेउ हृदय मम संसय भारी। ६ ९। १।', 'मोहि भएउ अति मोह। ६८।', 'सोइ भ्रम अति हित करि मैं माना। ६९। २।', 'दुखद लहरि कुतर्क', 'खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। २।' ☞ यहाँ उत्तरोत्तर अधिक लाभ दिखाया है—

प्रथम बार—'गएउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपतिचरित। भयेउ रामपद नेह तव प्रसाद बायस तिलक। ६८। 'तव प्रसाद सब संसय गएऊ'।

दूसरी बार—तव प्रसाद मम मोह नसाना। राम रहस्य अनूपम जाना। प्रभु तव आश्रम आये मोर मोह भ्रम भाग। ९४।

तीसरी बार—तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं। सुनेउँ पुनीत रामगुनग्रामा।

३ भुशुण्डि-गरुड़-प्रसंगकी आवृत्तियाँ—(क) प्रथम बार 'रघुपतिचरित' सुनना कहा, दूसरी बार अनुपम रामरहस्य जानना कहा और तीसरी बार 'पुनीत रामगुणग्राम' सुनना कहा। (ख) 'रामचरितसर कहेसि बखानी'। ६४ (७) से 'पुरबरनन नृपनीति अनेका' ६८ (६) तक, अर्थात् ४ दोहोंमें, रामकथा है, यथा—'सुनि सब राम कथा खगनाहा। ६८।८।' उसीको रामचरित कहा है। दूसरा प्रकरण 'तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं। ७०। ५।' से 'भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन। ९२।' तक २२ दोहे ४ अर्धालियोंमें है।—यह 'अनूपम रामरहस्य' है। इसमें प्रभुका यथार्थस्वरूप, उनके बिषयके मोहका स्वरूप, रामजीका सहज स्वभाव, उनकी भुशुण्डिके साथ क्रीड़ा, उसी बालकेलिमें ऐश्वर्यमहिमा और प्रताप तथा प्रभुका निज सिद्धान्त, भुशुण्डिका निज अनुभव और प्रभुके नामरूपादिकी अनंतताका वर्णन है—यह सब गुप्तचरित है, यथा—'पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास। ६९।', 'राम रहस्य मनोहर गावउँ। ७४।१।', 'यह सब गुप्त चरित मैं गावा। ८८। ४।' अतः इस सबको 'रामरहस्य अनूपम' कहा। तीसरी बार गरुड़जीने ४ प्रश्न किए। उनके उत्तर जो 'जप तप मख सम दम ब्रत दाना। ९५।५।' से 'ते सठ महासिंधु बिनु तरनी।…११५। ४।' तक बीस दोहोंमें कहे हैं, उन्हें गरुड़जीने 'पुनीत रामगुणग्राम' विशेषण दिया है।

(इसमें आद्यन्त भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया है, बीचमें कलिके धर्म और उसका पुनीत प्रताप कहते हुए 'विमल रामगुणगणगान' और 'रघुपतिचरणमें अति प्रीति' से कालधर्मका न व्यापना दिखाया। फिर अपने प्रसंगसे रामभजनका प्रताप दिखाया कि शाप होकर फिर दुर्लभ वरकी प्राप्ति हुई। अर्थात् इस प्रसंगभरमें रामभजनका प्रताप ही वर्णित है। कालके अपुनीत धर्मभी इससे नहीं व्यापते। अतः इस प्रसंगभरको 'पुनीत रामगुणग्राम' कहा)। (ग) चरितसे संदेहनाश, रहस्यसे मोह और भ्रमका नाश तथा रामप्रतापका हृदयमें आना, और पुनीत रामगुणग्रामसे संशय, शोक, मोह और भ्रम सबका नाश कहा।

४ 'तवप्रसाद' की आवृत्ति सबमें है। पहली बार 'तब प्रसाद मम संसय गयऊ', दूसरी बार 'तवप्रसाद मम मोह नसावा' और अबकी भी 'तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं।...'

☞ अब रघुनाथजीके विषयमें कोई संदेह नहीं रह गए। श्रीरामबंधनसे चार बातें जो उनके हृदय में आ प्राप्त हुई थीं वे सब चली गईं। यह तो हुआ पर इसका फल अभी मिलना बाक़ी है—'रघुपतिपदप्रेम'।

५—संशय, शोक, मोह और भ्रम। प्रायः ये सब पर्य्यायवाची हैं पर चारों एकसाथ प्रयुक्त हुए हैं अतः उनमें सूक्ष्म भेद होना निश्चित है। इनके भेद पूर्व कई बार लिखे जा चुके हैं। बाल मं० सो० ५, १। ३१। ४ देखिए।

वै०—संशय=पदार्थका अनिश्चय। शोक=दुःख। मोह=मायाद्वारा जीवका अंधा हो जाना। भ्रम=झूठेको सचा मान लेना।

करु०—मुनीश्वरोंसे सुना था कि श्रीरामचन्द्र परब्रह्म हैं, फिर नारदजीसे रणमें उनका बंधन सुना इससे संशय हुआ। मुनीश्वरोंका कहा हृदयसे जाता रहा, उसकी कल्पनासे शोक हुआ। बंधन निश्चय किया यह मोह है और परब्रह्ममें प्राकृतभावरोपण भ्रम है।

वि. त्रि.—२ (क) संसय सोक...' इति। उभयकोटि-अवलंबी ज्ञानको संशय कहते हैं, यथा 'सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रताप कछु नाहीं'। इष्टके नाशसे जो दुःख होता है उसे शोक कहते हैं। अज्ञान को मोह और विपरीत ज्ञानको भ्रम कहते हैं। (ख) 'सुनेउँ··तुम्हरी कृपा' इति। जैसे गरुड़जीने उत्कण्ठावश रामकथा सुनानेके लिये बारबार प्रार्थना की थी वैसेही बारबार कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यथा 'अब प्रभु कथा सुनावहु मोही। बारबार बिनवौं प्रभु तोही।', 'सुनेउ सकल रघुपति चरित', 'सुनेउँ पुनीत रामगुनग्रामा'। (ग) श्रीरामचरित देखनेसे मोह और सुननेसे शान्ति होती है यह बात उमा और गरुड़ द्वारा सिद्ध हुई। भुशण्डीजीने श्रोताका संकोच मिटानेके लिये अपने मोहका भी वर्णन किया, इत्यादि। पर गरुड़जी कहते हैं 'सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा', वस्तुतः भक्तोंके चरित्रमें भगवान्‌के गुणग्रामकाही वर्णन रहता है, यही बात यहाँ 'सुनेउँ रामगुन ग्राम' कहकर जना दी।

३ 'गुन ग्रामा'—यहाँ 'गुणग्रामा' कहकर बहुवचनका प्रयोग किया। गुणग्राम गुणोंके समूहको कहते हैं। स्तुतिमें गुणसमूहका कीर्तन होता है। रामचरितमें उल्लेखयोग्य गुणग्रामोंका संकीर्तन छब्बीस स्थानोंमें है और छब्बीस विशेषण (जो बालकांडके बत्तीसवें दोहेमें वर्णित हैं—'जगमंगल गुनग्राम रामके' इत्यादि) छब्बीसों गुणग्रामोंमें क्रमशः भली भाँति लागू होते हैं। यथा ब्रह्मस्तुतिके साथ 'जग मंगल गुन ग्राम रामके' कहना भली भाँति बैठ जाता है। जगमंगलके लिये ही स्तुति हुई और उसका परिणाम भी जगमंगलमयही हुआ। इसी भाँति भगवान्‌के श्रीमुखसे उपदेश पाकर पुरवासी कृतार्थ हुए। तब उन लोगोंने स्तुति की। यह पचीसवीं स्तुति है। इसका सम्बन्ध पचीसवें विशेषण 'पावन गंग तरंगमाल' से है। पावन होना ही कृतार्थ होना है।

४ (क) 'तुम्हरी कृपा–यह यहाँ देहली दीपक न्यायसे प्रयुक्त हुआ है। भाव कि संशय शोकादिका-दिका मिटना, रामगुणग्राम-श्रवण और विश्राम-प्राप्ति तीनों बातें आपकी कृपासे हुईं। (ख) 'लहेउँ बिश्रामा'—भाव कि संशयवालेको विश्राम नहीं मिलता, उसकी दशा सर्पदंशित मनुष्यकी भाँति हो जाती है।

सर्पदंशितकी भाँति संशयीको दुःखद कुतर्ककी लहरें उठती हैं, उसे न इस लोकमें सुख है न परलोक में। यथा 'संसय सर्प ग्रसेउ उरगादा। दुखद लहर कुतर्क बहु ब्राता॥ तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जियाएउ जन सुखदायक।' पहले तो 'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा' और अब हर्षित होकर मृदुवाणी बोलते हैं; अतः कहते हैं कि 'लहेउ बिश्रामा'।

'ज्ञानहि भक्तिहि अंतर केता'—पाँचवाँ प्रश्न और उसका उत्तर।

एक बात प्रभु पूँछौं तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥ ८॥
कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥ ९॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गुसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥१०॥
ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥११॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। हे दयासागर! (वह) मुझे समझाकर कहिए।८। सन्त, मुनि, वेद और पुराण कहते हैं कि ज्ञानके समान दुर्लभ कुछ भी नहीं है। ९। हे गोस्वामि! वही (ज्ञान) मुनिने आपसे कहा पर आपने भक्तिके समान उसका आदर नहीं किया। १०। हे दयाके स्थान, प्रभो! ज्ञान और भक्तिमें कितना अन्तर (=बीच, भेद) है? यह सब मुझसे कहिए।११।

नोट—१ 'एक बात'। भाव कि पूर्व चार प्रश्न किए,—('कारन कवन देह यह पाई', 'रामचरित सर कहँ पाया', 'महाप्रलयमें भी आपका नाश नहीं होता, यह किस कारणसे', और 'आपके आश्रममें आते ही मोहभ्रम भाग गए, इसका क्या कारण है?') उनका उत्तर सुनकर एक शंका और उपस्थित हो गई है और यह शंका भी 'एकही' है, भारी है, अतः इसे पूछता हूँ। तथा यह एक संशय और है; इसे भी पूछता हूँ। ['प्रभु' का भाव कि आप गुरु हैं, समर्थ हैं। गुरुसे बात छिपानेसे निर्मल विवेक नहीं हो सकेगा। यथा 'होइ न बिमल बिबेक उर गुरु सन किये दुराव।' गुरु कृपानिधि होते हैं। बारबार समाधान करनेपर भी शिष्यके हृदयमें सन्देह उठनेसे गुरु कृपा करके पुनः पुनः समाधान करनेमें उद्विग्न नहीं होते—'बिगरी सुधारै कृपानिधिकी कृपा नई'। (वि० त्रि०)] बारंबार प्रश्न करते हैं; अतः 'कृपानिधि' आदि विशेषण देते हैं कि इनका उत्तर देकर आप मुझे अनुगृहीत करेंगे, मुझपर आपकी यह बड़ी दया होगी। 'कहहु बुझाइ' का भाव कि संक्षेपसे तो इस शंकाका भी उत्तर 'जे असि भगति जानि परिहरहीं।...पैरि पार चाहहिं जड़ करनी' में दे दिया है, फिर भी मुझे भ्रम है; अतः मुझे समझाकर कहिए। 'मोहि' का भाव कि अन्य श्रोता बहुत दिनोंसे कथा सुनते आ रहे हैं, अतः उन्हें सब विषय अभ्रान्त हैं, वे संक्षेपमें समझ सकते हैं। मैं नया श्रोता हूँ, अतः समझानेकी आवश्यकता है।

२ 'कहहिं संत मुनि....' इति। (क) संतही वेदपुराणोंसे उपयुक्त सार लेकर सर्वहितके लिये उसका प्रचार करते हैं। यथा 'बेद पुरान उदधि घन साधू'। और रागद्वेषरहित, तपस्वी, मनुष्य समाजसे पृथक् वनमें रहनेवाले मुनि हैं। यथा 'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं'। अतः संत और मुनिके आप्त होनेमें संदेह नहीं है और आप्तोंका वाक्य प्रमाणरूपसे गृहीत होता है, सो वे लोग ऐसा कहते हैं। वेद स्वतः प्रमाण हैं और पुराण भी वेदार्थके उपबृंहण (पुष्ट) करनेसे पंचम वेद कहलाते हैं, ये भी परतः प्रमाण हैं। इन दोनोंके वाक्य आप्तवाक्य हैं। पुराण और वेदोंमेंही अज्ञातार्थ ज्ञापकत्व है। सो ये भी यही कहते हैं। भाव कि इस बातमें सबकी एकवाक्यता है। (ख) 'नहिं कछु दुरलभ'—भाव कि जगतमें दुर्लभ वस्तुका ही मूल्य है और उसका जगत्में आदर है। ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, यथा 'ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना', अतः सबसे अधिक मूल्य मोक्षका है, क्योंकि वह अति दुर्लभ है; यथा 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद', 'ज्ञान क पंथ कृपान कै धारा' (वि. त्रि.)।

३ सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ', यथा—'लागे करन ब्रह्म उपदेसा०'। इससे निर्गुण मत, ब्रह्म-उपदेश

इत्यादि और ज्ञानको पर्य्याय जनाया। 'सोइ'=दुर्लभ ज्ञान। मुनि=महर्षि लोमश। 'तुम्ह सन' अर्थात् तुम परम अधिकारी थे। ज्ञान प्रदानमें ये तीनों (ज्ञान, गुरु और अधिकारी) बातें आवश्यक हैं। जहाँ ये तीनों उत्तम एकत्रित हों वहाँ अनादरके लिये कोई कारण नहीं है। (वि. त्रि.)]

मा. म., रा. प्र.—'नहिं आदरेहु०' का भाव कि सन्त, मुनि, वेद और पुराणोंके मतसे आपका मत विरोधीसा जान पड़ता है। क्या सन्तोंने भूलसे ज्ञानकी श्रेष्ठता प्रतिपादन की है? यह बात तो मेरे मनमें नहीं आती; अतः बताइए कि क्या कुछ इनमें भेद है? यदि है तो सब भेद कहिए।—['नहिं आदरेहु' कहा; क्योंकि उसे सुनतेभी न थे और उसमें उत्तर प्रत्युत्तरभी करते रहे, यह अनादरका स्वरूप है। भुशुण्डीजीने स्वयं कहा है कि 'मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ'। 'भगति की नाईं' का भाव कि जब राममंत्र और बालकरूपका ध्यान बताया तब उसे मन लगाकर सुना।]

नोट-४ 'सकल कहहु'—यहाँ साधारणतया तो एकही बातका प्रश्न है कि 'ज्ञान और भक्तिमें कितना अंतर है?' तब 'सकल'-पद देनेका क्या तात्पर्य है? भुशुण्डीजीके उत्तरसे इसका समाधान हो जाता है। वह इस तरह कि—'नहिं आदरेहु भगति की नाईं' यह कहो, 'अंतर केता' यह कहो, तथा 'केता' कितना है, कितनी प्रकारका है, वह सब कहो। सकल अर्थात् दोनों शंकाओंका उत्तर कहो और सकल अंतर कहो। दोनों बातें उत्तरमें हैं। तीन प्रकार (लिंग-भेद-द्वारा, साधनकी सुगमता-कठिनता-द्वारा और दीपक-मणि-के रूपक द्वारा), से अंतर दिखाया गया है और आदर न करनेका हेतुभी अलगसे कहा गया है—'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने'।

वि० त्रि०—(क) 'अंतर केता...' इति। भाव कि जाननेको ज्ञान और प्रेमको भक्ति कहते हैं। यहाँ जो ज्ञेय है वही परम प्रेमास्पद है। उसी आनंदसिंधु सुखराशि रामको जाननेको ज्ञान कहते हैं। आनन्दानुभूति और प्रेम दो पृथक् वस्तु नहीं जान पड़तीं। जहाँ आनंद है वहीं प्रेम है, जहाँ प्रेम है वहीं आनंद है। देखनेमें तो ज्ञान और भक्तिमें पूरा-पूरा समानाधिकरण मालूम पड़ता है। मुझे अन्तर कुछ मालूम नहीं पड़ता। (ख) 'सकल कहहु'—भाव कि आपके बर्तावसे साधन और सिद्धि दोनोंमें अन्तर मालूम पड़ता है। साधनमें अन्तर है, इसलिये आपने मुनिके उपदेशको न सुना और सिद्धिमें अन्तर है इससे निर्गुणमतको दूरकर सगुणका निरूपण किया। अतः साधन या सिद्धि जहाँ जहाँ अन्तर हो सो सब कहिए। (ग) 'कृपानिकेता'—विनिमयमें कुछ न चाहकर अमूल्य उपदेश देनेका कष्ट सिवा कृपानिकेतके और कोई स्वीकार नहीं कर सकता, अतः कृपाका घर कहा।

सुनि उरगारि बचन सुख माना। सादर बोलेउ काग सुजाना॥ १२॥
भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संभव खेदा॥ १३॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंग बर॥ १४॥

अर्थ—सर्पोंके शत्रु गरुड़जीके वचन सुनकर सुजान कागभुशुण्डीजीने सुख माना और आदरसहित बोले। १२। भक्तिमें और ज्ञानमें कुछ भेद नहीं है। दोनों संसारजनित दुःखको हरण करते हैं। (अर्थात् भवहरणसामर्थ्य दोनोंमें है। इस विचारसे इस विषयमें दोनोंमें भेद नहीं है)। १३। हे नाथ! मुनीश्वर लोग कुछ अन्तर बताते हैं। हे पक्षिश्रेष्ठ! उसकोभी सावधान होकर सुनिए। १४।

नोट—१ (क) संशय सर्प है जैसा कि गरुड़जीने कहा है, यथा—'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता'। संशयको निर्मूल करनेके लिए यह प्रश्न है, अतः यहाँ 'उरगारि' और आगे 'पन्नगारि' सम्बोधन है। (पं.रा.व.श.)। (ख) 'सुनि सुख माना'—मर्मके समझनेवाले श्रोताको पाकर वक्ता सुखी होता है। गरुड़जीके वचन सुननेसे यह मालूम हुआ कि वे उनके उपदेशको यथावत् धारण कर रहे हैं। जहाँ कहीं तनिक सी भी बात बैठनेमें रुकती है, तुरन्त प्रश्न कर बैठते हैं। हमारे अविनयपर प्रश्न हो रहा है, यह समझकर रुष्ट न हुए, प्रत्युत

परहितैक व्रत भुशुंडिजीने संशयोच्छेदनका पुनः अवसर पाकर सुख माना। यह कृपानिकेतता दिखाई। 'सादर बोलेउ'—गरुड़जीकी तीव्र जिज्ञासा तथा अपने प्रति पूर्ण आस्था देखकर आदरसहित बोले। यहाँ गरुड़-जीका आदर रघुनाथजीके प्रिय दास होनेके नाते हो रहा है। उनके हृदयको रामप्रेमसे सरस देखा कि ये इस प्रकार प्रश्न करके भक्तिका सविस्तर वर्णन सुनना चाहते हैं। 'काग सुजाना'—गरुड़जीकी वाणी, मति, गति और भक्तिको पहचानकर उनका आदर किया है, अतः 'सुजान' कहा। (वि० त्रि०)।

२'भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा।' इति। संसार छूट जाना दोनोंसे होता है, भवदुःख मिटनेमें दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं। इसपर शंका होती है कि 'तब आदर क्यों न किया ?' इसीकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि जो मुनीश्वर हैं जिन्होंने शास्त्रसिद्धान्त ठीक मनन कर पाया है, वे कुछ अन्तर बताते हैं। (पं.रा.व.श.)।

रा. शं. श.—'नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर' इति। गरुड़जीने ज्ञानके विषयमें संतों मुनियोंका प्रमाण दिया—'कहहिं संत-मुनि-बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना'; अतः इन्होंने उसकाभी समर्थन किया।

रा० प्र०—ज्ञान और भक्ति भेद नहीं क्योंकि जैसे ज्ञानमें 'देख ब्रह्म समान सब माहीं', वैसेही भक्तिमें 'सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।' तथा 'निज प्रभुमय देखहिं जगत०'। भेद इतना मात्र है कि भक्तिमें 'मैं सेवक, मैं जीव' यह भाव है, भक्त पृथक् रहता है।

पं०—भाव यह कि हमारा पक्ष तो यह है कि दोनोंके फलमें कुछ भेद नहीं है।

मा० म०—ज्ञानद्वारा त्रिपादविभूति प्राप्त होती है और भक्ति द्वारा साकेत प्राप्त होता है, यह भेद है। परन्तु जन्ममरणको ज्ञान और भक्ति दोनों हरण करते हैं इस कारण अभेद है। ब्रह्म चतुष्पाद है, यथा श्रुतिः—'पादोऽस्यसर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि'। एक पादमें सारी सृष्टि स्थित है और तीन अमृतस्वरूप (निराकार) हैं; वह ज्ञानद्वारा प्राप्त होता है जिसे कैवल्य मुक्ति कहते हैं अर्थात् तुरीयावस्थामें जीव प्राप्त होकर 'ब्रह्मसंज्ञक' होता है। परतम श्रीरामचन्द्र त्रिपादसेभी परे हैं।

करु०—मुनीश्वर क्या भेद कहते हैं सो आगे ज्ञानदीपक-प्रसंग भरमें कहेंगे। वह तीन हैं—(१) सबाध्य अबाध्य। ज्ञान सबाध्य है, भक्ति अबाध्य है। (२) काठिन्य सरल। ज्ञानमार्ग कठिन, भक्तिमार्ग सरल। (३) निरस सरस।—ज्ञानकी मुक्ति निरस है, भक्तिकी सरस है।

वै०—अर्थात् 'साधन स्वरूपता स्वभाव सहचरादिमें अन्तर है। ज्ञानके सहचर एकान्त, बनवास, असंग, असंग्रहादि दुःखद हैं, भक्ति सहचर नामरूप-लीला-धामादि सुखद हैं।

वि० त्रि०—(क) 'भगतिहि...' इति। भाव कि यथार्थ ज्ञान और संवादी भ्रम ही क्रमशः ज्ञान और भक्ति कहा जाता है। ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होना तत्वज्ञान है और उसकी उपासना संवादी भ्रम है। दोनोंमें भेद नहीं है। मणिप्रभामें मणिबुद्धि होना यद्यपि भ्रम है तथापि उसकी प्राप्तिको दौड़ते हुए पुरुषको मणिप्राप्ति होती है। अतः मणिप्राप्तिरूपी फलके समान होनेसे अभेद कहा। (ख) 'भव संभव खेदा'—संसाररूप वनमें दुःख ही दुःख हैं, अतः 'खेदा' बहु बचन कहा। विनयके 'संसार कांतार अति घोर गंभीर...' पद ५९ में इसके दुःखोंका सुंदर चित्र है। (ग) 'कछु अंतर'—भाव कि वह अन्तर सूक्ष्म है, सबको नहीं मालूम पड़ता, मननशीलोंको ही कुछ अन्तर दिखलाइ पड़ा है।

पां०—'सावधान सुनु' कहनेका कारण कि अभी गरुड़की दृष्टि कुछ ज्ञानकी ओरही बनी हुई है। 'सावधान'=मन बुद्धि चित्त लगाकर।—(क्योंकि ज्ञान और भक्तिका भेद सूक्ष्म और गहन विषय है। किंचित् भी अनवधानता होनेसे समझमें न आयेगा।

नोट—३ पूर्व कह आए कि भक्ति घरमें बँधी हुई कामधेनु-पयवत् है और ज्ञान आक-दूधवत है, यथा—'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं। ते सठ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक

फिरहिं पय लागी'—और यहाँ, दोनोंमें अभेद कहते हैं। यदि कहो कि वहाँ भक्तिरहित शुष्क ज्ञानको आकपय कहा और यहाँ भक्ति-सहित-ज्ञान अर्थात् अभेदभक्तिवाला निर्गुन ज्ञान है तो यह भी नहीं कह सकते—यह आगेके ज्ञानप्रकरणमात्रसे स्पष्ट है। क्योंकि यदि यह भक्तियुक्त होती तब आगे यहभी न कहते कि 'अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी' और न यह कहते कि 'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरियाईं'। भक्तिके साथ ज्ञान हो तब तो सोनेमें सुहागा है क्योंकि 'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा'। तब यह कैसे कहते हैं कि भेद नहीं है? यहाँ 'भेद नहीं है', यह कहकर फिर 'उभय हरहिं भवसंभव खेदा' कहकर जनाया कि भवहरणशक्तिमें दोनोंमें अभेद है। जिसमें भेद है वह आगे कहते हैं।

नं० प०—'(समाधान) केवल ज्ञानका अर्थ है शुष्क ज्ञान कि जिसमें भक्ति नहीं है; अर्थात् जीव ही ब्रह्म है (जिसमें ऐसा माना जाता है)। इसलिये उसे मदारके दूधके समान कहा। और, 'ज्ञानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा' यह ज्ञान भक्तिके सहित हैं, अर्थात् जिसको अभेद भक्ति कहते हैं और निर्गुन ज्ञान कहते हैं जिससे चारों मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं और सगुण भक्तिको भेद भक्ति कहते हैं। (प्रमाण) 'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा। ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ।' अतः निर्गुण ज्ञानको भक्तिसे अभेद कहा और केवल ज्ञानको मदारके दूधके सदृश कहा है, ज्ञान भक्तिका अन्तर कहा है।

ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥ १५॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥ १६॥

अर्थ—हे हरिवाहनजी! सुनिए। ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान ये सब पुरुषवर्ग (पुल्लिंग) हैं। १५। पुरुषका प्रताप सब प्रकार प्रबल होता है और अबला (स्त्री) स्वाभाविकही निर्बल और जड़ जाति (जड़ प्रकृति) होती है●। १६।

वै०—'पुरुष'। भाव कि इनको करनेवाला अपनेको पुरुष मानता है। अर्थात् अपने पुरुषार्थका बल रखता है।—'सहज', क्योंकि उसका नाम ही 'अबला' है। (रा० प्र०)

वि. त्रि.—१ (क) ज्ञान दो प्रकारका है—परोक्ष (ब्रह्मको सबमें समान देखना) और अपरोक्ष। वैराग्य भी दो प्रकारका है—वशीकार (देखे और सुने हुए भोगोंसे तृष्णारहित होना) और परवैराग्य (पुरुषके साक्षात्कारसे गुणोंमें तृष्णारहित होना)। चित्तवृत्तिका निरोध योग है। यहाँ विज्ञानसे अपरोक्ष ज्ञान समझा जायगा, यथा 'दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी।' [ज्ञान, विज्ञान आदिके सम्बन्धमें पूर्व कई बार लिखा जा चुका है। ८४ (१) में देखिए। (मा. सं.)] (ख) 'ए सब पुरुष'—भाव कि चेतन पुरुष और जड़ प्रकृति के योगसे ही सृष्टि बनी है, अर्थात् चेतन और जड़की ग्रंथि अथवा अभिमान ही जगत्का मूल है। इस ग्रंथिके छूटे बिना जगतका निस्तार नहीं, अतः ज्ञान, बिराग, योग, विज्ञान ये सब इस ग्रंथिको तोड़कर मोक्ष देनेवाले हैं। अतः बड़े स्वात्मावलम्बी पुरुषार्थी हैं, पुरुषपदवाच्यके योग्य हैं। ये मायाके प्रतिद्वन्द्वी हैं। अतः इनकी चेतनमें ही गिनती है।

वै०—भाव कि वह सब आचरणसे स्वभावसेही अबल रहती है, पुरुषोंके सन्मुख नहीं होती, उनसे डरती है, उनके अधीन रहती है—यद्यपि ऐसा है तो भी वह स्वभावसे जड़ होती है, सब डाँट-फटकार सह लेती है, पर जिस बातका हठ पकड़ती है वही करती है, हानिलाभादि कुछ विचार नहीं करती; इसीसे पुरुष इससे जीत नहीं पाता।

वीर—'अबला' और 'अबल' में पद अर्थ दोनोंकी आवृत्ति 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है।

● अर्थान्तर—जड़ जाति अबला स्वभावसे ही निर्बल है। (वि. त्रि.)

वि. त्रि.—२ (क) 'पुरुष प्रताप प्रबल...' इति। प्रताप स्वावलम्बी पुरुषार्थीके हिस्सेकी वस्तु है। प्रतापसे दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाता है। यथा 'श्रीरघुबीरप्रताप ते सिंधु तरे पाषान।' ज्ञान विरागादि भी प्रताप है। उनके रहनेसे ही मोह भाग जाता है। यथा 'सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहि जाके'। 'प्रबल' अर्थात् चित-जड़की ग्रन्थितक छोड़नेमें समर्थ है; यथा 'गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतनकी, छोर्‍यो अनायास साधु सोधक अपानको।' (गी०)। (ख) 'अबला जड़ जाती'—जैसे चेतन को पुरुष कहते हैं वैसे ही जड़जातिको अबला कहते हैं। जड़ प्रकृति या माया है। जैसे ज्ञानादि ग्रंथिको छुड़ानेवाले हैं वैसे ही मोहादि ग्रंथिको दृढ़ करनेवाले हैं। अतः इनकी भी गिनती जड़ जातिमें है। यथा 'काम क्रोध मद लोभ सब प्रबल मोह की धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि।' सहज निर्बलता द्योतन करनेके लिये ही बहुतसे पर्यायोंके रहते हुए भी 'अबला' पद दिया। (ग) 'सहज अबल'—भाव कि प्रकृति या मायाको बल नहीं है—'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।' यह वृत्ति रूपी ज्ञानसे नष्ट हो जाती है अतः सहज निर्बल कहा।

खर्रा—गोस्वामीजीने ज्ञानादिको पुरुष कहा पर ये नपुंसकलिंग हैं। पर यहाँ शब्दके नपुंसकत्वादि पर तात्पर्य नहीं है, वास्तविक रूप सबका पुरुष ही है।

रा० प्र०—नपुंसक उभयलिङ्ग है इस तरह यह विरोध दूर किया।

दोहा—पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मतिधीर।
नतु कामी बिषया* बस बिमुख जो पद रघुबीर॥
सोरठा—सोउ† मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होइ‡ हरिजान नारि बिष्नु× माया प्रगट॥११५॥

अर्थ—जो वैराग्यवान् और धीरबुद्धि हो वह पुरुष स्त्रीको त्याग सकता है न कि कामी जो विषयों के वश और रघुवीरपदविमुख है। पर हे हरिवाहनजी! (जो विरक्त मतिधीर है) वह ज्ञाननिधान मुनिभी मृगनयनीके चन्द्रसमान मुखको देखकर उसके विशेष वश (वा, बेबस) हो जाता है क्योंकि विष्णुकी माया-का प्रगट स्वरूप स्त्री है [वा, विष्णुकी माया स्त्रीरूपसे प्रकट है।—(पां०)]**

* जो बिषय बस। † सो। ‡ बिकल होहि। × बिस्व—(का०, रा० गु० द्वि०), बिष्नु—(भा०, दा०, पं०)। 'बिस्व' पाठमें अर्थ यह किए गए हैं—१ 'विश्वको रचनेवाली माया स्त्रीरूपसे प्रगट है'। २ 'विश्वमें माया स्त्रीरूपसे प्रगट है। ३ स्त्री प्रकट विश्वमाया है। भर्तृहरिजी शृंगारशतकमें लिखते हैं कि—'एताः स्खलद्वलय संहतिमे खलोत्थ झङ्कार नूपुररवाहृत राजहंस्यः। कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो वित्रस्त मुग्धहरिणी सदृशैः कटाक्षैः।'

** करु०—'बिस्व नारि माया प्रगट'। विश्वमें माया नारिरूपही प्रगट है, जहाँ दृष्टि जाती है वहीं उड़े है (उड़कर पहुँचती, देख पड़ती है)। मन कर्म वचनसे मायामें तनिकभी चित्त जाना यही मृग-लोचनी (का देखना) कहा है, यह ज्ञानियोंके चित्तहीको हर लेती है। और, ऋद्धिसिद्धि इत्यादि मायामें चित्त जाना 'बिधु बदनी' का मुख देखना है। इससे भी चित्त हरण हो जाता है। अतः वे ज्ञान विज्ञानसे च्युत हो जाते हैं क्योंकि वे रामविमुख हैं।

वीर—(क) यहाँ अबला जो स्वाभाविक मूर्ख जाति और निर्बल है वह प्रबल प्रतापी पुरुषोंको सहजही काबूमें किए है। अपूर्ण हेतुसे कार्य पूर्ण होना 'द्वितीय विभावना अलंकार' है। (ख)-'नारि बिस्व माया प्रगट' में स्त्री-उपमेय और माया उपमान है। उपमानका गुण उपमेयमें स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना'

नोट—'पुरुष...नतु कामी विषया बस०' के भिन्न-भिन्न अर्थ किए गए हैं—

पाँ०—'यद्यपि ऐसे पुरुषोंको, कि जिनकी वैराग्यमें मति धीर हो गई है, स्त्री-त्यागकी शक्ति है क्योंकि वह कामी नहीं है और न विषयके विशेष वश है पर रघुबीर-विमुख होनेसे ज्ञाननिधान होते हुए भी बिकल हो जाते हैं सो नारीकी माया विश्वमें प्रगट है।'—[रेखांकित 'क्योंकि' और 'पर' अर्थपर विचार करें]

करु०—ज्ञान विराग योग विज्ञान इन चारको पुरुष कहा, अब इन चारोंके एक-एक विशेषण कहते हैं। पुरुष नारिको त्याग सकते हैं। १—जो विरक्त अर्थात् वैराग्यवान् हो वह मायारूपी नारिको त्याग सकता है। २—जो मतिधीर अर्थात् योगी हो वह त्याग सकता है।—३ 'नतु कामी' अर्थात् जिन ज्ञानियोंको कामना न हो। और, ४—'विषया बिबश' अर्थात् जो बिषयसे अविवश, विषयके वश नहीं, हैं ऐसे विज्ञानी—मायारूपी नारिको त्याग सकते हैं। तहाँ ज्ञान, विराग, योग और वि ान ये चारों अपने सामर्थ्यसे मायाको त्यागे हुए हैं, अपने बलसे मोक्ष चाहते हैं पर हैं श्रीरामपदविमुख! ये चारों मुनि हैं, ज्ञाननिधान हैं पर मृगनयनी चन्द्रमुखी मायाको देखकर विकल हो जाते हैं क्योंकि यह विश्व नारिरूपही प्रकट है, इससे (बचकर) जायँ कहाँ? (बाबा रामदासजी)।

रा० प्र०—'जो मतिधीर पुरुष नारिको त्याग सकते हैं वे सच्चे विरक्त हैं। नहीं तो कामी जो विषयवश और रघुबीरपद विमुख हैं वह विज्ञाननिधान होते हुए भी मृगनयनीका मुखचन्द्र देख बिकल हो जाते हैं। हे गरुड़! रामकी माया विश्वमें नारी रूपसे प्रगट है; वह अलख है, हम सबको तो प्रगट नचाती है और आप गोशे (कोने में) छिपी बैठी है।'

सि० ति०—यहाँ 'तु' पादपूर्तिके लिये है; यथा 'तु हि च स्म ह वै—पादपूरणे' (रूप माला-अव्ययार्थ भाग); अतः 'न' मात्रका अर्थ लेना चाहिए—'नहीं'।

उपर्युक्त अर्थोंपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें 'नतु' और 'सो' के अर्थ ठीक नहीं आए हैं। दूसरे उनमें इन बातों पर विचार नहीं किया गया है कि—१ यहाँ शुष्क ज्ञानका प्रकरण है। उन ज्ञानियोंकी चर्चा है जो रघुबीर-विमुख हैं न कि भक्त-ज्ञानियोंकी। २—विज्ञानीको कामी और विषयवश कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कामी तो विमुख हो या न हो, वह तो विकल होगा ही। मतिधीरके विशेषण 'कामी विषयवश' नहीं हैं—ऐसा न माननेसे 'नतु' पदही व्यर्थ हो जाता है। ३—जो विमुख हैं, जिन्हें पुरुषार्थका बलभरोसा है, जो अपनेको ब्रह्म मानते हैं—उन्हींका यह प्रकरण है। 'मतिधीर' ज्ञानीके लिए अनेक स्थलोंमें (गरुड़जीकेभी संबंधमें) आया है। ४—कामी विषयवशभी यदि रघुबीरकी शरण हों तो उनको माया नहीं व्यापती क्योंकि तब प्रभु स्वयं उनकी रक्षा करते हैं, यह उनका विरद है। यथा 'करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।', 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। गीता। ७। १४।' 'बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू। १। २७०।' 'न त मारे जैहहिं सब राजा। १।२७१।' 'न त येहि काटि कुठार कठोरे। १। २७५।' में 'न त' पाठ है जिसका अर्थ है 'नहीं तो'। 'न तु' का प्रयोग ठीक वैसा ही है जैसा म्लेच्छ-भाषामें 'न कि' का। यदि 'न तु' से केवल 'नहीं' का बोध कराना था तो 'नहि' पाठ देते।

अलंकार है। 'सोउ मुनि...' में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

वि. त्रि.—सब माया स्त्रीमें प्रकट है और जगत्‌में गुप्तरूपसे है। जगत्‌की सृष्टि किसीने देखी नहीं, नाश कोई देख नहीं सकता, पालन करनेवाली शक्तिका दर्शन दुर्लभ है, बहुत बड़े विचारशीलोंको उसका आभासमात्र मिलता है। स्त्रीमें ये सब बातें प्रकट हैं, यहींसे सब मायाका दर्शन होता है। जैसे स्त्रीसे जीवों की उत्पत्ति पालन और नाश होता है वैसेही मायासे संसारकी उत्पत्ति आदि, भेद इतना ही है कि स्त्रीका संबंध व्यष्टिसे है और मायाका समष्टिसे। अविचारसे ही स्त्री रमणीय है, विचारसे घृणित वस्तु, रक्त-मांस मज्जा स्नायु अस्थि चर्मादिका पिण्ड है और दिखाई इतनी सुन्दर पड़ती है। इसी भाँति माया भी दुःखरूपा है और देखनेमें ऐसी आकर्षक है कि संसार इसीमें फँसकर मर रहा है।

पर यहाँ 'तु' ज़ोर (Stress) देनेके लिये ही आया है। मा० पी० का अर्थ गीताप्रेसके विद्वानोंने भी ग्रहण किया है।

वि. त्रि.--१ (क) यहाँ 'मतिधीर' से स्थितप्रज्ञ अभिप्रेत है। अर्थात् ज्ञानयोग-विज्ञानसे युक्त विरक्त पुरुष। भाव कि पुरुष और नारीमें भोक्तृ-भोग्य-सम्बंध है, अतः परस्परमें आकर्षण है, एक दूसरेको छोड़ नहीं सकते, पर ज्ञानादिमें चित्-जड़-ग्रंथि छोड़नेका सामर्थ्य है, अतः एतद्गुणविशिष्ट पुरुष चित्-जड़को पृथक्-पृथक् देखता है, अहंकारकी ग्रंथि उसके लिये खुली हुई सी है, अस्मिता तनु अवस्थाको प्राप्त हो गयी है, अतः उसे भोक्तृ-भोग्य-दृष्टिही नहीं है। (ख) 'नारिहिं'—स्त्रीके समान कोई भी विषय बंधनकारक नहीं है। उसके त्यागसे अन्य सब विषय त्यक्तके समान हैं। जब स्थितप्रज्ञ उसको त्याग कर सकता है तब दूसरे विषयोंकी गणनाही क्या है ? (ग) यह बता देना आवश्यक है कि यहाँ वस्तुतः स्त्री और पुरुष जड़ और चेतन हैं। ज्ञानादि चेतनके धर्म हैं इसीसे उन्हें पुरुष कहा और कामादि जड़के धर्म हैं, इसीसे उन्हें स्त्री कहा।

नोट—'विषया बस' का 'बिषय+अवस' अर्थ इस भ्रमसे किया गया है कि 'विषया' कोई शब्द नहीं है; पर यह बात नहीं है। विषया=विषय, यथा—'बिषया हरि लीन्हि न रहहि बिरसि'—(१०१ छन्द), 'बिषया बन पाँवर भूलि परे' (शिवकृत स्तुति १४ छन्द)। 'बिषया' विषयका बहुवचन है।

वि० टी०—स्थूल देहधारी स्त्रियाँ यद्यपि अबला कहाती हैं तथापि वे अपने रूपसौन्दर्य्यादिसे बड़े-बड़े मुनियों तकको भी अपने वशमें कर लेती हैं तभी तो भर्तृहरिजीने कहा है कि '(याभिः) शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथंताः' अर्थात् जिन्होंने इन्द्रादिकोंकोभी परास्त कर डाला है उन्हें अबला कैसे कहें ? इसी प्रकार सूक्ष्मरूपवाली स्त्रियाँ यथा ऋद्धिसिद्धि आदि येभी प्रायः ज्ञान प्राप्त किए हुए मनुष्यकोभी लोभमें फँसाकर परमात्मासे विमुख कर देती हैं। जैसा आगे कहा गया है।

नोट—'रघुबीर' इति। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामजीने 'प्रकृतिके सारे तूफानोंमें, सम्पूर्ण युद्धोंमें वेदान्तमय जीवन बनाये रखनेका दृष्टान्त दिखाया है। जगत्के, और उस पारके निर्मल वैकुण्ठ धामके अद्वैतवादको जटिलतामय युद्धके वक्षः स्थलपर स्थापित करनेका सामर्थ्य रखनेवाले होनेसे ही 'श्रीराम' वीर हैं। जो ब्रह्मचर्य प्रकृतिके भयसे अपनेको बचानेमें ही व्यस्त है, श्रीराम वैसे ब्रह्मचारी नहीं हैं।...जीवनकी सम्पूर्ण दिशाएँ शक्तिसे भरपूर होकर भी उच्छृङ्खल न हो सकें, श्रीरामजीके जीवनमें विश्वने इसी बातको प्रत्यक्ष देखा है।'—स्वामी श्रीपुरुषोत्तमानन्दजी अवधूतके इन वाक्योंसे यहाँ भाव यह निकलता है कि ऐसे जो वीर हैं, जो उनके सम्मुख होगा उसकी मायासे रक्षा करनेमें वे सदा समर्थ हैं। विमुख होनेसेही जीव मायावश होजाता है।

वि० त्रि०—२ 'बिमुख जो···'—विना भक्तिके अभ्यन्तरका मल जा नहीं सकता और उस मलके रह जानेसे समयपर भोक्तृभोग्यभावके उदय होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। भक्ति बनी रहनेसे मल बराबर धुलता रहेगा और दृक्शक्ति निर्मल बनी रहती है, यथा 'रघुपति भगति बारिछालित चित बिनु प्रयासही सूझै।

वि० त्रि०—३ (क) 'मृगनयनी···' इति। सुंदरतामें ऐसी अपूर्व अमृत-संजीवनी शक्ति है कि वह मरे हुए मनको भी जगा देती है अर्थात् तनूकृत क्लेशभी उदारावस्थाको प्राप्त हो जाता है। यथा 'जागेउ मनोभव मुयेहु मन बन सुभगता न परै कही। सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही···'। (ख) विवश हो जाते हैं, जो नाच वह नचाती है वही नाचते हैं।

वै०—'नारि बिस्व माया प्रगट'। विश्वमें नारिरूप माया प्रकट है। अर्थात् मैं सूक्ष्मरूप मायाका प्रभाव नहीं कहता हूँ वरन् जो संसार भरमें युवतीरूप स्थूल तनसे माया प्रकट है उसका प्रभाव कहता हूँ कि उसीसे पुरुष नहीं बच सकते तब ऋद्धिसिद्धि आदि सूक्ष्मरूपके सामने कौन अटसकता है ?—[यह भाव दोनों पाठोंमें ले सकते हैं]

प. प. प्र.—इन दो दोहोंमें मिलाकर एक सिद्धान्त कहते हैं। विरक्त मतिधीर, आदि गुण सम्पन्न मुनि भी सुन्दर तरुणीको देखकर मायावश हो जाता है इसका कारण 'नारि···माया प्रगट' है। भाव कि यद्यपि

अखिल विश्वका रूप और नाम मायामय है तथापि अन्य विषयोंमें मायाकी शक्ति इतनी प्रगट नहीं है जितनी स्त्री विषयमें प्रगट है। मायाका अत्यन्त प्रकट रूप नारी ही है। यथा 'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि।' देखिए, जन्मसेही तो मायारूपी नारी साथ लगती है। मायारूपी नारी माता ही तो अहंत्व-ममत्वका पाठ पढ़ाती है। इस प्रकार जन्मसे ही स्त्री जीवको मायाके पाशोंमें बद्ध करने लगती है। अन्य विषय जड़ होनेके कारण पुरुषके लिये स्वयं मोहक नहीं हैं। विषयोंका व्यसन भी बहुधा माताकी शिक्षा तथा अनुकरण आदिसे लग जाता है। अन्य विषय पुरुषको मोहित करनेके लिये स्वयं उनके पास नहीं आते हैं। माया स्त्रीरूपमें समीप जाकर पुरुषको अपने हाव-भावसे मोहबद्ध करनेका प्रयत्न करती है।

दूसरे विषयोंका त्याग करनेपर वे दूर रह सकते हैं, पर स्त्रीका त्याग करनेपर भी नारी-जातिके रूपमें माया कामरहित पुरुषोंके पास आकर मुनियोंके मनमें भी विमोह पैदा करनेमें समर्थ होती है। नारदजी तथा विश्वामित्र आदि मुनि जितकाम, विषयविरक्त होनेपरभी स्त्री रूपी मायापाशमें फँसे। नारदजीको मोहित करनेके लिये भगवन्मायाको स्त्रीरूपही बनना पड़ा।

☞ स्त्रीके लिये पुरुषही मायाका प्रबल प्रकट रूप है, यह शूर्पणखा प्रसंगमें स्पष्ट हुआ है। परमार्थ-मोक्ष साधनमें स्त्रियोंकी संख्या अपवादात्मक होनेसे परमार्थ विषयक ग्रन्थोंमें स्त्रियोंकी दारुणताही विशेष रूपसे वर्णित है।

इहाँ न पच्छपात कछु राखौं। बेद पुरान संत मत भाखौं ॥ १ ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति† अनूपा ॥ २ ॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिबर्ग जानै सब कोऊ ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं यहाँ कुछ पक्षपात रखकर नहीं कहता हूँ (वरन) वेदों, पुराणों और सन्तोंका जो सिद्धान्त-मत है वह कहता हूँ।१। हे पन्नगारि! यह अनुपम (अनूठी, अनोखी) रीति है कि स्त्रीके रूपपर स्त्री मोहित नहीं होती। २। और आप सुनें कि माया और भक्ति ये दोनों ही स्त्रीवर्ग अर्थात् स्त्रीलिङ्ग हैं, यह सभी कोई जानते हैं। ३।

नोट—१ 'इहाँ न पच्छपात कछु...' इति। यह स्वभाव प्रायः लोगोंका होता है कि जो जिस मतका होता है उसमें उसका पक्षपात होता है। अतः इस संदेहके निवारणार्थ यहाँ प्रथम ही कहते हैं कि यहाँ ऐसा नहीं है। मैं पक्षपातसे ऐसा नहीं कह रहा हूँ। कारण यह है कि जब कोई जिज्ञासु कोई निर्णय चाहे तब जो सत्य है वही कहना चाहिए और यदि कोई विवाद करने आवे और अपना पक्ष सिद्ध करे तब हठ करके अपना पक्ष सिद्ध करना होता है। (पं० रा० व० श०)। पुनः भाव कि लोमशजीसे पक्षपात किया था पर यहाँ पक्षपात नहीं है। (रा० शं० श०)। लोमश-प्रसंगमें स्वयं कहा है कि 'पुनि पुनि सगुनपच्छ मैं रोपा', 'भगति पच्छ हठि करि रहेउँ। ११४।' इहाँ अर्थात् सन्निकृष्ट, इस प्रसंगमें। भाव कि वहाँ तो महर्षिजीसे उत्तर-प्रत्युत्तर छिड़ गया था, उत्तर-प्रत्युत्तरमें पक्षपात न करनेसे पक्ष गिर जाता है। यहाँ वह बात नहीं है; अतः आदरपूर्वक उत्तर दिया जा रहा है, पक्षपातके समय दूसरेकी बात सादर नहीं सुनी जाती। यथा 'एहि बिधि अमित जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ।' (वि. त्रि.)। (ख) 'बेद पुरान संत मत...' इति। भाव कि वेद स्वतः प्रमाण हैं। पुराण और सन्तमत परतः प्रमाण हैं, अतः इनके वचन यदि वेद-विरुद्ध हों तभी ग्राह्य हैं। वेदपुराणके वचनभी यदि शिष्टगृहीत नहीं हैं तो वे भी अग्राह्य हैं, जैसे मेघसे न ग्रहण किया हुआ समुद्र जल अग्राह्य होता है। जो इन तीनोंका सम्मत है वही अभ्रान्तरूपसे ग्राह्य हो सकता है।

पं० रा० व० श०—'मोह न नारि...' इति। मोहका अर्थ यहाँ कामातुर होना है। अर्थात स्त्री कैसी ही सुंदर स्त्रीको देखे तो उसको कामोद्दीपन नहीं होता। पुरुष स्त्रीको देखकर मोहित अर्थात् कामवश

† नीति—(का०)।

हो जाता है। इसीसे ज्ञानादि पुरुषवाचक माया-स्त्रीको देख मोहमें फँस जाते हैं और भक्ति स्वयं स्त्री है, वह मायापर मोहित नहीं होती। पूर्व जो बाल-कांडमें कहा है कि 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी' वहाँ 'मोहे' का अर्थ है 'मुग्ध हो गए।' वहाँ कामवश होना अर्थ नहीं है।

नोट—☞ २ 'मोह न नारि नारि के रूपा' कहकर यह भी जनाया कि भक्त मायाके साथ रहकरभी उसमें आसक्त नहीं हो सकता और ज्ञानी मायाके साथ रहकर अवश्य उसके फंदेमें एक न एक दिन पड़कर जकड़ जाता है। भक्तको भय नहीं है, ज्ञानीको सदा भय है; इसीसे ज्ञानीको मायाके त्यागकी शिक्षा दी जाती है और भक्तिके समीप तो माया स्वयं डरती है जैसा आगे कहते हैं। भक्त भगवान्‌की शरण रहकर मायासे तर जाता है, जैसा कि भगवान्‌ने कहा है—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। गीता ७। १४।'

वि. त्रि.—स्त्री-पुरुषमें ही परस्पर भोक्तृ-भोग्य-भाव है, अतः पुंशक्ति और स्त्री-शक्तिमें आकर्षण है। सुंदरतासे वह आकर्षणशक्ति बहुत बढ़ जाती है; अतः स्त्रीके रूपपर पुरुष और पुरुषके रूपपर स्त्री मोहित होती है। स्त्री-स्त्रीमें न तो भोक्तृ-भोग्य-भाव है और न आकर्षण है, कारण विना कार्य होता नहीं। अतः स्त्री स्त्रीके रूपपर नहीं मोहित हो सकती। मोहित होनेके लिये भोग्यबुद्धि भी आवश्यक है।

प्रश्न होता है कि 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नरनारी', यह कैसे हुआ? उत्तरके लिये दूर नहीं जाना है। श्रीराम और श्रीसीताजी यदि नर नारी रहें तो रामायण ही व्यर्थ है। रामायण तो राम और सीताके स्वरूपका बोध करानेके लिये है। कहना नहीं होगा भोक्तृ-भोग्य-भाव अविद्या की सीमाके भीतरकी बात है। सब नरनारी, जीवमात्र अविद्यासे मोहित हैं, सब विषयसुखके पीछे पड़े हैं, अविद्या जड़ होनेसे भोग्या है और जीवमात्र (नर और नारी) भोक्तृवर्ग हैं। चेतन होनेसे उनमें भोक्तृत्व है। जब जीवमात्र अविद्यासे मोहित हैं तब सर्वश्रेयस्करी मोक्षदात्री महाविद्या सीताके रूपपर जिसके द्वारा ब्रह्म रामको क्षोभ होता है, मोहित होना कौन आश्चर्य है? यथा 'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा। १। २३१। ३।' नीतिकी गति धर्मार्थकाम तक है, श्रीराम-जानकीजीकी बात नीतिसे परे है, नीतिके पराधीन नहीं है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—तात्पर्य यह कि भक्ति इन्द्रियोंसे की जाती है, इन्द्रियाँ भगवान्‌का अनुभव करती हुई प्राकृत विषयोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सुख पाती हैं, तो वे मायिक विषयोंकी ओर क्यों ताकेंगी? भक्तोंका विषय अपनी कामनासे नहीं होता, भगवान्‌के लिये ही उनकी सब कामनाएँ होती हैं, यथा 'कामं च दास्ये न त कामकाम्यया। भा. ९। ४। २०।' यह अम्बरीषजीके विषयमें कहा गया है। गीता २। ७० में भी यही भाव है। तथा 'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं। २। ८४।'

पर ज्ञान आदि साधनोंमें इन्द्रियोंकी सहज वृत्तियोंको रोकना होता है फिर उन्हें दूसरा कोई वैसा आधार नहीं रहता, इससे वे विषयोंपर बलात् दौड़ती हैं।

नं० प०—'यहाँ ज्ञानादिको पुरुष कहा और भक्तिको स्त्री किन्तु ज्ञान व भक्तिके करनेवालेको स्त्री व पुरुष नहीं कहा गया है।

पं०—भाव कि पुरुषोंको नारि मोहती है और युवतियोंको नहीं। इसी तरह वैराग्य आदिपर माया का विक्षेप पड़ सकता है, अनन्य भक्तिपर नहीं। मैं पक्षपातसे नहीं कहता, श्रुति-स्मृतिका सीधा-सीधा मत कहता हूँ। भक्तिको माया नहीं मोहती, क्योंकि दोनों स्त्रीलिङ्ग हैं।

वै०—'यह नीति अनूपा' का भाव कि इस बातमें लोकोत्तर विशेष पुष्टता है क्यों (जब) नारी-प्रति नारीको कामोद्दीपन होता ही नहीं तब कौन कारणसे मोहित होवे? यह निश्चय ही इसकी अनूपता है।

पं० रा० व० श०—'अनूपा' का भाव कि इसे आबाल वृद्ध सभी जानते हैं।

वि. त्रि.—'यह नीति अनूपा' इति। भाव यह कि हमारे यहाँ नीतिका बड़ा आदर है। नीतिके ज्ञानके लिये धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्रका अध्ययन होता है। अवस्थाविशेषमें धर्मार्थ काममें विरोध

पड़ता है, वहाँ उनका तारतम्य समझकर नीति निर्धारण करना ही विद्याका फल है; अतः अवस्थापरिवर्तनसे नीति-नीतिसे परिवर्तन हुआ करता है। ऐसी कोई नीति नहीं है जो सब अवस्थाओंमें लागू हो। केवल 'मोह न नारि नारि के रूपा' यही नीति ऐसी है कि माया भक्तिसे लेकर लौकिक नारि-नारितक समानरूपेण उपयोगी है। इतना ही नहीं आकर्षण और विप्रकर्षणका सिद्धान्त इस नीतिपर क़ायम है। इस नीतिमें बाध नहीं है। इसीलिये अनूप कहा।

वि० टी०—शास्त्रोंमें मायाके लिए छः व्याख्यायें की गई हैं—(चन्द्रकांतग्रंथसे)।

१—जो वस्तु तीनों कालमें है ही नहीं उसे 'है' ऐसा मानना—माया है।

२—जो जीवके आत्मस्वरूपको अपने आवरणसे आच्छादित करती है।

३—जो वस्तु-यथार्थज्ञान होने पर समूल निवृत्त हो जाती है।

४—कार्य कारण (जगत और परमात्मा) के भेदका कारण।

५—माया वास्तवमें कुछ नहीं है, परन्तु वेदमें आत्माको जगत्का कारण तथा सर्वजगत्रूप कहा है। इससे जगत् कारण सिद्ध होनेके लिए अर्थात् जगत्के उत्पन्न होनेमें परमात्मा आदि कोई भी कारणभूत है, ऐसा निश्चय होनेके लिए मायाकी केवल कल्पनामात्र की गई है।

६—अपने अधिष्ठानमें जो आत्मा है उसके साक्षात् द्वारा जब अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है तब सर्वत्र परब्रह्म भासमान होता है, उसीका यह दूसरा नाम है।

नोट—३ गीतामें भगवान् अपनी गुणमयी मायाको 'दैवी' कहते हैं—'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया...। ७। १४।' श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी लिखते हैं—भाव यह है कि 'लीलाके लिये प्रवृत्त मुझ परमदेवके द्वारा निर्मित है, इसीलिये यह सभीसे दुस्तर है'।...असुरों, राक्षसों और अस्त्रादिकी भाँति विचित्र कार्य करनेवाली होनेके कारण इसका नाम माया है।...अतएव 'माया' शब्द मिथ्या वस्तुका वाचक नहीं है। बाजीगर आदिको भी किसी मंत्र या औषधके द्वारा मिथ्या वस्तुके विषयमें सत्यता बुद्धि उत्पन्न कर देनेवाला होनेके कारण ही 'मायावी' कहते हैं। वस्तुतः वहाँ मंत्र और औषध आदि ही माया है। सब प्रयोगोंमें अनुगत एक ही वस्तुको (माया) शब्दका अर्थ माना जा सकता है। अतः मिथ्या वस्तुओंमें जो माया शब्दका प्रयोग है, वह मायाजनित बुद्धिका विषय होनेके कारण औपचारिक है। जैसे कि 'मचानें चिल्ला रही हैं' यह प्रयोग है। यह गुणमयी सत्य वस्तु भगवानकी माया ही 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेता० ४। १०।' (प्रकृतिको तो माया और महेश्वरको मायावी समझ) इत्यादि श्रुतियोंमें कही गयी है। भगवानके स्वरूपको छिपा देना और अपने स्वरूपमें भोग्यबुद्धि करा देना, इस मायाका कार्य है।'

वि. त्रि.—'माया भगति...' इति। (क) भ्रम दो प्रकारका है एक विसंवादी दूसरा संवादी। रात्रिके समय घरके भीतर जलते हुए दीपकका प्रकाश किसी छोटे छिद्र द्वारा बाहर जा पड़ा। उसे देखकर किसीको मणिका भ्रम हुआ, अतः उसके लिये प्रयत्न करनेवालेको मणिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसे भ्रमको विसंवादी भ्रम कहते हैं। मणिकी प्रभाको देखकर उसे मणि मान प्रयत्न करनेवालेको मणिकी प्राप्ति होती है। प्रभाको मणि माननेवाला भी भ्रममें ही है पर उसका भ्रम संवादी है। माया विसंवादी भ्रम है और भक्ति संवादी है। अतस्मिन् तद्बुद्धि दोनोंमें है। तत्पदका बिना शोधन किये मिश्र ब्रह्मकी उपासना करनेवालेको परमानन्दकी प्राप्ति होती है। (ख) 'नारिवर्ग जानै सब कोऊ'—संस्कृतमें भी माया और भक्तिका स्त्रीलिङ्गमें ही प्रयोग है; इसलिये कहा कि सब कोई जानता है।

पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नरतकी बिचारी॥ ४॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥ ५॥

शब्दार्थ—'खलु'=निश्चय ही। यथा 'खलु खद्योत दिनकरहि जैसा। ६। ६। ६।', 'तव प्रभाव बड़वानलहिं जारि सकइ खलु तूल। ५। ३३।' नरतकी (नर्तकी)=नृत्य करनेवाली, नटिनी।'

अर्थ—पुनः, (फिर, दूसरे, उसपर भी) रघुबीर श्रीरामजीको भक्ति प्यारी है और माया बिचारी निश्चय ही नाचनेवाली नटिनी है। ४। श्रीरघुनाथजी भक्तिके अनुकूल (अर्थात् उसपर प्रसन्न) रहते हैं (जो वह चाहती है वही करते हैं), इसीसे उससे माया अत्यन्त डरती है। ५।

पं०—यदि कहो कि कहीं कहीं स्त्रियोंको भी स्त्री छल लेती है तो उसपर सुनो—'पुनि०'। भाव कि जो स्त्रियाँ दोषवती होनेसे पतिसे त्यागी हुई हों उन्हींपर औरोंका बल पड़ सकता है। पर भक्तिरूपा स्त्री अव्यभिचारिणी है, परम धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र उसके पति हैं। उनकी भक्तिपर कृपा देखकर माया डरती है। इसीको आगे विस्तारसे कहते हैं।

पं० रा० व० श०—भक्ति पटरानीवत् है, प्रभुके बग़लमें बैठनेवाली है। माया नटिनी दासी है; उसका काम है राजाश्रीरघुनाथजीको नृत्य आदि दिखाना। नृत्यादिके कारण राजा उसका कुछ आदर कर दे, पर उसका यह सामर्थ्य कब हो सकता है कि वह राजाकी पटरानी ही पर अपना दख़ल करे, रोब जमावे। रानीके प्रतिकूल काम करते डरती है क्योंकि अभी तो कुछ आदर है फिर वह भी न रह जायेगा। 'भक्ति प्रियो माधवः', ऐसा महर्षिने कहा है। महर्षिने ज्ञानको प्रिय नहीं कहा।

वि. त्रि.—'रघुबीरहि भगति पियारी'—रघुबीरसे सगुण ब्रह्मका ग्रहण किया। भक्ति सती स्त्रीकी भाँति राम ब्रह्मपर अनुरक्ता है, अतः उन्हें प्यारी है। यथा 'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीति। जिन्ह बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी। सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥ जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो। करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो। बिश्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद बिदित यह लीख। बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख। जाको नाम लिये छूटत भव जन्म मरन दुख भार। अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जन्मेउ दस बार। जोग बिराग ध्यान जपतप करि जेहि खोजत मुनि ज्ञानी। बानर भालु चपल पसु पावँर नाथ तहाँ रति मानी। लोकपाल जम काल पवन रबि ससि सब आज्ञाकारी। तुलसिदास प्रभु उग्रसेनके द्वार बेंत कर धारी।

वि. टी.—'माया खलु नरतकी बिचारी'। भाव यह है कि भक्ति पूर्ण-प्रेम-युक्त है और मायाका प्रेम अल्पकालके लिये रुचिकर है। 'डरपति अति माया', यह मायाका डरना भक्तोंके भक्तिचिह्नोंसे विषयी जीवोंके छड़कनेमें प्रत्यक्ष है। भक्तिकी सानुकूलता और मायाकी नटखटीको कबीरजी थोड़ेहीमें बहुत समझा गए हैं—'आगे सीढ़ी साँकरी पाछे चकनाचूर। परदा तर की सुंदरी रही धका दै दूर'।

नोट—१ 'माया खलु नरतकी बिचारी'। (क) नर्तकी है, यथा—'सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा। ७२। २।' सारा ब्रह्माण्ड रचना, ज्ञानियों एवं ईश्वरों तकको मोहित कर लेना, इत्यादि जितना जगत्प्रपंच है यही सब उसका खेल-तमाशा-नाच है। यह अपना नाच वह प्रभुको दिखाती है, यथा—'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे'। प्रभुको प्रसन्न करनेके लिए नित्य नए प्रकारका नृत्य करती है और जबतब प्रभु प्रसन्नभी होते हैं, यथा—'निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला। । १। १३२। ८।' (ख) 'बिचारी'—दासी है, बेबस है, कुछ कर नहीं सकती, इत्यादि भाव दर्शित करनेके लिये 'बिचारी' बिशेषण दिया। भाव कि वह तो वेश्यातुल्य है। (ग)—यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है।

२ मायाकी प्रभुता और नर्तकीका पूरा रूपक रा० प्र० ने यहाँ दिखाया है—'नचावत माया सनकारि नाचत सब नरनारि। तोर मोर कै तारी बाजै गति ही की अनुहारि। उपजै राग-रूप दरसावै लोभ मसलिया बारि॥ काम-क्रोध-मद-दंभ-कपट ए ठाढ़े साज सवारि। पगनि कामना पैजनि झनकत दुरमति पटी ओहारि॥ नव-नव भाव देखावत छिन छिन दूनौ हाथ पसारि। बड़ मसाल कै धूआँ गौजलि आँखि भइलि अँधियारि॥ बहुत रूप धरि नाच नचावत गएउँ जीवसे हारि। देव देव अपनी करुना से लेहु मोहि अब तारि॥'

वि. त्रि. जी लिखते हैं कि माया अनेक भाव बतलाकर पर-पुरुषों-को ठगा करती है। उसकी स्थिति

ही परपुरुषोंको ठगनेपर अवलंबित है। अतः 'नर्तकी' मात्र है।

नोट—३ 'भगतिहि सानुकूल०' इति। (क) 'भक्ति' पर सानुकूलता ठौर-ठौरपर कही गई है। वह इतनी प्रिय है कि प्रभु किसीको भी बिना माँगे अपनी ओरसे उसे नहीं देते और सब कुछ दे देते हैं। सानुकूल हैं इसीसे सदा उसकी रुचि रखते हैं, यथा—'राम सदा सेवक रुचि राखी। २। २१९। ७।', 'भगति अबसहि बसकरी। ३। २६ छंद।' प्रियादासजीने भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमालमें भक्ति महारानीका शृङ्गार यों कहा है—

'श्रद्धाई फुलेल औ उबटनो श्रवन-कथा मैल अभिमान अंग अंगनि छुड़ाइये।
मनन सुनीर अन्हवाय अँगुछाय दया नवनि बसन पन सोंधो लै लगाइये॥
आभरण नाम हरि-साधु-सेवा कर्णफूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये।
भक्ति महारानीको शृंगार चारु बीरी चाह रहे जो निहारि लाल प्यारी गाइये॥

(ख) 'अति डरपति' का कारण है, कि 'जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई। २। २१८। ६।' 'अति' डरना कहनेमें 'अत्यन्तता' गोस्वामीजी शब्दसेभी दिखा रहे हैं, 'डरति' से बड़ा शब्द 'डरपति' दिया है। पुनः, डरनेका कारण यह है कि मायाका कार्य्य भक्तिके प्रतिकूल है, यथा 'देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही। १। २०२। ४।' 'अति डरपति' का भाव कि श्रीरामजीको डरती मात्र है और भक्तिको अति डरती है। भक्ति रघुराजकी प्रिय पटरानी है। राजाकी प्रियाका अनहित कौन कर सकता है। उसकी सुदृष्टि कुदृष्टिसे रंक राव और राव रंक होते हैं। फिर श्रीरघुराज स्वयं उसके सानुकूल हैं, तब किसीका क्या सामर्थ्य कि उसका अनिष्ट कर सके। अतः माया डरती हुई दूर खड़ी रहती है।

वै०—'बिसेषि पियारी' अर्थात् स्वकीया पतिव्रता है। 'माया बिचारी' अर्थात् अनादर रहनेवाली है; क्योंकि नटी है। भाव कि नर्त अर्थात् कौतुकमात्र इससे प्रयोजन है।

राममगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ ६॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥ ७॥
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥ ८॥

अर्थ—उपमारहित तथा उपाधिरहित रामभक्ति जिसके हृदयमें सदा निर्विघ्न बसती है, उसे देखकर माया सकुचाती है, किंचित्‌भी अपनी प्रभुता नहीं कर सकती। ६। ७।' ऐसा विचारकर जो मुनि विज्ञानी हैं वे समस्त सुखोंकी खानि भक्तिकी याचना करते (माँगते) हैं। ८।

पं० रा० व० श०—'निरुपम निरुपाधि' का भाव कि कोई साधन इसकी उपमाको नहीं पहुँचते। सब साधन जिनमें (पिता-पुत्र, सेवक-स्वामि आदि) स्वाभाविक सम्बन्ध प्रभुसे न हो वे उपाधि (उपद्रव) मय हैं। ऋषि लोग कहते हैं कि जीव परमात्माके अधीन हैं, वह परमात्मा नहीं बन सकते, परमात्मा बनते हैं यह उपाधि है। वह परमात्मा सबको वशमें रखनेवाला और सबका पति है, यह सम्बन्ध निरुपाधि है। निर्गुण भक्ति औपाधिक है।

वै०—'निरुपाधि' अर्थात् भक्ति करनेमें धर्मकी चिन्ता नहीं कि कोई धर्मसंकट डाल सके। उपाधि = धर्माचता, यथा—'उपाधिः धर्मचिंता इत्यमरः'। सब धर्म छोड़कर भक्ति करना कहा है—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज', अतः निरुपाधि कहा। अबाधी अर्थात् इसमें कोई बाधा नहीं कर सकता, विघ्नरहित है। (इससे ज्ञात हुआ कि वे 'अबाधी' को विशेषण मानते हैं। पंजाबीजीके मतानुसार 'अबाधी' = अविनाशी।)

नोट—१ 'निरुपाधी' इति। यह शब्द मानसमें अनेक स्थलोंमें आया है। यथा 'हित निरुपाधि सब बिधि तुलसी के। १।१५।४।' 'जग हित निरुपधि साधु लोग से। १। ३२। १३।', 'निजानंद निरुपाधि अनूपा। १। १४४। ५।', 'सिघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि। २। ३२३।' 'उपाधि' शब्दभी आया है; यथा 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी। १। २१। २।', 'जो तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी

। ७ । ११८ । १० ।', 'जद्यपि मैं अनभल अपराधी । मै मोहि कारन सकल उपाधी । २ । १८३ । ३ ।'—इनमें से १ । १५, १ । ३२ में तो 'छल कपट रहित निस्वार्थ सच्चा वा विशुद्ध' अर्थ है । १ । २१ । २ में 'उपाधी' के अनेक अर्थ दिये गए हैं । शेष उदाहरणोंमें 'उपाधी' का अर्थ विघ्न वा उपद्रव स्पष्ट है ।

यहाँ 'निरुपाधी' को विशेषण माननेसे उसका अर्थ निश्छल, निष्कपट, शुद्ध होगा । और 'रामभक्ति निरुपम निरुपाधि है' ऐसा अर्थ करनेसे उसका अर्थ 'निर्विघ्न, विघ्न वा उपद्रवरहित' होगा । वैजनाथजीने जो अर्थ दिया है वह भी इस अर्थमें लग सकता है । रा. प्र. कार 'माया रहित' अर्थ करते हैं । श. सा. में यह भी अर्थ मिलता है ।

वि. त्रि.—'रामभगति निरुपम····' इति । (क) मनुष्योंके श्रेयके लिये चार योग कहे गये हैं—कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग । कर्म और ज्ञानका निर्वाह भक्तिकी सहायतासेही हो सकता है । भक्तिकी उपमा इन तीनोंसे नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मयोग और अष्टाङ्ग योगसे तो उसकी उपमा हो ही नहीं सकती; यथा 'जोग न जप तप मख उपवासा ।' रह गया ज्ञान सो उससेभी 'संसारसे उत्पन्न दुःखहरण रूप फलमेंही समानता है, वस्तुसाम्य नहीं है । क्योंकि इसके स्वरूप, साधन, फल और अधिकारीमें विलक्षणता है । चित्तके द्रवीभूत होनेपर मनका रामाकार होना, यही सविकल्पक-वृत्ति भक्ति है, और कठोर चित्त जब अद्वितीय आत्मामात्रको विषय करता है तब उस निर्विकल्पक वृत्तिको ज्ञान कहते हैं । रामगुणग्रामसे भरी रामकथाका श्रवण भक्तिका साधन है और 'सो तैं तोहि ताहि नहि भेदा' (तत्त्वमसि) आदि महावाक्य ज्ञानका साधन है । रामप्रेमका प्रकर्ष भक्तिका फल है और अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानका फल है । भक्तिमें प्राणी मात्रका अधिकार है और ज्ञानमें साधन-चतुष्टय-संपन्न संन्यासीकाही अधिकार है । अतः भक्तिकी उपमा किसीसे नहीं दे सकते, वह निरुपम है । (ख) फलरूपा भक्तिमें कामनाही उपाधि है । कामनाकी पूर्त्तिके लिये प्रेम करना वस्तुतः प्रेम नहीं है । (ग) 'सदा बसै' अर्थात् जो भक्तिसे क्षणमात्रका वियोग सहन न कर सके । यथा 'रामभगति जल मम मन मीना । किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना ।' अबाधी का भाव कि ब्रह्म साक्षात्कारानन्तर जगतका बाध हो जाता है, पर भक्तिका बाध न हो । यथा 'पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं' । (घ) 'तेहि बिलोकि'—भाव कि भक्तिके आतेही मनुष्यके स्वरूपमें अंतर पड़ जाता है, विषय रससे रूखापन और रामसे सरसता उसके चेहरेसे टपकने लगती है । अतः देखना कहा । (ङ) 'निज प्रभुताई'—जीव मात्रको नचाना ही मायाकी प्रभुता है । यथा 'नाचत ही निसि दिवस मरयो । तबही तें न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धरयो ।····' (वि. ९१) । (च) विज्ञानी अर्थात् ब्रह्मलीन । ब्रह्मलीन विज्ञानीका दर्जा धर्मशील, विरक्त, ज्ञानी और जीवन्मुक्त सभीसे बड़ा है । 'जाचहिं' से जनाया कि भक्ति कृपासाध्य है क्रिया-साध्य नहीं ।

रा० शं०—श्रीरामजी निरुपम निरुपाधि हैं अतः उनकी भक्ति भी निरुपम-निरुपाधि हुई । पूर्व कहा कि माया डरती है और अब बताते हैं कि कितना डरती है—'तेहि बिलोकि' अर्थात् उसका निवासस्थान ही देखकर सकुचा जाती है ।

करु०—'तेहि बिलोकि माया सकुचाई ।०' इति । भक्तिपर स्वामीका प्रियत्व और सानुकूलता देख स्वामीके भयसे भक्तिके निकट नहीं जा सकती । अनुपम है अतः उसे देखकर लज्जित हो जाती है और निरुपाधि है यह समझकर चुप साधकर बैठ जाती है, कुछ प्रभुता नहीं कर पाती । ज्ञानी आदि अपने बलसे मायाको तरना चाहते हैं इसीसे माया बाधा करती है । अतएव ज्ञानमार्ग मोक्षको सबाध्य है और भक्तिमार्ग अबाध्य है, मोक्षदाता दोनों हैं । अतः विज्ञानी मुनि सबाध्य-अबाध्य-भेदसे भक्ति माँगते हैं ।

रा० प्र०—भक्ति पति-प्यारी है इसी कारण सापत्नि भावना करते डरती है ।

वै०—'करि न सकै कछु निज प्रभुताई' । भाव कि माया कुछ प्रभुता नहीं कर सकती, भक्ति अपनी खुशीसे चाहे विषयलीन रहै, कुछ माया उसे भवफंदमें नहीं डालती है ।

नोट—२ 'अस बिचारि' इति। 'अस' अर्थात् जैसा ऊपर 'मोह न नारि नारि के रूपा। ११६।२।' से 'तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई। ८।' तक कह आए, इस प्रकार।

पं०—'अस बिचारि जे मुनि०' इति। भाव कि तुमने पूछा था कि ज्ञान छोड़कर तुमने भक्ति क्यों माँगी, सो केवल मैंने ही नहीं माँगी और भी जो ज्ञानवान् मुनीश्वर हैं सो भक्तिपर भगवंतकी सहायता जानकर भक्ति ही माँगते हैं।

रा० प्र०—'मुनि बिज्ञानी जाचहिं...' इति। भक्तिको निरुपाधि अर्थात् सपरिवार मायारहित कहा गया। अतः विज्ञानी मुनियोंका भक्ति माँगना कहनेसे पराभक्तिकी याचना व्यंजित होती है।

नोट—३ 'सकल सुख खानी' इति। यथा 'भगति तात अनुपम सुखमूला। ३। १६। ४।', 'सब सुख खानि भगति तैं माँगी। ८५। ३।'

दोहा—यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानै कोइ।
जो जानै रघुपति कृपा* सपनेहु मोह न होइ॥
औरौ ज्ञान भगति कर भेद सुनहु‡ सुप्रबीन।
जो सुनि होई रामपद प्रीति सदा अबिछीन॥११६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका यह गुप्त चरित कोई भी जल्दी नहीं जान पाता। जो जानते हैं वे श्रीरघुनाथजीकी कृपासे। जो श्रीरघुनाथजीकी कृपासे जान जाता है उसे स्वप्नमें भी मोह नहीं होता। हे परम चतुर श्रीगरुड़जी! ज्ञान और भक्तिका औरभी भेद सुनिये, जिसे सुननेसे श्रीरामजीके चरणोंमें सदा कभीभी क्षीण (कम वा नाश) न होनेवाली अविरल प्रीति होती है। ११६।

पं० रा० व० श०—१ 'यह रहस्य'। एकान्तमें कहनेवाली बातको 'रहस्य' कहते हैं। भगवान्ने परम प्रसन्न होनेपर भुशुण्डीजीसे यह कहा था कि 'मोहि भगति प्रिय संतत', 'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय अस मम बानी'। 'यह' अर्थात् जो ऊपर कह आए—'भगतिहि सानुकूल रघुराया' से 'जाचहिं भगति सकल सुखखानी' तक। माया और भक्ति स्त्री हैं, भक्ति श्रीरामजीको प्रिय है, माया उससे स्वयं ही संकोच करती है—यह सब रहस्य है। ['यह रहस्य' इति। ज्ञान और भक्ति रघुनाथजीके रहस्य हैं। श्रीरघुनाथजीके अन्तर्यामी ब्रह्मरूपमें ज्ञानरहस्य है और किशोरमूर्त्ति परब्रह्ममें भक्तिरहस्य है। (करु०)। पुनः, 'यह रहस्य रघुनाथ कर' का भाव कि पूर्व मैंने चरितविषयक परम रहस्य कहा था। यथा 'यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरि माया जिमि मोहि नचावा।' पर यह रहस्य चरितका नहीं है, स्वयं रघुनाथ विषयक है। केवल रघुनाथका प्यार भक्तिपर होनेसे ही भक्ति सर्वश्रेयस्करी है। (वि. त्रि.)]

२ 'जो जानै रघुपति कृपा' इति। भाव कि वह कृपाहीसे जाना जा सकता है, यथा—'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। २। १२७। ३।'; नहीं तो ब्रह्मादिकभी जाननेमें असमर्थ हैं, यथा—'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मर्म तुम्हारा। २। १२७। १-२।'

३ 'औरौ'। भाव कि दो भेद कह आए कि ज्ञानादि पुरुष हैं, माया और भक्ति दोनों स्त्री हैं। पुरुषको माया स्त्री मोहित कर लेती है और भक्तिको नहीं, क्योंकि 'मोह न नारि नारि के रूपा'। दूसरे, भक्तिपर श्रीरघुनाथजी सानुकूल हैं और माया तो नर्त्तकी है, अतः माया कुछ प्रभुता नहीं कर सकती किन्तु अत्यन्त डरा करती है। अब तीसरा भेद कहते हैं। भेद कहनेके पूर्व उस भेदको जान लेनेका अथवा उसके श्रवणमात्रका फल कहते हैं कि अविच्छिन्न रामपदप्रेम होता है।

* जाने ते रघुपति कृपा—(का०, मा० म०) ‡ परबीन—(शेषदत्त)।

नोट—१ 'औरो' इति । वर्गभेद, भक्तिपटरानी-मायानर्त्तकी-भेद, ज्ञानीका मायाको त्यागकर पुनः फँसना इत्यादि भेद कहे, अब और भेद कहते हैं । इसमें ज्ञानसाधनकी कठिनता और दैवयोगसे साधन बननेपर भी अनेक विघ्नोंका भय दिखाते हैं ।

२ 'जो सुनि होइ रामपद प्रीति०।' भाव कि भेद सुननेसे भक्तिमें प्रीति होगी, प्रीति होनेसे भक्ति दृढ़ हो जायगी, यथा—'प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।' कथाका माहात्म्य जान लेनेसे उसके सुननेमें मन लगता है, इसीसे कथाके पहले उसका माहात्म्य कहा जाता है । अब दूसरा प्रसंग कहते हैं, अतः पुनः 'सुनहु' कहकर सावधान करते हैं ।

'सदा अविछीन' का भाव यह भी है कि इसके सुननेपर फिर आपको मोह न होगा, श्रीरामपदप्रेम निश्चल हो जायगा । इस कथनमें यह ध्वनि है कि आपका मोह, संशय, शोक और भ्रम तो अवश्य अब दूर हो गया है पर अभी अविच्छिन्न रामपदप्रेम नहीं हुआ, अभी आप शुष्क ज्ञानको ही श्रेष्ठ समझ रहे हैं, पर अब जो भेद कहूँगा उससे आपका निश्चय प्रेम श्रीरामपदमें हो जायगा । [पुनः भाव कि श्रीरामपदमें सदा आपकी प्रीति तो है ही पर रणक्रीड़ा देखकर जो संदेह हुआ उससे प्रीति कुछ क्षीण हो गई, वह इस भेदके सुननेसे परम पुष्ट हो जायगी । (रा. बा. दा.)] पुनः भाव कि पहले भेद-कथनकी फलश्रुति है कि 'सपनेहु मोह न होइ', अब दूसरे भेदकथनकी फलश्रुति कहते हैं कि अविच्छिन्न भक्ति हो । अर्थात् इसके हृदयमें धारण करनेसे रामकृपा अवश्य होती है । (वि. त्रि.)] ।

शेषदत्तजी—भेद तो ऊपर कह चुके अब इस भेदमें और उसमें क्या अन्तर है ? उत्तर—पूर्व जो कहा उसका यह सिद्धान्त है कि ज्ञानने मायाको त्यागा पर फिर आपही बँध गया । और अब जो कहते हैं उसका सिद्धान्त यह है कि ज्ञान तो भूलकर भी मायाकी ओर दृष्टि न करेगा पर माया प्रबलतापूर्वक उसको सातवें प्रस्थानपर ठगेगी । यह भेद सुनकर प्रवीण अर्थात् सावधान होंगे । पहलेमें वह स्वयं बँधा, दूसरेमें मायाकी प्रबलतासे बँधा, यह अन्तर हैं ।

रा० प्र०—'सपनेहु मोह न होइ' क्योंकि 'काहू को पद दास न चाहत' । (भाव कि तब जाग्रतकी कहना ही क्या ?)

सुनहु तात यह अकथ कहानी । समुझत बनै न जाइ बखानी ॥ १ ॥

अर्थ—हे तात ! यह अकथ कहानी सुनिए । यह समझते ही बनती है, बखानी नहीं जा सकती (एवं न समझते बने न बखानी जा सके)* ।१।

नोट—१ 'सुनहु तात यह अकथ कहानी' इति । (क) श्रीगरुड़जीने प्रश्न किया था कि 'ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता । सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता । ११५ । ११ ।', उसका उत्तर देते समय श्रीभुशुंडीजीने 'सावधान सोउ सुनु' कहकर तब कहा कि ज्ञान आदि पुरुषवर्ग हैं इत्यादि । माया और भक्ति दोनों नारिवर्ग हैं यह कथन करते समय भी कहा कि 'माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ ।' उसी तरह ज्ञान और भक्तिका और

* इसका अर्थ करु०, रा० प्र०, वीरकवि, वि० टी, पं०, आदिने यह किया है कि 'समझते ही बनती है, बखानी नहीं जा सकती' और कुछ लोग 'न' को दीप-देहली मानते हैं । शेषदत्तजीने ऐसा ही करके यह शंका उठाकर कि 'जब समझते नहीं बनती और न कहते, तब कहोगे कैसे और समझेंगे कैसे ?' उसका समाधान यह किया है कि 'श्रीरामकृपाके आश्रय जो कहते हैं उन्हें सदैव सुगम है और जो अपनी विद्या त्रय अनुभव द्वारा कहना सुनना चाहते हैं उनको तो 'अकथ' और 'असामुझ' है । कहनेका तात्पर्य यह कि आप पर और मुझपर प्रभुकी कृपा है, अतएव मैं विधिपूर्वक कहता हूँ आप सुनें ।' कहनेका तात्पर्य यह है कि 'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी' हैं और भुशुंडीजीको तो लोमशजी तथा साक्षात् प्रभुका वरदान है । जो समझमें नहीं आ सकती उसे वर्णन कैसे करोगे ? इसका उत्तर यह है कि यथामति कहेंगे ।

भी भेद कहते समय 'सुनहु सुप्रबीन', 'सुनहु तात' कहकर सुननेके लिये विशेष सावधान कर रहे हैं। 'समुझत बनइ न जाइ बखानी' इसीसे सुप्रवीण कहकर प्रथम सुननेको कहा और फिर 'तात' संबोधन द्वारा श्रीगरुड़जीपर अपना वात्सल्य दिखाया। अब वे शिष्य हैं अतः प्यारका संबोधन दे रहे हैं। (ख) 'यह अकथ' का भाव कि यह रहस्य है, श्रुतिमें इसके कथनका निषेध है (रा. प्र.), अनधिकारीसे कहने योग्य नहीं होनेसे 'अकथ' कहा। (शेषदत्तजी)। अधिकारीके लक्षण पूर्व १११ (२) में लिखे गये हैं।

नोट—२ 'समुझत बनै' का भाव कि यह अत्यन्त सूक्ष्म गूढ़ विषय है, बुद्धिसे समझते ही बनती है। 'न जात बखानी' से जनाया कि वाणीद्वारा यथार्थ वर्णन करना असंभव है। शेषदत्तजी लिखते हैं कि 'इससे अतिशय निरख जनाया। इन तीन विशेषणोंसे विषयकी गहनता और श्रोता-वक्ताकी प्राप्ति दुर्लभ जनाई।' महानुभावोंके विशेष भाव आगे दिये जाते हैं।

रा० शं०—आगे बताते हैं कि जीव चेतन अमल सहज सुखराशि है ऐसा होकरभी मायावश हो जाता है यद्यपि माया जड़, समल, और दुःखरूपा है। माया असत्य है और जीव अविनाशी है। इसीसे कहा कि 'समुझत बनै न जाइ बखानी'। बहुत सी बातें ऐसी होती हैं कि समझमें आती हैं पर उनका कहना कठिन होता है। जैसे कि बीजमें वृक्ष है यह समझमें आता है पर कहते नहीं बनता, ऊँचेपरसे दूरतकका मैदान देख पड़ता है, यह बात समझमें आती है, इतना वृहत् मैदान आँखके अन्दर भरा है, पर यह कहना कठिन है कि छोटेसे तिलमें इतना भारी मैदान कैसे समा गया।

शेषदत्तजी—'अकथ कहानी', 'समुझत बनत न' और 'न जात बखानी' से सूचित किया कि अनधिकारीसे कहने योग्य नहीं, यदि अधिकारी भी मिल जाय तो उसका समझना दुर्लभ है, और समझदार अधिकारीभी मिल जाय तो इसके वक्ता मिलना कठिन हैं।

रा० प०, रा० प्र०—'अकथ कहानी०' का भाव कि यह रहस्य है, श्रुतिमें इसके कथनका निषेध है। ज्ञानी बनकर दूसरेसे कहेगा कैसे, कहनेमें दूसरा मानना ही पड़ेगा और अपने आपसे ही कथन कैसा? यह लोमश-भुशुंडि-प्रसंगसे स्पष्ट है। वेदरहस्यकथन तंत्रमेंभी वर्जित किया गया है। इन कारणोंसे 'अकथ' 'न जाइ बखानी' कहा। 'समुझत बनै' अर्थात् कहनेका तो निषेध है, केवल साधन करके ज्ञानाचरण करने तथा अनुभव करने ही योग्य है।—'ख्यात लाभ तूजन ते परत ज्ञान मंद'।

वै०—'अकथ कहानी'। कहने योग्य नहीं; क्योंकि अंतरमें परावाणी रहती है जो रामतत्त्वका निरूपण करनेवाली है, उसके प्रभावसे समझते तो बनती है पर बखानी नहीं जाती क्योंकि बखान करना वैखरीका काम है सो प्रकृतिवार्ता करनेसे मलिन है, अतः मति अनुसार कहता हूँ।

वि० टी०—अकथ कहानी = वह विषय जिसका वर्णन करना कठिन है। भाव यह है कि निराकार ब्रह्म और देहधारी जीवका संबंध आज तक कोई भी पूर्णरूपसे नहीं कह सका तो भी बड़ेबड़े महात्माओंके कथनानुसार थोड़ेहीमें उसका वर्णन करना चाहता हूँ। क्योंकि यह सब लोग जानते ही हैं कि इसका समझाना बड़ी कठिनाईसे थोड़ा-थोड़ा हो सकता है। यथार्थ तो असम्भव ही है योगवाशिष्ठमें वशिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है कि उपदेशका देना केवल परम्पराकी रीतिका पालन है, इसकी जानकारी तो केवल शिष्यकी बुद्धिपर अवलंबित है—'उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्। ज्ञप्तेस्तु कारणं तत्र शिष्यप्रज्ञैव केवला।'।

मा० म०—'अकथ कहानी'। कहानीका भाव कि कहनेही मात्र है, साधन कठिन है, पुनः, श्रीरामयशविना प्राकृत कहानीके तुल्यही है, निरर्थक होनेसे कहानी है।

मा० शं०—अकथ है तो कहानी कैसे और कहानी है तो अकथ कैसे? यहाँ 'अकथ' कहनेका भाव यह है कि पूर्वाचार्य्योंने मतानुसार कहकर 'न इति' कहा, और कहानी इससे है कि भेद निर्णय है। वा,

अकथ=कहने योग्य नहीं। अथवा, भाव यह है कि यह भेदयुक्त कहानी सदा अकथ है, जो अधिकारी नहीं हैं उनके प्रति कथन अयोग्य है; इस भावसे अकथ कहा।

पं०—'अकथ कहानी' का भाव कि वेदान्तियोंकी मति अनुसार अकथ है और उपासकोंके मति अनुसार कथन योग्य है। सो ये दोनों पक्ष समझते बनते हैं, कहे नहीं जाते। फलितार्थ यह कि अपने आचार्य्यके मति अनुसार ज्ञान और भक्ति धारण करे, खण्डनमंडन न करे।

वि० त्रि०—१ (क) 'यह अकथ' से भक्तिके साधनका सुकथ होना दर्शाया, यथा—'भगति के साधन कहहुँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी'। 'कहानी' से 'अजातवाद' दिखलाया कि हम जो कुछ कहते हैं यह कहानी है। 'कहानी' सत्य नहीं होती, अतः यहभी पारमार्थिक सत्य नहीं है। सत्य तो एकमात्र निर्विशेष ब्रह्मकी स्थिति है। जिस प्रकार शशके कभी शृङ्ग नहीं हुआ, आकाशमें कुसुम नहीं हुआ, बन्ध्याके पुत्र नहीं हुआ, उसी प्रकार यह सब कुछभी कभी हुआ ही नहीं, फिर किसका बन्ध और किसका मोक्ष? जो दिखायी पड़ता है सो भ्रम है। ब्रह्ममें अंश-अंशी भेद न है और न हो सकता है। माया और उसके प्रपंचका उसमें स्पर्शभी नहीं है। यथा—'अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज अमित अविकार आनंदसिंधो' (वि०), 'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥ सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना॥ हरष बिषाद ज्ञान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥', 'यत्र हरि तत्र नहि भेद माया।' (विनय), 'जग नभबाटिका रही है फल फूलि रे। धुआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे॥'

शिष्यको संसार और बन्धनकी प्रतीति होती है। उसे इस प्रपंचके समझने और इससे मुक्ति लाभ करनेके लिए जिज्ञासा है, अतएव गुरु उसकी दृष्टिके अनुसार, उसके समझानेके लिये निष्प्रपंचमें पहले प्रपंचका अध्यारोप कहते हैं और फिर प्रपंचका अपवाद करके यथार्थ स्वरूपका उपदेश करते हैं, अतएव यह अध्यारोप-अपवादका उपदेशभी मिथ्या है। जिज्ञासाके पूर्वके साधन-चतुष्टय सब मिथ्या ही हैं। अतएव इस मिथ्या कथाको 'कहानी' कहा। परन्तु इस कहानी सुनानेवालेको सिद्धान्तज्ञान होता है, क्योंकि कहानीकी समाप्तिपर कहेंगे कि 'कह्यौं ज्ञान सिद्धांत बुझाई', अतः साधन चतुष्टयसे ममता मलके नष्ट होनेपर ही इस कहानीके कहनेका भी विधान है, यह कहानी यदि 'ममता रत'से कही जायगी तो ऊसरमें बीज बोनेकी भाँति व्यर्थ होगी। यथा—'ममतारत सन ग्यान कहानी।...ऊसर बीज बए फल जथा'।

(ख)—'समुझत बनै न'—समझते नहीं बनता। भाव यह कि निर्गुण ब्रह्म और गुणमयी मायाके संयोग-वियोगका इसमें वर्णन है। निर्गुण ब्रह्म ज्ञेय नहीं है, जाना वही जा सकता है जो ज्ञेय हो, स्वयं द्रष्टा कैसे जाना जाय? और द्रष्टाही ब्रह्म है, अतएव वह नहीं जाना जा सकता; यथा—'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे। तेउ न जानहिं मर्म तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥'

मायाभी नहीं जानी जा सकती। वह तो अघटन-घटनापटीयसी है, जो हो न सके उसीको कर दिखाना मायाका काम है। यथा—'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥', और संयोग वियोग ब्रह्ममें बनता नहीं, यथा—'सपनेहु योग वियोग न जाके', अतएव यदि समझते बने तभी आश्चर्य है।

प० प० प्र०—'समुझत बनै' इति।। यहाँ 'समझना'=अनुभव करना। कारण कि निर्गुण रूप स्वसंवेद्य तो है ही। यद्यपि वह अन्य विषयोंके समान ज्ञेय नहीं है तथापि 'मनसा एव अनुद्रष्टव्यम्'। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (इत्यादि श्रुति)। 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' (स्मृति भ० गी०) 'तथापि भूमन् महिमाऽगुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः' (श्रीमद्भागवत)। इस प्रकार ब्रह्म (अगुण ब्रह्म) समझा जा सकता है, यह श्रुति स्मृति पुराण आधारोंसे स्पष्ट है। 'समुझि मनहि मन रहिए' (विनय), 'नामरूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।' इस तरह गोस्वामीजीके ग्रंथोंसे भी 'समुझत बनै' अर्थ ही उचित है। अन्यथा 'कहानी' (कल्पित कथा) कहने सुननेसे

लाभ क्या ? 'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधाः' (आचार्य)।

वि० त्रि०—'न जात बखानी।' बखानतेभी नहीं बनता। भाव यह है कि उसको कहनेके लिए उपयुक्त शब्दही नहीं मिलते, यथा—'केशव कहि न जाइ का कहिये।···' (वि० १११)। परन्तु वेदान्तके वाक्योंको गुरु-मुखद्वारा सुनते-सुनते अनुभव हो सकता है, यथा—'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान', 'अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता'। ☞ इस चौपाईसे 'नित्यानित्य-वस्तु विवेक' रूपी प्रथम साधन बतलाया गया।

सि० ति०—यथा 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैवचान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्। गीता २। २९।' अर्थात् जीव तत्व इतना सूक्ष्म है कि इसका देखना, कहना, सुनना और जानना, सभी आश्चर्यरूप हैं। उसी जीव तत्वका इसमें मायावश होना और फिर साधन द्वारा मुक्त होना कहा जायगा। अतः इसका यथार्थ कहा जाना तो असंभवसा है, हाँ, बड़ी कठिनाईसे लक्ष्य-मात्र कहा जायगा। यथा 'केसव कहि न जाइ का कहिये'। भाव कि समझकर अनुभव करनेकी चीज़ है। समझना भी कठिन है। अतः गुरु मुखसे श्रवण कर इसका अनुभव हो सकता है। यथा 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान', 'ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा'।

ईश्वर-अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ २॥

अर्थ—जीव ईश्वरका अंश है, अविनाशी, चेतन, स्वाभाविक ही निर्मल और सुखराशि है। २।

वेदान्ती पं० रामपदार्थदासजी—'ईश्वरतत्वनिरूपण' मानसके उपक्रमोपसंहार आदि द्वारा।—(१) उपक्रमः—'यन्मायावशवर्त्ति, यत्सत्वादमृषैव भाति सकलम्, यत्पादप्लवमेकमेव, रामाख्यमीशं हरिम्।' (२) उपसंहारः—श्रीरघुपति हरैं। (३) अभ्यासः—'सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवध-पति सोई। १। ११७। ५-६।...', 'नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।...। १। १४४।', 'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।७।८६।४।', 'ब्यापक ब्रह्म (ब्याप्य) अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता। अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता। निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥ प्रकृतिपार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्मनिरीह बिरज अबिनासी। ७। ७२। ४-८। सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिज्ञानरूप बल-धामा। ३।', 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी। २। १२७। ५।'—☞ अद्वैत-सिद्धान्तानुसार निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म माननेमें गोस्वामीजीका तात्पर्य नहीं है, यदि वैसा होता तो इस तरह 'चिदानंदमय देह तुम्हारी' नहीं लिखते। इसलिये निर्गुणादि पदोंका अर्थ विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तानुसार करना चाहिए। 'निर्गुण' का अर्थ हेय प्राकृत गुणरहित, तथा 'निराकार' का अर्थ प्राकृत आकारादिरहित ही है। ब्रह्म दिव्याकृति और दिव्यगुणविशिष्ट है, इसीसे 'चिदानंदमय देह तुम्हारी' कहना संघटित होता है। (४) अपूर्वताः—'नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा। ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई। १। १४४।', 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।' श्रुति भी यही कहती है—'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणः'। (५) अर्थवाद (प्रशंसा):—जब ब्रह्मके उक्त सच्चे गुणोंको 'स्तोतुमम्बुजभवोऽपि हि देवतेशः', तब उसकी प्रशंसा कोई क्या करेगा ? अतः ब्रह्ममें अर्थवाद नहीं हो सकता। (६) फलः—जब जनकजीने विश्वामित्रजीसे पूछा—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा।', तब उन्होंने उत्तर दिया—'···। बचन तुम्हार न होइ अलीका'। आपका बचन मिथ्या नहीं है। भाव यह है कि श्रुतिसे नेति-नेति-प्रतिपादित ब्रह्म दाशरथि श्रीराम ही हैं।

(७) उपपत्ति—'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा। १। ११५। ५।', 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा। सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा। २। ९३। ७-८।', 'ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥', 'ब्यापक

ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद। १। १९८।', 'सुख संदोह मोहपर ज्ञान गिरा गोतीत। १। १९९।'

☞ अद्वैतवेदान्तवादी अपना सिद्धान्त कहते हैं कि निर्विशेष शुद्ध कारण-ब्रह्म अवतार नहीं लेता। मायोपहित अशुद्ध कार्य-ब्रह्म ईश्वर कहलाता है, वही अवतार लेता है। वैष्णवप्रवर श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्त इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वे कहते हैं—'सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु। चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु।', 'अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंदा।', 'जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा।' इत्यादि।

भगवत् अवतारको मायोपहित (मायासे आच्छादित) ब्रह्म कहनेवालोंको गोस्वामीजीने शिवजीके उत्तररूपमें जो कुछ कहा है, उसीको यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है, इससे गोस्वामीजीके मतका पता लग जायगा। यथा—'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी।', अथवा, 'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥ मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान रामपर धरहीं॥ उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥...' जब पार्वतीजीने शंका की कि शुद्ध ब्रह्म तो अवतार लेता ही नहीं, तब अवधेशकुमार राम ब्रह्म कैसे हुए? क्या शुद्ध ब्रह्म और अवधेशकुमार राम भिन्न-भिन्न हैं? तब यह सुनते ही शिवजीने अनखाकर ऐसा कहनेवालोंको बहुत जोरसे फटकारकर उनका भलीभाँति समाधान किया। देखिए बाल० दोहा ११४ से ११८ तक। अवतार लेनेवाले ब्रह्मको मायोपहित, कार्य और अशुद्ध ब्रह्म अवतार मानना गोस्वामीजीके सिद्धान्तसे 'कुतरक कै रचना' और 'दारुन असंभावना' है। ब्रह्मके लक्षण और गुणादिपरक जितने शब्द श्रुतियोंमें मिलते हैं गोस्वामीजीने प्रायः उन सबोंका प्रयोग 'रामचरितमानस' में भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके लिये किया है।

वेदान्ती श्रीरामपदार्थदासजी—विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें ईश्वर, जीव, माया, ये तीन तत्व माने जाते हैं। इनका ईश्वरके साथ अपृथक् सिद्ध सम्बंध है। तीनों नित्य हैं। अर्थात् जीवकी सिद्धि ईश्वरसे पृथक् नहीं हो सकती। अतएव इसको अपृथक् कहा गया है। वास्तविक जीव पृथक् तत्त्व है। जैसे सूर्य तथा सूर्यका प्रकाश। आकाशमें बहुत ऊपर भागमें सूर्य रहते हैं। सूर्यका प्रकाश, धूप आदि सर्वजन-साधारण-ग्राह्य है। परन्तु सूर्यसे उसकी पृथक् सिद्धि नहीं हो सकती। जब सूर्य रहेंगे तभी धूप रहेगी, अन्यथा नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसको वैदिक सिद्धान्त कहा है—'इति बेद वदंति न दंतकथा। रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा।'

चितस्वरूप—(१) ज्ञानाश्रय। यथा 'विज्ञानाश्रय। यथा 'विज्ञानात्मा पुरुषः अथ यो वेदेदम्।', 'चेतन अमल सहज सुखरासी।' (२) अणु। यथा 'जिघ्राणीति स आत्मा एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।', 'जीव चराचर जंतु समाना'। (३) ईश्वरका नियम्य। यथा 'य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।', 'राम रजाइ सीस सब ही के', 'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।' (४) ईश्वरका धार्य। यथा 'एष सेतुर्विधरणः। एतस्य अक्षरस्य शासनेगार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।', 'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥', 'प्रान प्रानके जीवके जिव सुखके सुख राम।' (५) ईश्वरका शेष। यथा 'यस्य आत्मा शरीरं यस्याक्षरं शरीरम्' 'दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते आत्मदास्यं हरेः साम्यं स्वभावं च सदा स्मर ममैवांशः' इत्यादि। (६) सुखस्वरूप। यथा 'ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा ज्ञानानन्दैकलक्षणम्।', 'सहज सुखरासी।' (७) निर्विकार। यथा 'अमृताक्षरं हरः आत्मा शुद्धोऽक्षरः अविकार्योऽयमुच्यते।', 'निर्मल निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई', (८) कर्ता-भोक्ता। यथा 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येषा भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृ-भावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।', 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।', 'जो जस

करइ सो तस फल चाखा', 'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता'। (९) नित्य। यथा 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्', 'जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा'। (१०) ईश्वरका परतन्त्र। यथा 'एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति।', 'परबस जीव स्वबस भगवंता'। (११) अनन्त। यथा 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते।', 'जीव अनेक एक श्रीकंता।' (१२) ईश्वरका सखा। यथा 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया', 'ब्रह्म जीव इव सहज संघाती'। (१३) संकोच-विकासयुक्त ज्ञानवाला। यथा 'उपजइ बिनसइ ज्ञान जिमि पाइ सुसंग कुसंग।' इत्यादि।

जीव अनन्त हैं। उनके मुख्य तीन भेद हैं। बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त। यथा 'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने।' कोई पाँच और कोई आठ भेद भी मानते हैं परन्तु मुख्य तीन ही हैं, अन्य सब इन्हीं तीनके आवान्तर भेद हैं।

पं० श्रीकान्तशरण—इस एक ही अर्धालीमें शुद्ध जीवका स्वरूप कहा गया है, क्योंकि सूक्ष्म तत्व का वर्णनभी सूक्ष्म ही शब्दोंमें किया जाता है। बद्ध जीवका लक्षण भी एक ही अर्धालीमें कहा गया है; यथा 'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धरम अहमिति अभिमाना। १। ११६।'

पं० रा० व० श०—श्रुति और गीता प्रस्थानत्रयमें भी जीवको परमात्माका अंश बताया है। यथा 'अंशो एष परस्य...', 'अंशो नाना व्यपदेशात्। ब्र० सू० २। ३। ४३।', 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता १५। ७।' (अर्थात् मेरा ही जीव रूप सनातन अंश जीवलोकमें...), 'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति। मुण्डक २। १। १।' (अर्थात् वह यह सत्य है। जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्निसे उसीके समान रूपवाले सहस्रों स्फुलिंग (चिनगारे) निकलते हैं, हे सोम्य! उसी प्रकार उस अक्षरसे अनेकों भाव (जीव) प्रकट होते हैं, और उसीमें लीन हो जाते हैं)। [अग्निका अंश चिंगारी, वैसे ही ईश्वरका अंश जीव। यथा 'यथा वह्ने विस्फुलिंगाः जायन्ते तथा अक्षरतः विविधाः चिज्जडाभावाः। इति अथर्वणिकी श्रुतिः।' (मा० म०)। ईश्वर प्रतिबिंबी है, देह प्रतिबिंबका आधार है। जीव प्रतिबिंब है, इस तरह अंश हुआ। (मं० शं०)। 'ईश्वर अंश' जैसे भरतादिको अंश कहा है। (रा. प.)। ईश्वर अंश प्रकृतिमें पड़नेसे जीव हुआ। यदि यह अपने अंशीकी रीतिपर चले अर्थात आत्मरूपको पहिचाने रहे तो ईश्वरके ही गुणानुकूल यह भी अविनाशी आदि है। (वै०)]

वि० त्रि०—'ईश्वर' इति। ईश्वर और ब्रह्ममें अवस्था-भेदमात्र है। वस्तु-भेद नहीं है। ब्रह्मकी कोई अवस्था न होनेके कारण, जाग्रत स्वप्न और सुषुप्तिकी अपेक्षा उसे तुरीय (चौथा) कहते हैं और उस अपेक्षाकोभी छोड़कर उसे तुरीयातीत या केवल तुरीय कहते हैं। यथा—'तुरीयमेव केवलम्'। वही ब्रह्म जब जगत्के प्रकाशकरूप अर्थात् मायापतिके रूपसे देखे जाते हैं, ईश्वर कहलाते हैं। यथा—'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुनधामू'।

'अस—मायापति ईश्वर का अंश कहनेका भाव यह कि ब्रह्म और मायाको लेकर ही सब प्रपंच है। पूर्ण ब्रह्मका खंड नहीं होता, 'यद्यपि एक अखंड अनंता', फिरभी मलिन-सत्वा माया (अज्ञान) द्वारा उसके अंशकी कल्पना होती है, जिसे कूटस्थ या साक्षी कहते हैं। साक्षी कूटस्थभी ब्रह्म ही है, यथा—'प्रकृति-पार प्रभु सब उरबासी', परंतु जैसे महाकाश और घटाकाशमें कल्पित भेद है वैसेही यहाँभी कल्पित भेद है, यथा—'मृषा भेद जद्यपि कृत माया'। अभिप्राय यह कि तूला-विद्याका आश्रय साक्षी कूटस्थ है और मूला-विद्याका आश्रय साक्षी ब्रह्म है। प्रत्येक व्यक्तिमें तूला विद्या भिन्न-भिन्न है और समष्टिभूता मूला-विद्या एकही है। तूला-विद्याके भेदसे उसके साक्षी कूटस्थमें भेद माना जाता है। इसीलिये गोस्वामीजीने 'राम' से ब्रह्म, ईश्वर और कूटस्थ तीनोंका ग्रहण किया है, क्योंकि एकही तीन भाँतिसे प्रकाशित होता है।

वि० टी०—जीवको ईश्वरका अंश कहना यह कथनप्रणालीके अनुसार ही है; यथार्थमें ईश्वरके अनवच्छिन्न अर्थात् अखण्ड होनेसे उसका खण्ड कैसे हो सकता है ? परन्तु अंशके समान होनेसे अंश शब्दका व्यवहार किया जाता है।

मा० म०—मायाविशिष्ट ब्रह्मको ईश्वर कहते हैं। उसका भाग यह जीव है।

वेदान्ती पं० रामपदार्थदासजी—अद्वैत सिद्धान्तमें माया न सत् और न असत् है, किन्तु सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है; निर्विशेष ब्रह्मतत्वके साक्षात्कारसेही वह निवृत्त होती है, और कोई भी उपाय नहीं है। जैसे शुक्तिका निश्चय होनेपर रजत निवृत्त हो जाता है, वैसेही यथार्थ ज्ञान होनेपर माया नहीं रहती। मायाके मिथ्या होनेसे मायाका कार्य समस्त प्रपंच भी मिथ्याही है। परंतु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तवादी गोस्वामीजी कहते हैं—'जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखें।' अतः गोस्वाजीके सिद्धान्तमें मायाका स्वरूप यह है—'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया। गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥ तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥ अर्थात् 'मैं'—'मेरा' और 'तैं'—'तेरा' इस प्रकारका व्यवहारही निश्चय कराता है कि कोई कारण विशेष अवश्य है, जिससे सबकी बुद्धि वैसी हो जाती है। अतः मानना पड़ेगा कि वह कारण विशेष मायाही है। उस मायाके स्वरूपकी व्याप्ति इतनी विस्तृत है कि वहाँ इन्द्रिय, विषय और मन पहुँचही नहीं सकते।

अद्वैत सिद्धान्तमें मायाको तूलाविद्या और मूलाविद्या कहते हैं। मायामें आवरण और विक्षेप शक्ति मानते हैं। यह बात अद्वैत सिद्धान्तके ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है। इन सब परिभाषाओंसे श्रीगोस्वामीजीकी परिभाषा भिन्न है। उनके किसी भी ग्रन्थमें उक्त प्रकारसे मायाका भेद नहीं कहा गया है; प्रत्युत वे मायाको विद्या-माया तथा अविद्या-माया रूपसे वर्णन करते हैं। अविद्याके वश होनेसे सब जीव भवकूपमें पड़े हैं, और विद्याकी सहायतासे निकल सकते हैं। अद्वैती कहते हैं कि माया (अपने बलसे, बलात्कार) ब्रह्मको अधिष्ठान बनाकर सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करती है। गोस्वामीजी कहते हैं—'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताकें।', 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया।' इत्यादि।

वि० त्रि०—'जीव' इति। मलिन-सत्वा-मायामें जब ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो सत्वके मालिन्यसे अनन्त प्रतिबिम्ब हो जाते हैं, और उन प्रतिबिम्बोंकी वह मलिन-सत्वा-मायाही देह हो जाती हैं। वही देह कारण शरीर कहलाते हैं और उनके अभिमानी जीव प्राज्ञ कहलाते हैं। मलिन-सत्वामाया, तूलाविद्या, अज्ञान अहंकार, कारण शरीर और नामरूपात्मिका ये सब पर्य्यायवाची शब्द हैं। गोस्वामीजीने जीवकी मैले पानीसे उपमा दी है।

नोट—'जीव अबिनासी' इति। चिंगारीवत् अंश कहनेसे संभव है कि यह समझा जाय कि जैसे चिनगारीका अग्निसे निकलनेपर नाश होता है वैसेही जीवका भी नाश होता होगा, इस संदेहके निवारणार्थ कहते हैं कि जीव अविनाशी है। (पं० रा० व० श०)।

सि० ति०—अविनाशीकी व्यवस्था दो ही प्रकारसे हो सकती है, या तो विभु हो अथवा अणु। यहाँ जीवको विभु (व्यापक) कह नहीं सकते क्योंकि उसे ईश्वरका अंश कहा जा चुका है। अतएव अणुही मानना होगा। पुनः, उत्तरार्धमें 'अमल' अर्थात् कामादि मलरहित, एकरस रहनेवाला अर्थात् सद्रूप (सत्-रूप) कहा जायगा। उससे भी अणु-स्वरूपही मानना पड़ेगा। अतः जीवात्मा अणु-परिमाणही है; यथा 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश। मुं० ३।१।९।' अर्थात् जिसमें पंचविध प्राण प्रविष्ट हैं, यह अणु परिमाण आत्मा सावधानीसे योग्य जानने है। 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते। नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन-तेन स युज्यते। श्वे० ५। ९।१०।' अर्थात् बालके अग्रभागके सौ भाग करे, उनके एक भागके पुनः सौ भाग करनेपर जितना वह एक भाग हो, उतनाही परिमाणवाला वह जीव तत्व होता है और वह अनंत एवं असंख्य है। यह

स्त्री, पुरुष, नपुंसक नहीं है; किन्तु जिस-जिस शरीरको ग्रहण करता है। उसी-उसीसे मिल जाता है। तथा 'अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दन विन्दुवत्।' (स्कन्द पुराण); 'अर्थात् यह जीव अणु परिमाण होते हुए भी सब शरीरमें व्याप्त होता है, जिस प्रकार मलय चन्दनका एक विन्दु शरीरके एक देशमें रहते हुए भी अपने धर्मभूत ज्ञानके द्वारा सर्वांग देहमें व्याप्त होता है।

उपर्युक्त रीतिसे 'अबिनासी' कहकर जीवका अणुत्व कहा। इसपर भी अणु-स्वरूप जीवात्माके प्रकृति-परमाणुओंकी तरह जड़ होनेकी शंका होती, इस लिये 'चेतन' भी कहा है, क्योंकि 'अणुत्वे सति चेतनत्वं जीवस्य लक्षणम्' अर्थात् अणु होते हुए चेतन होना जीवका लक्षण है। जीवात्मा स्वयं चिद्रूप है और स्वधर्मभूत ज्ञानका आश्रय भी है, इसीसे यह 'चेतन' कहा जाता है; यथा 'अरे वाऽयमात्मा विज्ञानघन एव। बृह० २। ४। १२।'; अर्थात् श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीमैत्रेयीजीसे कहते हैं—अरे मैत्रेयि! यह आत्मा विज्ञान घन-स्वरूप है। 'एष हि द्रष्ट स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते। प्रश्नो० ४। ६।' अर्थात् यह ही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, संकल्प करनेवाला, जाननेवाला, करनेवाला और विज्ञानात्मा—जीव पुरुष है, यह अविनाशी परमात्मामें स्थित है। इन दोनों प्रमाणोंसे जीवकी उपर्युक्त ज्ञानस्वरूपता और ज्ञानाश्रय होनेकी ज्ञान गुणकता सिद्ध हुई।

वि० त्रि०—(क) 'अबिनासी'। अर्थात् जिस भाँति ईश्वर सद्रूप अविनाशी है, उसी भाँति जीवभी अविनाशी है, सद्रूप। (ख) चेतन' अर्थात् जड़से संबंध होनेपरभी प्रज्ञानघन है, यथा—'निज सहज अनुभवरूप (तब खल भूलि धौं आयो कहाँ)'। (ग) 'अमल'—निर्मल कहनेसे यह दिखलाया कि अभीतक (सुषुप्तितक) जीव ममतारूपी मलसे रहित है। गोस्वामीजीने ममताको मल माना है, यथा—"ममता मल जरि जाइ'। (घ) 'सहज सुखरासी' अर्थात् कारण-शरीराभिमानी होनेपर भी आनन्द-भोक्ता है। इसीसे कारण शरीरको आनन्दमयकोष कहते हैं। उसकी अवस्था सुषुप्ति है, यथा 'अब सुख सोवत सोच नहिं'।

करु०—'चेतन अमल सहज सुखरासी' इति। चेतनसे चित्‌रूप, अमलसे सत्‌रूप, सुखराशिसे आनन्दरूप अर्थात् सच्चिदानंदरूप जनाया। जैसे गंगासरयूका जल घटमें भर लिया जाय तोभी वह गंगा-सरयू-जलही कहाता है।

सि० ति०— ये ही 'सत् चित आनन्द' तीनों लक्षण छः प्रकारमें भी कहे गये हैं; यथा 'तृतीय पदेन मकारेण ज्ञानानन्द स्वरूपो ज्ञानानन्दगुणकोऽणुपरिमाणो देहादिविलक्षणः स्वयं प्रकाशो नित्यरूपो जीवः प्रतिपाद्यते।' (अग्रस्वामिकृत रहस्यत्रय)। इन छहोंमें प्रथमके तीनके आधारपर अगले तीन रहते हैं, जैसे कि 'ज्ञानानन्द स्वरूपता' से 'देहादि विलक्षणता' रहती है, क्योंकि यह बोध रहता है कि मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, यह मलिन, दुःखमय एवं हेय शरीर कैसे हूँ? इस ज्ञानमें इसमें देहाभिमानियोंके प्रतिकूल आत्म-लक्षण रहते हैं, यह उपर्युक्त 'सहज सुखरासी' के अर्थमें है। तथा—'ज्ञानानन्द गुणक' होनेसे यह 'स्वयं-प्रकाश' रहता है कि मैं स्वरूपसेही ज्ञानका आश्रय अर्थात् ज्ञानगुणक हूँ, मेरा ज्ञानरूप प्रकाश बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रिय आदिकी क्रियासे नहीं है। मैं स्वयं प्रकाशरूप हूँ। जीवात्मा अपने-अपने धर्मभूत ज्ञानके प्रकाशसे शरीरके एक देशमें रहते हुए भी समग्र इन्द्रिय-अन्तःकरणको चैतन्य किये रहता है; यथा'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत। गीता १३। ३३।'; यह उपर्युक्त 'चेतन' के अर्थमें आया। पुनः 'अणु परिमाण' होनेसे 'नित्यरूप' है, यह ऊपर 'अबिनासी' के अर्थमें कहा गया। यह उपर्युक्त 'अमल' के अर्थकी सत्-रूपतामें आया। जीवकी नित्यरूपताको श्रुतिभी कहती है; यथा 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्। श्वे० ६। १। २३।' *

भगवान श्रीरामानन्दाचार्यने जीवके इन लक्षणोंको मंत्रार्थप्रसंगमें स्पष्ट लिखा है; यथा 'ज्ञानानन्द स्वरूपोऽवगतिसुखगुणो मेन वेद्योऽणुमानो देहादेरन्य पूर्वो विविदित विविधस्तत्प्रियस्तत्सहायः। नित्यो जीव-

* यह श्रुति उस स्थानमें नहीं है।

स्तृतीयेन तु खलु पदतः प्रोच्यते स्वप्रकाशो,जिज्ञासूनां सदेत्थं शुभनति सुमते शास्त्रवित्सज्जनानाम्।' (श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ३। ६)। अर्थात् हे शुभकार्य्योंमें सुन्दर बुद्धिवाले सुरसुरानन्द! (राममंत्रके बीजके) तृतीयाक्षर मकारसे शास्त्रज्ञ सज्जन जिज्ञासुओंके सदा वेद्य (जानने योग्य) ज्ञान आनन्द स्वरूप तथा ज्ञान और सुख आदि गुणोंवाला अणु परिमाणवाला देह-इन्द्रिय-आदिसे विलक्षण, बद्ध आदि भेदोंसे अनेक प्रकारवाला प्रसिद्ध, परमात्माका प्रिय, मोक्ष आदिमें परमात्माही जिसका उपाय है, जो नित्य है और स्वप्रकाश है—वह जीव कहा जाता है।

शेषदत्तजी—१ कुछ लोग जीवको इन विशेषणोंसे सच्चिदानंद सिद्ध करते हैं। इस तरह कि चेतनसे चित्, 'अमल'से सत् और 'सहजसुखरासी' से निजानन्दनिधि जनाया। पर पहले चरणमें अंश कहा है इससे दूसरेमें फिर उसीको सच्चिदानंद कहना ठीक नहीं बनता। २—अंशके उदाहरणमें पिता-पुत्र, जल-तरंग; यथा 'मय्यनंते महाम्भोधौ वास्वर्य्यः जीव बीचयः उद्यंतिघ्नंति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः'—(अष्टवक्रे), कनक-कड़ा, सूर्य्य और किरण, इत्यादि, अनेक दृष्टान्त लोग देते हैं। पर ये पूरी तरह घटित नहीं होसकते।

जैसे कि—(क) पिता-पुत्र सहज सँघाती नहीं है और ब्रह्मजीव सहज सँघाती हैं, कभी पृथक् नहीं होते। (ख) जल तरंगमें यह आपत्ति है कि जलका तरंग और तरंगकाही जल होता है पर ईश्वर ईश्वरही है और जीव जीवही।—'ईश्वर जीव माया एते त्रैतत्त्वं दनादयोखण्डा चैकरसा सर्वदैवेति श्रुतिः'। (ग) कनक-कटक दृष्टान्तमें यह आपत्ति है कि कनक तो कटकका उपादान कारण है कार्य्यभी कनक ही है। और 'तत्' 'त्वं' का निमित्ति कारण है जैसे कुलाल घटका। जीव (चित्) और माया (अचित्) दोनों श्रीराघवके नित्य स्वरूपसे होते हैं पर अन्तर्य्यामित्वद्वारा जीवके अभ्यंतर ईश्वर प्रकाश किये रहते हैं। अतः यह कथनभी कच्चीही। (घ) जैसे सूर्य किरणोंद्वारा सिंधुजल आकर्षण कर मेघद्वारा सर्वत्र बरसते हैं इसी प्रकार राघवजी नित्य पर-विभूतियोंसे सदा विराजते हैं और जीवों द्वारा अखिल व्यवहार साधते हैं। यह कथन कुछ बनता तो है पर इसमेंभी आपत्ति है कि रविकिरण सर्वत्र पूरित तो है पर किसीमें स्नेहद्वारा बद्ध नहीं है, सूर्यास्त समय सिमिट कर रविमंडलान्तर वर्त्तती है। और, जीव तो जहाँ तहाँ बद्ध हो रहा है तथा अंतमेंभी ब्रह्ममिलाप कर शून्य है। इत्यादि।

ईश्वर-जीवमें प्रतिबिंबी-प्रतिबिंबभाव है। प्रतिबिंब=दूसरी प्रतिमा। यथा—'प्रतिबिंबेतत्कृतौच प्रतिकृत्यं च मंडले लांछने चापि विशेस्त्रीति भास्करः'। रघुनाथजीने अपनी इच्छासे अपने विनोदार्थ दूसरी प्रतिमा निर्माण की, यथा गर्गसंहितायाम्—'बिंबादिबोधृतो बिंबः ब्रह्मदेहात्तथापरः'। बिंब प्रतिबिंबी के न तो समान ही है न न्यून। तुल्य कहनेसे श्रुतिविरोध होता है—'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते'। अतएव षट् ऐश्वर्य्यके अतिरिक्त और सब प्रकार तुल्य जानिए।

सो माया बस भएउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ ३॥

अर्थ—हे गुसाईं! ऐसा वह जीव मायावश हो गया और तोते और बंदर की तरह (स्वयं ही) बँध गया। ३।

नोट—१ (क) 'सो' अर्थात् जो ईश्वरका अंश है, अविनाशी, चेतन अमल और सहज सुखराशि है वही जीव। (ख) 'माया बस भएउ' इति। यह महतत्वसे लेकर पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय इन सोलह विशेषोंतक अवस्थावाली है। सत्व, रज और तम तीनों गुणोंकी साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। यथा 'सत्वं रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति। सांख्यसूत्र।' सत्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृतिके स्वरूपानुबन्धी स्वभाव-विशेष हैं, एकमात्र प्रकाशादि कार्योंके द्वारा इनका निरूपण किया जा सकता है। प्रकृतिकी कारण-अवस्थामें तो ये अप्रकट रहते हैं और प्रकृतिके विकारभूत महतत्वादिमें प्रकट हो जाते हैं (अर्थात् इसीके गुण विषम होकर महतत्व आदि रूपमें प्रकट होते हैं)। उस समय महतत्वसे लेकर

विशेषों तक तत्वोंके द्वारा उत्पन्न देव-मनुष्यादि शरीरोंसे सम्बन्ध इस देहधारी अविनाशी जीवात्माको, जो कि स्वरूपतः गुणोंसे संबंधित होने योग्य नहीं है, देहमें स्थित होनेपर बाँधते हैं अर्थात् शरीरमें स्थितरूप उपाधिसे बाँध लेते हैं। (श्रीरामानुजभाष्य)। यथा 'सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्। गीता १४। ५।' भगवान्‌ने यह बताकर कि ये तीन गुण अव्यय आत्माको देहमें बाँध लेते हैं फिर आगेके तीन श्लोकोंमें इन गुणोंका स्वरूप और उनसे होनेवाले बंधनका प्रकार बतलाया है। यथा 'तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ। ६। रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्। ७। तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत। ८।'

सत्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक है। प्रकाश और सुखके आवरणका अभावही निर्मलता है। अतः 'निर्मलत्वात्प्रकाशकम्' का अभिप्राय यह है कि प्रकाश और सुखके उत्पन्न करनेका एकान्तिक स्वभाव होनेके कारण सत्वगुण प्रकाश और सुखका कारण है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपज्ञानका नाम प्रकाश है। तथा सत्वगुण अनामय है अर्थात् नीरोगताका कारण है। यह सत्वनामक गुण जीवको सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे बाँधता है। अभिप्राय यह है कि सुख और ज्ञानमें पुरुषकी आसक्ति उत्पन्न कर देता है। ज्ञान और सुखमें आसक्ति उत्पन्न हो जानेपर मनुष्य उन दोनोंके लौकिक और वैदिक साधनोंमें प्रवृत्त होता है, फिर उन कर्मोंका फल भोगनेकी साधनरूपा योनियोंमें जन्म लेता है। सारांश यह कि सत्वगुण ज्ञान और सुख उत्पन्न करनेवाला और फिर उन दोनोंमें आसक्ति उत्पन्न करनेवाला भी है।

रजोगुण राग (स्त्री-पुरुषकी पारस्परिक स्पृहा), तृष्णा (शब्दादि विषयोंकी स्पृहा) और सङ्ग (पुत्र मित्र आदि संबंधियोंमें संबंधविषयक स्पृहा) का कारण है। यह कर्मोंमें स्पृहा उत्पन्न करके जीवको बाँधता है; क्योंकि जीव कर्ममें स्पृहा करके जिन क्रियाओंका आरंभ करता है वे पुण्य-पाप रूप होती हैं, इस लिये वे अपने फल भोगकी साधनरूपा योनियोंमें जन्म देनेवाली होती हैं।

तमोगुण अज्ञान (विपरीत ज्ञान, मोह) का कारण है। यह प्रमाद (अकर्तव्य कर्ममें प्रवृत्त करनेवाली असावधानी), आलस्य और निद्राद्वारा जीवको बाँधता है।

इन तीनों श्लोकोंका भावही श्लोक ९ 'सत्वं सुखे संजयतिरजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।' में कहा गया है।

गोस्वामीजीने मायाकी व्याख्या इस प्रकार की है—'मैं और मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया। एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।' (आ. १५। २,५)। इन दोनों अर्धालियोंमें जीवका मायाके वश होना भी कहा है। इससे सूचित हुआ कि 'मैं'-'मोर'-'तू तेरा' मेंही जीव बँधा गया है। अविद्या मायाके वश जीव भवमें पड़ा है।

२ 'गुसाईं' इति। यह संबोधन है। यथा 'तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं। ७०। ५।', 'जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं। ७४। ८।', 'जिमि बिनु तेज रूप गोसाँई। ९०।६।','देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाई। ९६। ६।' इत्यादि। तथा यहाँ भी संबोधन है। रा. प्र. कार लिखते हैं कि यह जीवका विशेषण भी हो सकता है। भाव यह है कि जो इन्द्रियोंका स्वामी वा प्रेरक है वही जीव बँधा।

वि. त्रि.—गोसाईं = प्रभु, यथा 'स्वामि गोसाइहि सरिस गोसाईं।', 'सो गोसाइँ जेहि बिधि गति छेकी।' 'सो गोसाईं' अर्थात् वह प्रभु (कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः) है पर इस दशाको प्राप्त हो गया। यथा 'निष्काज राज बिहाइ नृप इव स्वप्न कारागृह परयो।' (वि०)। ईश्वरने तो केवल जगत्‌को उत्पन्न किया, वह उसका भोक्ता नहीं है। भोक्ता तो जीव है, इसलिये जीवको प्रभु कहा। भोगकी कल्पना जीवकी है। उसीने जगत्‌से लेकर मोक्षतक संसारकी कल्पना की है।

वि. त्रि.—माया। सत्व रज और तमकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं, यही ईश्वरकी शक्ति माया कहलाती है, यथा—'सो हरिमाया सब गुनखानी'। ब्रह्मसे पृथक् मायाकी सत्ता है नहीं, इसलिये उसे सत् नहीं कह सकते, परन्तु उससे पृथक् मायाका कार्य दृष्टिगोचर होता है, इसलिये उसे असत्‌भी नहीं कह सकते, अतएव माया अनिर्वचनीया है। ब्रह्मसे यह सर्वथा विलक्षण है। ब्रह्म सच्चिदानंद है, और माया मिथ्या, जड़ एवं दुःखरूपा है। मिथ्या, यथा—'समुझें मिथ्या सोऽपि।' जड़, यथा—'जासु सत्यता ते जड़माया।' दुःखरूपा, यथा—'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।' जिस प्रकार व्यवहारमें सत्यसे मिथ्या विलक्षण होते हुएभी, सत्यके आधार पर स्थित रहता है, सत्यके बलसे प्रकाशित रहता है और सत्यके ज्ञानसे बाधित होता है, वैसेही पारमार्थिक मिथ्या (माया) भी पारमार्थिक सत्यके आश्रित ब्रह्मसे प्रकाशित तथा ब्रह्मसे विलक्षण है और ब्रह्मज्ञानसेही उसका बाध होता है, यथा—'झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने। जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपनभ्रम जाई।'

तीनों गुणोंका यह स्वभाव है कि वे एक दूसरेको छोड़करभी नहीं रह सकते, और एक दूसरेको दबाया भी करते हैं। अतः गुणोंके तारतम्यसे मायाके भी अनेक भेद हैं, जिनमें दो प्रधान हैं। शुद्ध-सत्वा-माया, जिसमें रज और तमका लेशमात्र है, विद्या कहलाती है, जगत्‌की रचनामें यही समर्थ है और मलिन-सत्वा माया, अविद्या कहलानेवाली, जीवके बन्धनका कारण है।

वि. त्रि.—'बस भएउ'। अघटघटनापटीयसी मायाकी करामात है कि वह छाया द्वारा बिंबको वशीभूत कर लेती है, यथा 'करि माया नभ के खग गहई', 'गहै छाँह सक सो न उड़ाई'। अतः कूटस्थ, तूला-माया और प्रतिबिंब तीनों मिलकर जीव हुए, अब माया जो-जो और जैसा-जैसा नाच नचाती है, जीव वह और वैसा ही नाच-नाचता है। यथा—'देखा जीव नचावै जाही', 'नाचत ही निसि दिवस मर्यो। तब ही ते न भयो थिर जब ते जिव नाम धर्यो।'

वेदान्ती पं० रामपदार्थदासजी—'माया' इति। 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने', 'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव...' इत्यादि कुछ उद्धरणोंसे अद्वैत सिद्धान्तका भास होता है। परन्तु यहाँ अद्वैत नहीं है, क्योंकि अद्वैत सिद्धान्तमें तीन सत्तायें मानी जाती हैं—'प्रातिभासिकी' (शुक्त्यवच्छिन्न चेतनमें रजताभासकी प्रातिभासिकी सत्ता है); 'व्यावहारिकी' (शुद्ध ब्रह्ममें घटपटात्मक प्रपंचकी व्यावहारिक सत्ता है) और 'पारमार्थिकी' (शुद्ध ब्रह्म ही परमार्थिक है)।

यदि गोस्वामीजीको यह सिद्धान्त अभिमत होता तो कहीं न-कहीं इस सत्तात्रयात्मक सिद्धान्तको भी स्पष्ट करते। परन्तु इन सिद्धान्तोंको उलटे भ्रमात्मक कहते हुए आपने इन्हें छोड़नेके लिये कहा है। यथा—'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै।'—इस उक्तिसे स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि इन सांख्य, अद्वैत और द्वैताद्वैत्य आदि सिद्धान्तोंसे गोस्वामीजीका सिद्धान्त निराला है। श्रीगोस्वामीजीकी उपर्युक्त दो-चार ऐसी बातें उपलब्ध होती हैं जिनसे बहुत-से लोगोंको कुछ भ्रम होता है कि गोस्वामीजी विवर्तवादी थे—जैसे 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' इत्यादि। परन्तु इससे ग्रन्थ-कारने श्रीरामजीका उत्कर्ष विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार ही दिखलाया है।

यह प्रपंच भगवत्‌की सत्तासे पृथक् सत्ता माननेवालोंको बन्धनकारक है, क्योंकि समस्त प्रपंच ईश्वरका शरीर है—'यस्य पृथिवी शरीरं, यस्यात्मा शरीरं, जगत सर्वं शरीरं ते।', 'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।' शरीरीसे ही शरीरकी सत्ता रहती है। शरीर और शरीरीका अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध होता है। अतएव ग्रन्थकारने 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं' कहा है।......जैसे भ्रमका विषय जो सर्प है, उसकी आकृति रज्जुकी आकृतिसे पृथक् नहीं है, इसी तरह ब्रह्मके स्वरूपसे पृथक् स्वरूपवाला प्रपंच नहीं, किन्तु चिदचिद्‌विशिष्ट ब्रह्मस्वरूप एक है। यही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है। वेदान्त निष्णात श्रीगोस्वा-मीजी इसी बातको कहते हैं—'जेहि जाने जग जाइ हेराई' (जिस ब्रह्मके जाननेसे समस्त प्रपंचकी पृथक्

सत्ता नष्ट हो जाती है)। 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध' यही आचार्योक्ति सिद्ध होती है। निष्कर्ष यह कि मायाकी प्रबलतासे भ्रम होता है। भ्रम होनेसे अन्यमें अन्यका आरोप होता है। जैसे सर्प और रज्जु अपने-अपने स्थानपर सत्य हैं, परन्तु रज्जुमें सर्पका आरोप भ्रमात्मक है। सर्प सत्य है, किन्तु रस्सीको सर्प मानना मिथ्या है। इसी तरह माया जड़ है, सत्य है और भगवत परतंत्र है; परन्तु मायाको स्वतन्त्र और चेतन ब्रह्मको अधिष्ठान बनानेवाली मान लेना असत्य है। सीपीमें रजत और सूर्यकिरणमें जल सूक्ष्म रूपसे सत्य है, परन्तु स्थूल रूपसे व्यवहारके लिये त्रिकालमें असत्य है। ऐसा होते हुए भी भ्रम हो ही जाता है। यह भ्रम क्यों होता है ? मायाकी प्रबलतासे। यथा 'भास सत्य इव मोह सहाया।' उस मायाकी प्रबलताको स्वतन्त्र सत्ता मान लेना ही असत्य है। क्योंकि माया जड़ होनेसे स्वतः प्रबल नहीं है, वह तो 'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।' इसीसे गोस्वामीजी लिखते हैं—'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।'

······गोस्वामीजीने जगत्को भूठा और अनित्य माननेवालोंको बहुत फटकार बतायी है। यथा— 'भूठो है भूठो है भूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है। ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है। जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गँवार महा है।','जौ जग मृषा तापत्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे।'(कल्याणसे)

नोट—३ 'बँध्यो कीर मर्कटकी नाईं' इति। माया जड़ है, यथा 'जासु सत्यता ते जड़ माया'। जीव चेतन है। अतः जीवको कीर और मर्कट चेतनोंकी उपमा दी। कीर और मर्कटके फाँसनेमें पोंगली, तीली, घड़ा आदि काममें लाये जाते हैं जो जड़ हैं, अतः ये मायाके स्थानपर हैं।

तोतेको फाँसनेकेलिये बहेलिये यह करते हैं कि जहाँ बहुत शुक हैं वहाँ पृथ्वीपर दो लकड़ियाँ (खूँटे, तिल्लियाँ) कुछ बीच देकर गाड़कर उनपर एक गोल पतली लकड़ी, या तार या डोर इत्यादिमें बहुतसी पोंगलियाँ (पुल्ली या नली) पहनाकर, उसके दोनों सिरे खूँटोंमें कसकर बाँध देते हैं। इस यंत्रके समीप कुछ अन्नके दाने छिटका देते हैं। तोते दाना चुगने आते हैं तो स्वभावसे ऊँचेपर बैठना चाहते ही हैं। वे पोंगीपर बैठ दाना चुननेको झुकते हैं। पोंगलीके घूमतेही वे उलटे लटक जाते हैं। पंजेसे स्वयं पोंगलीको पकड़े हैं पर समझते हैं कि उसने हमें पकड़ लिया है। भ्रम और भयवश पुल्लीको छोड़ते नहीं। बस बहेलिया पास आकर एक एक करके उनको पकड़ लेता है।

बंदरको फाँसनेकी तरकीब यह की जाती है कि तंग मुँहके घड़ेमें अन्न रखकर घड़ेको पृथ्वीमें इस तरह गाड़ देते हैं कि मुँह ऊपर खुला रहे और बंदर उसे गिरा न सके। बंदर आकर उसमें हाथ डालकर मुट्ठी भर लेता है। मुट्ठी भर जानेपर वह तंग मोहरेसे नहीं निकल सकती। बंदर समझता है कि किसीने वा घड़ेने मुट्ठी पकड़ली, यद्यपि दानेके लोभसे एवं भ्रमसे वह स्वयं बँधा है, न मुट्ठी छोड़ता है, न छूटता है। जैसे शुक और बंदर अपनेको जड़से बँधा हुआ समझते हैं, वैसेही जीव समझता है कि जड़ मायाने मुझे बाँध लिया। वस्तुतः जीव स्वयं जड़को ग्रहण किये हुए है और भ्रमसे उसका पकड़ना समझता है। सुत बित नारि आदि सांसारिक समस्त विषय अन्नके दाने हैं जिनके भोगके लोभसे जीव संसार-बंधनमें पड़ता है। संसारके विषयों में ममत्व बंधनका कारण है।

शेषदत्तजी—१ सहज सुखराशि होकर विषयानन्दमें क्यों पड़ा ? इसका उत्तर यह है कि जीवका यह स्वभाव ही है, यथा—'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धरम अहमिति अभिमाना'। जीवत्ववश भूलकर मोहवश हो गया। २-यहाँ दो बातें कही हैं। एक तो 'वश' होना दूसरे 'बँधना'। 'बश भयो' से मनसे और 'बँध्यो' से तनका बँधना जनाया। वा कीरवत् वश होना और मर्कटवत् बँधना जनानेको दो विशेषण दिए।

करु०, शेषदत्तजी—लकड़ी पुल्ली आदि क्या हैं ? शुभाशुभकर्म्म दो दण्ड (खूँटे) हैं। प्रवृत्तिवर्त्तक चित्तवृत्ति मध्यका दंड है, विषयवासना पुल्ली, मायिकसुख अन्न, तृष्णा क्षुधा, प्रवृत्तिकी कचाई पुल्लीका घूमना, भगवत्की ओरसे च्युत होना शुकका उलटा भूलना है और पिंजड़ेमें पड़ना भवमें पड़ना है। इसी

प्रकार जीव मर्कट है, गृह कुल्हिया है, परिवार चना है, संसार खेत है जहाँ वह कुल्हिया गड़ी है, स्नेह (करु०—वासना) मुट्ठी है। काल नट वा किसान (करु०) मोहरूपी खलासे बाँधकर अनेक नाच नचाता है।

करु०—वहाँ सुआ पूँगलीपर अन्नकी आशासे बैठता है। पूँगलीके घूम जानेसे वह उलटा टँगा है। (गर्भमें जीव उल्टा टँगा रहता ही है)। अन्न और भी निकट हो गया। आधे अंगुलका बीच चोंच और दानेमें है पर वह एक दानाभी नहीं ले पाता। उसकी चित्तवृत्ति अन्नमय हो रही है पर न तो दूर है और न तो पा ही सके। वैसे ही जीवकी चित्तवृत्ति तृष्णाकी प्रबलतासे सुतवितदारमें आसक्त है, उसको इनका ममत्व हो गया है, वे सब समीप हैं पर वह पदार्थ किंचित् प्राप्त नहीं है, इतनेमें काल-वधिक पकड़कर चौरासी रूपी पिंजड़ेमें डाल देता है।

वै०—१ यहाँ प्रकृति खेत, बुद्धि चोंगली, सतोगुण बीचकी लकड़ी, रज तम अड्डा, जीव सुवा और काल बहेलिया हैं। २—'मर्कट' इति।—गृह कुल्हिया, सुतादिकी ममता मूठी, मोह नट है।

खर्रा—'बँधेउ कीर मर्कट की नाईं'। यहाँ दो दृष्टान्त देनेका हेतु यह है कि जैसे सुग्गा (तोता) अलब्ध विषय है और वानर लब्ध विषय, वैसेही जीव लब्ध विषय और अलब्ध विषय दो प्रकारके हैं। सुग्गा चरणबंध, वानर करबंध; तब दीप मणिका यत्न कैसे बनै।

मयूख—'शुक मर्कट' जबतक जीव निज प्रभुके समीप था तबतक शुद्ध था। जब उसमें तन, मन और विषयका संचार हुआ तब मानों शुक हुआ और जब नभचारी हुआ अर्थात् विषयमें उसकी प्रवृत्ति हुई तबसे उसका मन भ्रमकूपमें पड़ गया। जब जन्म लेकर दुःख सहने लगा तब मानों बंदरका रूप हुआ और भूतलमें छूटा हुआ चरता है, उसीको सुख मानता है।

सि. ति.—जगत् छोटे मुँहका घड़ा है! 'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा।', इन दसोंका स्नेह जगत्की दसो दिशायें हैं। इनमें सुख और वासना दाने हैं, उनकी ममतारूपी मुट्ठी बाँध ली है। अतः तीनों ऋणरूपी तीन लड़वाली रस्सीमें गला बँधा लिया और लोभवश अनेक नाच नाचता है; यथा 'लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि। वि० १५६।'

इस प्रकार यहाँ दो उपमाएँ दो प्रकारके बंधनोंके लिये हैं, एक उपमा गर्भवास तकके लिये, दूसरी सांसारिक जीवनके लिये है।

नं० प०—तोता प्राणके मोहमें पड़कर फँसता है, उसी तरह अविनाशी सुखराशी जीव अपने कुटुम्ब, परिवार, धन, दौलत, इष्ट, मित्र इत्यादिके मोहमें पड़कर फँस जाता है। और बंदर भी मुट्ठी भर चनेके लोभमें पड़कर फँस जाता है। इसी तरह जीव इन्द्रियोंके सुखके लोभमें पड़कर फँस जाता है और नाना प्रकारके दुःख उठाता है।

वि० त्रि०—१ 'बँध्यौ' अर्थात् कूटस्थ प्रतिबिम्ब द्वारा मायासे बँधसा गया, जैसे घटाकाश जलाकाश द्वारा जलसे बँध जाता है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब जलके दोषोंसे दूषित होता है, चञ्चल होनेसे चञ्चल होता है, उछलनेसे उछलता है, गिरनेसे गिरता है, दौड़नेसे दौड़ता है, निदान जलसे बँध जाता है उसी प्रकार जीव भी मायासे बँधसा गया। परन्तु जड़का उदाहरण देनेसे किसीको जीवके प्रति जड़का सन्देह न हो तथा यह शंका न हो कि अज्ञान तो कोई रस्सी नहीं है जिससे कोई बाँधा जा सके, इसलिये कहा है कि 'बँध्यो कीर मर्कट की नाईं।'

२—'कीर मर्कट की नाईं।' (क)—···विचार करनेसे यहाँ सुग्गेको अज्ञानके सिवा कोई दूसरा बन्धन नहीं है। व्यवहारकालमें (वाचक ज्ञानी) पण्डितोंकी भी स्थिति मूर्खोंसी† देखी जाती है। अतएव

† वि० त्रि०—किसी महात्माने सुग्गेकी यह दुर्दशा देखकर एक सुग्गा पाला और उसे लगे पढ़ाने—'देखो! सुग्गा! दानोंका लोभ करके नलीपर न बैठना, और यदि बैठना तो उसके घूमनेपर निडर होकर उसे छोड़ देना।' जब सुग्गा पढ़कर पंडित हो गया तो उसे छोड़ दिया। उस सुग्गेका वाक्य सुनकर दूसरे

पण्डितोंका अज्ञानबन्धन दिखलानेके लिये 'कीर की नाईं' कहा। (ख)—वानर भी अज्ञानसे ही बँधा है। यह मूर्ख होनेसे 'सुग्गा पण्डित' की भाँति मोक्ष-शास्त्रका पाठ करते हुए बद्ध नहीं है। मूर्खका बन्धन दिखलाने के लिये 'मर्कट की नाईं' कहा।—इसी तरह जीव अज्ञान बंधनसे बँधा हुआ है, हजार प्रयत्न करनेपर भी नहीं छूटता।

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥ ४॥

अर्थ—जड़ और चेतनमें गाँठी पड़ गई। यद्यपि (जड़ और चेतनमें गाँठ पड़ना) झूठ ही है तो भी छूटनेमें कठिनता है। ४।

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई

रा० प्र०—ग्रन्थि सनेह है जैसे वर-दुलहिनिकी गाँठ जोड़ना स्नेहका सूचक है।

मा० म०—चेतन आत्मा और जड़ मायामें परस्पर जो सरसता और नीरसता है उसीकी स्नेहरूपी ग्रन्थि दोनोंके बीचमें पड़ गई। जीव मायामें सरसता समझ उसके सुखको भोगता है और माया इसीको भोगती है अतः जीवका छुटकारा नहीं होता। पुनः, ग्रन्थि तो सत्य है परन्तु इसका पड़ना मिथ्या है। यह 'भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी' का उत्तर अर्थात् स्पष्टीकरण है।

पं०—देहमें अहं भाव गाँठ है। यह झूठी है क्योंकि चेतनसे इतर जड़ कोई वस्तु है ही नहीं तब गाँठ किससे पड़े। पर ज्ञानके साक्षात्कार विना छूटना कठिन है।

वै०—'जड़ चेतनहि ग्रंथि०।' तोता और बन्दर चेतन, पिंजड़ा और रस्सी जड़; पर तोता पिंजड़ेके अधीन एवं बंदर रस्सीके अधीन चलते हैं। वैसेही आत्मा चेतन त्रिगुणात्ममाया जड़में बँध गई। अर्थात् ईश्वरांश और प्रकृति-अंश मन दोनों मिल गए जिससे आत्मदृष्टि भुलाकर बुद्धि-दृष्टि उत्पन्न हो गई कि मैं कुछ हूँ तब त्रिगुणात्म अहंकार हुआ जिससे इन्द्रिय, इंद्रियदेवता, विषय इत्यादि सब जीवमें हो गए—ये ही सब जड़ बंधन हैं। 'जड़' का भाव कि उसे बाँधनेकी शक्ति नहीं है। जभी जीव उनसे मुँह फेर ले तभी बंधनरहित हो जाय। विचारने मात्रसे झूठा है क्योंकि बाँधना छोड़ना जब अपने ही हाथ है तब सच्चा कहाँ?

वि० त्रि०—१ 'जड़ चेतनहि'। जड़-चेतन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थ हैं। एक अन्धकार है, तो दूसरा प्रकाश है। एक विषय है दूसरा विषयी है। एक मिथ्या है तो दूसरा सत्य है। इन दोनोंमेंसे एकका दूसरेमें अध्यास (भ्रम) होना अथवा एकके धर्मका दूसरेमें अध्यास होना मिथ्या है। यथा—'छिति जल पावक गगन समीरा। पंचरचित यह अधम सरीरा॥ प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य तैं केहि लगि रोवा॥'

२ 'ग्रंथि परि गई'। गाँठ पड़ गई। अर्थात् तादात्म्य हो गया जड़में चेतनका अध्यास (भ्रम) होने लगा और चेतनमें जड़का। इस गाँठको किसीने बाँधा नहीं है। अनादिकालसे पड़ी हुई है। शिष्यको समझानेमें सुभीताके लिये 'परि गई' कहा। कारण-शरीरमें जो चेतनका अध्यास हुआ वही प्रतिबिम्ब है, वही गाँठ है। यथा—'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँकाल महँ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥ एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।'

३ 'जदपि मृषा'। झूठी अर्थात् भ्रम मात्र है। मायाके साथ असंग कूटस्थका सम्बन्ध कैसा? घटाकाशका जलसे सम्बन्ध केवल भ्रमसे सिद्ध है। यथा—'जदपि असत्य देत दुख अहई'। 'छूटत कठिनई'—छूटना कठिन है। किसीका हटाया नहीं हटता। क्या लोकका, क्या वेदका, सब व्यवहार इसी अध्यासपर टिका है। यथा—'कर्म कि होइ सरूपहिं चीन्हे।'

सुग्गेभी वैसेही बोलने लगे। महात्मा बड़े प्रसन्न हुए कि सभी सुग्गोंका भय निवृत्त हो गया। परन्तु उनके आश्चर्यका कोई ठिकाना नहीं रहा जब कि उन्होंने एक सुग्गेको उसी प्रकार उलटा लटके हुए यह पढ़ते पाया कि 'देखो०।

सि. ति.—जड़ माया और चेतन जीव इन दोनोंका विवेक नहीं होना बंधन है, जीव (पुरुष) के सम्बन्धसे प्रकृति (माया) चेतन-सी भासती है और प्रकृतिके सम्बंधसे पुरुष जड़वत् भासता है। इस तरहका अन्योन्य अध्यास (भ्रम) होना, एकके धर्मका दूसरेमें अध्यास होना, तादात्म्य हो जाना—चेतन और जड़का गठबंधन है, यही चिज्जड़ ग्रन्थि कही जाती है। 'जदपि मृषा'—यह गाँठ पड़ना मिथ्या है, क्योंकि जड़ चेतन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले हैं। एक तम तो दूसरा प्रकाश, एक विषय तो दूसरा विषयी, एक अनित्य तो दूसरा नित्य। इनका संबंध कैसा? एकका दूसरेमें अध्यास होना भ्रममात्र है।● देहके धर्म मानापमान आदिका सुख-दुःख जीवको होता है। जीवके धर्म हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान आदिका आश्रय बुद्धि अहंकार आदि भासते हैं। यह भ्रम मात्र है। पर छूटना कठिन है; यथा 'भ्रम न सकइ कोउ टारि', 'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।'

प० प० प्र०—इसके दोनों चरण १५-१५ मात्राओंके हैं। इस न्यूनतासे आश्चर्यका भाव प्रकट किया है, कि मिथ्या वस्तुसे भी सुख-दुःखादिका अनुभव और जन्म-मरणादि हैं, यह मायाकी प्रबलता है।

तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होई सुखारी॥५॥

अर्थ—(जबसे जड़ माया और चेतन जीवका गठबंधन हुआ) तबसे जीव संसारी हो गया। न गाँठ छूटे न वह सुखी हो। ५।

नोट—१ 'तबसे जीव भयउ संसारा'। संसारी=संसारके विषयोंमें लिप्त, भवमें पड़नेवाला। हरिसे पृथक् होनेपर जीव संज्ञा हुई। मायामें पड़ जानेसे स्वस्वरूप भूलकर विषयासक्त होजानेसे संसारी होना कहा। कबसे जीव हुआ पता नहीं, अतः ग्रंथि अनादि है। यथा—'जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो॥ मायाबस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥ वि० १३६।', 'नाचत ही निसिदिवस मरयो। तब ही ते न भयउ हरि थिर जब ते जिव नाम धरयो। वि० १६१।

२ 'तब ते'—इससे जनाया कि कालका कोई नियम नहीं है, अनादि कालसे संसार-चक्र ऐसाही चला आता है। जीव और मायाका संबंध भी अनादि कालसे है। केवल समझानेके लिये 'तब तें' कहते हैं। यथा 'बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।' (वि० त्रि०)

मा० म०—'तब ते जीव भयउ' से जनाया कि पहलेभी जब यह शुद्ध ब्रह्मके देशमें था तब भी यह जीव ही था परन्तु जबसे ग्रंथि पड़ी, मायाका संसर्ग हुआ तबसे यह संसारी हो गया, पहले संसारी न था।

स्वामी श्रीभोलेबाबाजी ('भवतरणोपाय' शीर्षक लेख कल्याण भाग ५ पृष्ठ ५३३ में) लिखते हैं कि—लोकोंकी उत्पत्तिका आदि हेतु प्रकृति है, उस प्रकृतिको कारण कहते हैं। कारणरूप प्रकृतिके संगसे आत्मा ब्रह्मकी आत्मदृष्टि भूलकर जीव होगया। जब जीव आशामें बद्ध हुआ, तब बुद्धि हुई, जब असत् बुद्धि हुई, तब जीव असत् वासनामें बँधगया। जब जीव असत् वासनामें बँधा तब अहंकार हुआ, अहंकार होनेसे जीवमें विषमता आयी। सात्विक, राजस और तामस भेदसे अहंकार तीन प्रकारका है। सात्विक अहंकारसे दश इन्द्रियाँ और मन हुआ, राजससे इन्द्रियके देवता और तामससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध सूक्ष्मभूत हुए। सूक्ष्मभूतोंसे क्रमसे, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी पाँच स्थूलभूत हुए। इस प्रकार स्थूल शरीर हुआ। विषयसंगसे काम हुआ, कामनाका नाश होनेसे क्रोध और क्रोधसे मोह हुआ, मोहांध होनेसे बुद्धि नष्ट हुई, तब जीव विषयी होगया।

वै०—'जीव भयउ संसारी'। जीव संसारी जीव हो गया। भाव कि जीव अर्थपंचकमें ५ प्रकारके कहे गए हैं—१ 'नित्य' जो सदा भगवत्समीपी हैं, सहजही अपना रूप सँभारे रहते हैं, माया छू नहीं जाती। २ 'मुक्त' जैसे भगवत्पार्षद। ३ 'कैवल्य' जो प्राकृतदेहधारी भगवत्में ही लगे रहते हैं। ४ 'मुमुक्षु'। ५ बद्ध।—

● पाठक देखेंगे कि पं० श्रीकान्तशरणने मा० पी० में से (रेखांकित अंशको छोड़कर) पं० वि० त्रि० के लेखको कैसा चुराया है। इसी तरह प्र० सं० के सारे मा० पी० की चोरी की थी।

बद्ध जीव संसार-व्यापारमें लगा रहनेसे संसारी होकर दुःख भोगता है।

वि० त्रि० १—'तब ते'। अर्थात कालका कोई नियम नहीं है, अनादि अन्धपरम्परासे। अनादिकालसे संसार ऐसाही चला आता है। इसीको अविद्या-निशा कहते हैं। इसीमें स्वरूपाज्ञान अर्थात् सुषुप्ति होती है। इस अवस्थाके विभु ईश्वर हैं। अपरिच्छिन्न तथा असङ्ग होनेसे विभुमें अहङ्कारकी गाँठ नहीं होती, परिच्छिन्न और सङ्गी होनेसे जीवमें अहंकारकी गाँठ है। इसी गाँठमें आवरण और विक्षेपरूपी निद्रा है। इसी निद्रामें पड़ा हुआ जीव अनेक प्रकारके स्वप्न देखा करता है। यथा—'मोह निसा सब सोवनिहारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा।।', 'आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।।' 'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।।'

इसी सुषुप्तिसे भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। कारण देह प्राप्त ईश्वरांशके भोगके लिये ईश्वरेच्छासे तमः प्रधान प्रकृतिमें आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी तत्त्व उत्पन्न हुए, जिनके सत्त्वांशसे क्रमशः पंचज्ञानेन्द्रियाँ और मिलकर अन्तःकरण तथा रजांशसे क्रमशः पंचकर्मेन्द्रियाँ और मिलकर प्राण उत्पन्न हुए, यथा—'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कर नाथ सहज जड़ करनी।। तब प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाये।। बिषय करन सुर जीव समेता।'

इन पाँचोंसे जो शरीर बना वही लिङ्ग देह है। यहाँसे संसार अंकुरित होगया, जो कि स्थूलावस्थामें पल्लवित और पुष्पित होगा। इस लिङ्गदेहाभिमानीका नाम तैजस है और इसके विभु हिरण्यगर्भ हैं। इस तैजसके भोगके लिये भगवान्ने पंचतत्वोंका पञ्चीकरण करके स्थूल शरीर तथा इस ब्रह्माण्ड-भुवनकी रचना की, यथा—'जड़ पंच मिलै जिन देह करी करनी बहुधा धरनीधर की।' (क०)।

सोलह आनेमेंसे आठ आने एक तत्वविशेषको लेकर उसमें दो-दो आने शेष चार तत्वोंको मिलाकर उस तत्व विशेषको स्थूल रूप दिया। यही पञ्चीकरण है। जब तैजस स्थूल देहका अभिमानी होता है तब उसे विश्व कहते हैं। इसकी जाग्रत् अवस्था और विराट् विभु हैं। यथा—'जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं'। प्रतिबिम्ब चाहे किसी अवस्थाको पहुँचे पर बिम्बसे उसका साथ नहीं छूटता, यथा—'ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती।' अवस्था भेदके सम्बन्धसे बिम्बमेंभी भेदकी कल्पना होती है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्के भेदसे जीव क्रमसे प्राज्ञ, तैजस और विश्व हुआ। उसी भाँति तुरीय ब्रह्मभी ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् कहलाये। ऐसा संसारका रूप अनादिकालसे चला आता है, केवल समझानेकेलिये 'तब ते' कहते हैं यथा—'बिधि प्रपंच अस अचल अनादी'।

२ 'जीव भयेउ संसारी'।—जीव अपने सहज स्वभाव सच्चिदानन्दरूपको छोड़कर ईश्वरांशके ऐश्वर्य्यको खोकर संसारी हुआ, देहवाला हुआ। अब (१) लिङ्गदेह (२) लिङ्गदेहमें स्थित चिच्छाया और (३) अधिष्ठान चैतन्य, तीनों मिलकर जीव कहलाये। इस प्रकार तीन प्रकारके जीव हुए। (१) पारमार्थिक (२) प्रातिभासिक और (३) व्यावहारिक। पारमार्थिक जीव कूटस्थ है और प्रातिभासिक जीव लिङ्गदेहवाला है। इसी तीसरेको संसारी कहा। इसीका लोकपरलोकमें आना जाना लगा रहता है। स्थूल-शरीर छूटता रहता है, पर यह लिङ्ग शरीर नहीं छूटता। यथा—'कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं।'

ग्रंथि न छूट न होइ सुखारी'। न जड़चेतनवाली अज्ञानकी गाँठ छूटती है और न जीव सुखी होता है। अज्ञानवाली गाँठ छूटे बिना सहज-स्वरूपकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। किसी प्रकार जड़-चेतनकी गाँठ छूटनी चाहिये। यथा—'तुलसिदास 'मैं' 'मोर' गये बिनु जिव सुख कबहुँ न पावै। वि० १२०।' तीनों चौपाइयोंमें सर्वप्रथम साधन मुमुक्षुत्वका वर्णन किया।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।। ६।।

अर्थ—श्रुतियों और पुराणोंने बहुतसे उपाय कहे हैं पर वह ग्रन्थि छूटती नहीं वरन् अधिकाधिक उलझती जाती है। ६।

नोट—१ 'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।०'। बहु उपाय कहे, इससे जनाया कि वे इसकी कठिनता जानते हैं और यह जानते हैं कि इसका छुटाना जरूरी है; अतः उपायपर उपाय कहे। उपाय जैसे कि दान, यज्ञ, तप, व्रत इत्यादि। इनसे इहलोक और परलोकके विषयभोगकी वासना अधिकसे अधिक होती जाती है। यथा—'करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥ वि० १२८।', 'तप-तीरथ-उपवास-दान मख जो जेहि रुचै करो सो। पायेहि पै जानिबो करमफलु भरि भरि बेद परो सो॥ आगम बिधि जप जोग करत नर सरत न काज खरो सो। वि० १७३।'

२—'छूट न०' इति। उपाय होते हुएभी न छूटनेका कारण आगे कहते हैं कि 'जीव हृदय तम मोह बिसेषी'। मोहके कारण वह ग्रंथि सूझ नहीं पड़ती, अँधेरेमें छुड़ानेका प्रयत्न करनेसे गाँठ और उलझ जाती है इससे जनाया कि मोहान्धकार दूर करके उपाय करे तो सफलताकी आशा है। कर्म कामनायुक्त होते हैं उनमें अहंता और फलेच्छा बढ़ती जाती है कि हमने यह किया, हमें उससे यह फल मिलेगा, इत्यादि। इसीसे उलझाव होता जाता है। छूटै मल कि मलहि के धोए। ४९। ५।' में देखिए।

यह मोहांधकार तभी छूट सकता है जब श्रीरामजीका अनन्य भक्त हो जाता है। 'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। कि० ३।', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोधा।', 'सातवँ सम मोहि मय जग देखा। ४। ३६। ३।', 'जगत् सर्वं शरीरं ते' इति श्रुतिः। जब यह भाव हो जायगा, तब राग द्वेषादि, अहंकार आदि कुछ भी रहही नहीं सकते, तब तो 'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः।'

मा० म०—'श्रुतिपुरान बहु कहे उपाई।०' का संदर्भ यह है कि योग यज्ञ व्रत इत्यादि जो श्रुति उपदेश करती है उसके करनेसे उसका शुभाशुभ फल जीवको भोगना पड़ता है, इन कर्मोंके अनुसार अनेकों बार जन्म मरण भोगना पड़ता है—यह अधिक-अधिक उलझना है।

रा० प्र०—उपनिषद्का ज्ञान थोड़ा होनेसे जैसा चाहिये वैसा अनुष्ठान नहीं बनता, ज्ञान हुआ थोड़ा, अहंकार हुआ अधिक। अतः पद पाकरभी गिरते हैं फिर मायाजालमें उलझते हैं। इसी तरह योगादिकमें सिद्धि पाकर उसीमें भूल जाते हैं और उस पदसे विमुख रह जाते हैं।'

करु०, मा० म०, वि० टी०—'छूट न अधिक अधिक अरुझाई'। भाव यह है कि कहे हुए उपाय अनधिकारी होनेके कारण बहुत कम लोग समझते हैं, जो समझते हैं उनमेंसे कम लोग इन उपायोंको करते हैं और जो करते भी हैं उन्हें अनेक विघ्नोंके कारण सिद्धि प्राप्त नहीं होती, इसीसे वे हताश होकर फिर उपाय नहीं करते।

मा० शं०—जब छूटतीही नहीं तब उपायसे लाभ ही क्या? भाव यह है कि इनने अनेक उपाय कहे हैं पर उपाय करो ही नहीं तब छूटे कैसे? अथवा, ये सब उपाय उलझनेके ही हैं; जैसे तीर्थाटन और दीर्घसूत्री हैं इसीसे निष्फल होता है। विशेष भाव यह है कि २४ तत्त्वका नवाद्वयुक्त शरीर है, उसके भीतर १२ अंगुलका सूक्ष्मशरीर है, इसके भीतर ६ तत्वोंका कारणशरीर है और आत्ममार्ग मुखका द्वार है जिसमें स्वस्वरूपविस्मरणरूपी किंवाड़े बंद हैं, उसके भीतर जीव मोहतमसे ढ़का हुआ है। उसके अंतरग्रंथि लगी है। वह उसे बिना देखे अपनी बुद्धिसे खोलना चाहता है। तब श्रुतिपुराण सुलझाना चाहते हैं पर वह अधिक उलझता है क्योंकि श्रुतिपुराणभी तो बाहरही हैं, देखते तो ये भी नहीं।

व.रु०, शेषदत्तजी—श्रुति यज्ञ तीर्थाटनादि कर्मकांड उपाय बताती है। यज्ञोंसे स्वर्ग, इन्द्रपद, इत्यादि मिलता है; इसीसे अधिक उलझना कहा। [और ज्ञानको वेदपुराण निरुपाय कहते हैं—(करु०)]

पां०—इन चौपाइयोंका भाव यह है कि जैसे बंदर और तोता चेतन होकर जड़ वस्तु पिंजड़े और

रस्सीमें फँसकर नहीं निकल सकते ऐसेही जीव मायामें ग्रस्त होकर नहीं छूटता। वेदने अनेक उपाय कहे हैं पर वह अपनी करनीसे अधिक लपट जाता है।

वै०—उपाय करनेपरभी नहीं छूटती क्योंकि कर्म ज्ञान साधनादि ज्यों ज्यों करता है त्यों-त्यों तेजप्रताप शक्ति ऐश्वर्य्य बढ़ते हैं जिससे मानमदादि औरभी प्रचंड पड़ते जाते हैं। सत्कर्म सवासिक करते हैं और अशुभ स्वभावसेही होता जाता है। लोकव्यवहारकी सत्यताकी प्रतीति अधिक बढ़ती है।

वि० त्रि०—१ 'श्रुति पुराण'। वेदपुराणसे बढ़कर कोई प्रमाण नहीं, यथा—'मारुत श्वास निगम निज बानी।' तथापि वे भी जड़चेतनके अध्यासपूर्वकही प्रवृत्त होते हैं, अतएव अविद्यावालेही हैं, पर ग्रन्थि-भेदका उपाय बतलानेमेंभी यही समर्थ हैं—'तस पूजा चाहिय जस देवता'।

२ (क)—'अधिक अधिक अरुझाई'।—अनेक साधन जो बतलाये गये हैं, वे सब जीवके कल्याणके लिए ही हैं। अधिक-अधिक उलझनेका कारण यह कि—'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥'—का कर्मकाण्डमें उपयोग नहीं है। और बाह्यधर्म, देहधर्म, इन्द्रिय-धर्म और अन्तः करणधर्म-सम्बन्धी विधि निषेध कहकर ही कर्मकथाका उपदेश है।

बाह्यधर्म, यथा—'पूजहु ग्रामदेवि सुरनागा। कह्यो बहोरि देन बलिमागा॥'

देहधर्म, यथा—'करहु जाइ तप सैलकुमारी'।

इंद्रियधर्म,—'काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि नत चलिय पराई॥'

अन्तःकरणधर्म,—'मनहु न आनिय अमरपति रघुपतिभगत अकाज॥'

इन विधियोंके पालनमें धर्म है, स्वर्ग है, पर कर्मसन्तति बढ़ती ही जाती है। बिना अध्यासकी दृढ़ता बढ़ाये कोई धर्म्म नहीं हो सकता। अतः बाह्य पदार्थ, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें अध्यासोंकी उलझन बढ़ती ही जाती है। (ख)—'छूट न'। कारण कि साधन-चतुष्टय-बिना तत्त्व-विवेकका अधिकार नहीं होता। अतः जिसने साधन नहीं किया उसे शास्त्रके पाण्डित्यसेभी ज्ञान नहीं होता। यथा—'वाक्यज्ञान अत्यंत निपुन भवपार न पावै कोई। निसि गृह मध्य दीपकी बातन्ह तम निवृत्त नहि होई॥ (वि०)॥

नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, इहलोक और परलोकके विषयभोगसे विराग, षट्-साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व ये चार साधन हैं और शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये षट्सम्पत्तियाँ हैं, इस प्रकार साधन-चतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी जब गुरु-वेदान्त-वाक्य-जन्य ज्ञानसे ग्रन्थिभेद करना चाहे तभी संभव है। नहीं तो—'सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै॥' केवल शास्त्रचर्चा वा अनधिकार-चर्चासे गाँठ नहीं छूटती।

सि० ति०—ज्ञानमें अहंकार आदि दोष और उपासनामें दंभ लोभ आदि आ जाते हैं। यथा 'करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूलें तरु फोकट फरनि॥ दंभ लोभ लालच उपासना बिनास नीके सुगति साधन भई उदर भरनि। योग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान बचन बिसेष कहूँ न करनि। बि० १८४।'

भाव यह कि पहले मोहांधकार दूर करके उपाय किया जाय तो सफलताकी आशा हो। देहाभिमान-की निवृत्ति तभी होती है जब यह अपनेको एवं सब जगत्को भगवान्का शरीर जानता है, तब शरीरी होनेसे इसके सब उपायोंके कर्ता भगवान्ही रहेंगे। इसीके लिये भगवान्ने जहाँ-तहाँ विराट्रूप दिखाकर अपनेको जगत्भरका शरीरी दिखाया है। और उसकी दुर्लभता पर कहा भी है—'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। गीता ११। ५३।'

भगवान्को अपना और जगत्का शरीरी जानकर उपासना करना उक्त ग्रंथि छूटनेका एक उपाय है। दूसरा कैवल्य ज्ञान साधन है जिसे आगे 'अस संजोग...' से कहेंगे। इन्हीं दोनों उपायोंको गीता अ० १२ में 'एवं सतत युक्ता ये....' इस श्लोकमें कहकर फिर इनका तारतम्य भी कहा है। वहाँ भगवान्ने कैवल्य साधन रूप अक्षरोपासनाको अत्यन्त कठिन और भगवदुपासनाको सुलभ एवं शीघ्र फलप्रद कहा है। वैसाही प्रसंग

यहाँ भी है। पहले कैवल्य साधनकी कठिनता कहकर भक्ति चिन्तामणिकी महिमामें उसका सौलभ्य और शीघ्र फलप्रदत्व कहा है।

जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परै न देखी ॥ ७ ॥

अर्थ—जीवके हृदयमें मोहरूपी अंधकार बहुत है, गाँठ देख नहीं पड़ती तब छूटे कैसे ? ७।

खर्रा—१ 'तम मोह बिसेषी', मोहरूपी तम बिशेष है। यहाँ मोह भगवत्स्वरूपके यथार्थ ज्ञानका अभाव है, वह तमरूप है।—'परै न देखी', यहाँ जानना देख पड़ना है।

पं०—भाव कि आत्मा-अनात्माका ज्ञान नहीं तब गाँठ कैसे सुलझे ? यदि कहो कि जब गाँठ उपायोंसे खुलती नहीं तब तो वेदादिके वाक्य व्यर्थ ही हुए, उसपर आगे कहते हैं कि 'अस संजोग'।

पं० रा० व० श०—ममतारूपी ग्रन्थि इतनी सूक्ष्म है कि समझानेसे भी किसीको नहीं सूझता कि हम जिनको अपना समझते हैं वे हमारे नहीं हैं। जब यह उसे सूझता ही नहीं तो छोड़ कैसे सके ? ममता को तागा कहा भी है, यथा—'सब कै ममता ताग बटोरी। मम-पद मनहि बाँध बरि डोरी। ५। ४८। ५।'

शेषदत्तजी—'मोह बिसेषी.. परै न देखी' का भाव कि मोह ससमाज उपस्थित है। न सूझना छः कारणसे है—स्वस्वरूप भूला है, हृदय ज्ञानशून्य है, मोह क्रोधादि समाज सहित आच्छादित किए हैं, ज्ञान वैराग्य-नेत्ररहित है, सुकृतिशून्य है, और विमुखताका फल भोगना है।

वि. त्रि.—१ (क) 'जीव हृदय'। यहाँ हृदय कहनेसे स्थूलदेहकी प्राप्ति दिखलायी। जीवके स्थूल-देहमें हृदय ही राजप्रासाद है, यथा—'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी'। (ख) 'तम मोह बिसेषी'। मोह अविवेकको कहते हैं, उसीको अन्धकार कहा गया है। इसीके कारण अध्यास होता है और यही अध्यासको बढ़ाता है। यथा—'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।' अविद्यारात्रिमें मोह-तमकी प्रबलता होती है। जीवहृदय पर अविद्याका अधिकार है, क्योंकि वहीं जड़-चेतन-ग्रंथि पड़ी हुई है। अन्धकार तो संसारी होनेके पहले ग्रन्थिमात्रसे ही था, परन्तु अब संसारी होनेसे अधिक हो गया, यथा—'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा।' इत्यादि। (ग) 'ग्रन्थि छूट किमि'। विना देखेही टटोलकर ममताके सूत्रोंको इधर-उधर खींचनेसे बन्धन ही दृढ़ होता है। 'परै न देखी' और विना प्रकाशमें देखे कि गाँठ कहाँ और कैसी है छूटना असम्भव है, अतएव दीपक जलाना चाहिए।

अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई ॥ ८ ॥

अर्थ—जब ईश्वर ऐसा संयोग कर दें (जैसा आगे कहते हैं) तब भी कदाचित् ही वह (चित्-अचितकी गाँठ) छूट जाय तो छूट जाय। छूटनेमें सन्देह है। ८।

पं० रा० व० श०—'अस संजोग ईस जब करई'। ईश्वरने ही कृपा करके मोक्षसाधनका यह दुर्लभ साजरूपी शरीर दिया, यथा—'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।' वैसेही वे ही कृपा करके यह संयोगभी कर देते हैं। अतः 'ईस जब करई' कहा। यह संयोग कृपासाध्य जनाया, क्रियासाध्य नहीं।

मा० म०—'अस संजोग ईस जब करई' इति। यहाँ ईश ब्रह्माको कहा जिसने परतम श्रीरामचन्द्रसे जीवको विमुख किया, वह ऐसा संयोग नहीं करता, यदि करेभी तो ऐसा संयोग होना कठिन है इसीसे कहा कि 'तबहुँ कदाचित सो निरुअरई'।

वि० त्रि०—संयोग ब्रह्माके हाथकी बात है, मनुष्यके सामर्थ्यसे सर्वथा परे है। यथा—'जो बिधि बस अस बनै संजोगू'। 'अस संयोग'—ऐसा कहनेका भाव यह है कि संयोगोंका सिलसिला बँध जाय। अर्थात् सात्विक श्रद्धारूपी गौ भी मिल जाय, शुभधर्म रूपी चाराभी मिले, इत्यादि यथेप्सित मिलते ही चले जायँ।

पं०—भाव कि शास्त्रोंकी प्रवृत्ति व्यर्थ नहीं है परन्तु जब ईशकी कृपा हो तब बने।

शेषदत्तजी—रामकृपा होनेपर भी कदाचित सुलझना, यह कैसे ? उत्तर यह है कि "राघवकी सहज

कृपा तो समस्त जीवोंपर सनातनसे है पर जीव ही अपनी कृतघ्नतासे इतः ततः गोते ही खाता है। जिस बिना ही साधन परम कल्याण होता है वह तो नित्यानुरागियों ही राघवीकृपासे पर बनती है।''

पाँ०—कदाचित् ईश्वरभी छुड़ानेपर सानुकूल हों तो भी अपनी करनीके कारण छूटे वा न छूटे।

वि० त्रि०—१ 'इस जौ करई'। भाव कि ऐसा संयोग विधिभी नहीं कर सकते, वे तो स्वप्नके विभु हैं, कारणपर उनका अधिकार नहीं है, कर्म शुभाशुभ दिया करते हैं, यथा—'कर्म सुभासुभ देइ बिधाता'। और ईश्वर सुषुप्तिके विभु हैं। कारणपर भी उनका अधिकार है, कर्मकी अपेक्षा न करके भी संयोग कर सकते हैं। अथवा, जीव जिनका अंश है, वही चाहें तो ऐसा संयोगभी कर दें।

२ 'तबहुँ कदाचित'। कार्यसिद्धिमें सन्देह है क्योंकि साधन कठिन है और संसारी जीव रोगी हैं। रोगीकी क्या सामर्थ्य कि कठिन साधनका सामना कर सके। यथा—'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला। १२१। २९।...एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हर्ष भय प्रीति बियोगी। १२२। १।', 'एक ब्याधिबस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि। पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि।। १२१।' और दूसरी बात यह है कि 'अकृतोपास्ति-ज्ञान' जिसमें भक्तिकी सहायता नहीं है ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता, यथा—'जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।०' [ईशके किए ही संयोग हो सकता है, क्योंकि आगे सात्विक श्रद्धाका निरन्तर वास कहते हैं जो विना कृपाके हो नहीं सकता, यथा—'नित जुग धर्म होहिं सब केरे।', 'काल धर्म नहिं ब्यापहिं तेही। राम कृपा करि चितवहिं जेही।' (रा० शं० श०)] ३—'सो'=वह चित् (अस्ति, भाति, प्रिय) और जड़ (नाम रूप) की गाँठ। अस्ति (सत) भाति (चित्) और प्रिय (आनन्द) ये तीन अंश ब्रह्मके और नाम और रूप दो अंश मायाके, इन्हीं पाँचोंने उलझन कर प्रपञ्चवकी गाँठ बना रक्खी है, और इन्हींके उलझन पर उलझन पड़नेसे संसार बना हुआ है, सो सुलझ जाय। अर्थात् तीन अंश ब्रह्मके पृथक् और (नामरूप) दो अंश मायाके पृथक् हो जायँ। गाँठके अँधेरेमें होनेके कारण प्रकाशके लिये दीपकका संकल्प हुआ। दीपके साधनमें, ठहरनेमें ऐसा विघ्न-बाहुल्य है कि—संयोग अनुकूल होनेपरभी कहना पड़ा कि कदाचित् ही वह सुलझ सके, यथा—'माधव मोह-पास क्यों टूटै। बाहिर कोटि उपाय करिय अभि-अंतर ग्रंथि न छूटै॥ घृत पूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै। ईंधन अनल लगाइ कल्पसत औटै नास न पावै॥ तरुकोटर महँ बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसे। साधन करिअ बिचार हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे। अंतर मलिन बिषय मन अति तनु पावन 'करी हमारे'। मरइ न उरग अनेक जतन बलमीक बिबिध बिधि मारे॥ तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिबेक न होई। बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई॥ वि० ११५।'

☞ त्रिपाठीजी पूरे ज्ञानदीपक प्रसंगका खुलासा यहाँ करते हैं। इसके धारण कर लेनेसे आगे समझनेमें सुगमता होगी।—'वह ईशका किया हुआ संयोग इस प्रकार हो कि—'सात्विकी श्रद्धा हरिकी कृपासे हृदयमें बसे, और उस श्रद्धाद्वारा खूब धर्माचरण हो, जिसमें श्रद्धा परिपुष्ट होती जाय और धर्मके साथसे रज और तमके अभिभूत होनेसे सात्विक भाव उत्पन्न हो। तब श्रद्धा द्रवीभूत होती है, धर्माचरणका सात्विक परिणाम अहिंसा-दया-भावमें प्रकट होता है। तब वशीभूत निर्मल मनको श्रद्धाके चरणोंमें लगा दे, और दृढ़ विश्वास करके अहिंसामें प्रतिष्ठित हो जाय, प्राणिमात्रको अभयदान दे। धर्मव्रतधारीके हृदयमें (जबतक) दयाका प्रादुर्भाव नहीं होता, तबतक समझना चाहिये कि परम धर्मका उदय नहीं हुआ। अहिंसामें प्रतिष्ठित होनेपर निष्कामतासे अहिंसागत कामनाके अंशको दूर करे। कामनाके अंशको दूर करनेसे जो ताप होता है उसे क्षमाद्वारा तोषसे दूर करे। जब शीतल निष्काम दयाभाव हो जाय तो उसे धृतिसे ठोस करे। तब उस शीतल ठोस निष्काम दयाभावका दमपूर्वक गुरु-शास्त्रोपदेशानुसार विचारसे मन्थन करे। (दमपूर्वक इस लिये कहा कि हृदयदौर्बल्यको स्थान न मिले, जैसे कामपीड़ित व्यक्तिकी तृप्ति आदि शास्त्रविरुद्ध विषयका दयामें समावेश न हो), विचार करे कि संसार दुःखमय है। हम जीव इसमें पड़े हुए क्लेश उठा रहे हैं, इस दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति कैसे हो, इत्यादि। इन विचारोंसे साधक जिस निश्चयपर पहुँचेगा, वही

वैराग्य है। उस निश्चयका यह रूप होगा कि 'ये विषय अनित्य हैं, दुःखकी योनि हैं, चाहे ये इस लोकके हों, चाहे परलोकके।' और फिर उनसे आपसे आप जी हटेगा। जब चित्तमें विराग आ जायगा तब वह विषयोंको छोड़ सकेगा, और तब उसे योगका अधिकार होगा।

चित्तवृत्तिका निरोध योग है। वैराग्यसे चित्तवृत्ति-निरोधकी योग्यता प्राप्त होती है, परन्तु शुभाशुभ कर्मसे सम्बन्ध त्याग किये बिना निरोध नहीं हो सकता। बुद्धिद्वारा शुभाशुभ कर्मसम्बन्ध त्यागते ही चित्त निरुद्ध होता है। ममता नष्ट होती है, तब सत् वस्तुमें चित्त एकाग्र होता है। 'तत्' पदका ज्ञान अर्थात् परोक्षज्ञान होता है। तब विज्ञानरूपिणी (उपनिषत्-जन्य) बुद्धि उस अपरोक्ष ज्ञानको चित्तमें जमाकर समतामें स्थापन करती है। अब 'त्वं' पदार्थका शोधना शेष है। अतः इस प्रकारका परोक्ष ज्ञानी ध्यानमें स्थित होकर अपनेको स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंमें पृथक् भावना करके, अर्थात् 'त्वं' पदार्थका शोधन करके तुरीयावस्थाको प्राप्त होता है। फिर तुरीयावस्थाके संस्कारोंको एकीभूत करके परोक्ष-ज्ञानमें मिला देता है। 'यह असि' पद है। और तब शब्दानुविद्ध समाधिमें स्थित होनेसे आत्मानुभव प्रकाश उत्पन्न होता है, और वह 'सोहमस्मि' वृत्तिवाला अपरोक्ष होता है। यह मोहान्धकार मिटा देता है। परन्तु अभी चित्-जड़ ग्रन्थि बनी हुई है। विज्ञानरूपिणी बुद्धि इस प्रकार ग्रन्थिभेदन कर सकती है। यदि ग्रंथिभेदन हो गया तो अध्यास सदाके लिए मिट गया, और सहजस्वरूप कैवल्यकी प्राप्ति हुई है। यही परमपद है। इसी बातको दीपकके रूपकमें सुलभताके लिये विशदरूपमें वर्णन किया जायगा।'

सात्विक श्रद्धा धेनु† सुहाई। जौं हरिकृपा हृदय बस आई॥ ९॥

अर्थ—यदि भगवानकी कृपासे सात्विकी श्रद्धारूपी सुन्दर गऊ हृदय (रूपी घर) में आकर बसे।९।

नोट—१ (क) ज्ञानको दीपक कहा है। दीपकमें घी प्रथम ही चाहिये। घीके लिए गौका दूध चाहिये। अतः सबसे प्रथम दुधार गौको कहा। जैसे गौ वहाँ प्रथम जरूरी वैसेही सब धर्मोंके आदिमें 'श्रद्धा' आवश्यक है। बिना श्रद्धाके कुछ हो ही नहीं सकता—'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। ९०। ४।' अतः श्रद्धासे रूपक उठाया। (ख) यहाँसे साङ्गरूपक बाँधा गया है। (ग) प्रत्येक कर्म तीन प्रकारके कहे गए हैं—सात्विक, राजस और तामस। वैसेही श्रद्धा भी तीन प्रकारकी है। ज्ञानदीपकके लिये सात्विक श्रद्धाहीका प्रयोजन है, अन्यका नहीं।

२ 'धेनु सुहाई' इति। (क) 'सुहाई' से सवत्सा गौ जनाया क्योंकि जिस गौका बच्चा मर गया हो उसके दूधका निषेध किया गया है, वत्सहीन गऊ 'सुहाई' नहीं है। सवत्सा गौ 'सुहाई' है, अतः उसे सात्विक श्रद्धा कहकर जनाया कि राजसी एवं तामसी श्रद्धा असुहाई वत्सरहित गौ हैं। पुनः (ख) 'धेनु' शब्दका अर्थ है नई ब्यायी हुई गौ। पर नवीन तुरंतकी ब्यायी हुई गौका दूधभी निषिद्ध माना गया है, अतः 'धेनु' कहकर 'सुहाई' विशेषण दिया। भाव कि थोड़े दिनकी, एक मासकी, ब्यायी हुई हो गई हो जबसे उसका दूध शुद्ध और शुभकर्मोंके योग्य समझा जाता है। पुनः, (ग) जो गौ सवत्सा वा अवत्सा है और दूध नहीं दे सकती, वहभी 'सुहाई' नहीं है क्योंकि यहाँ तो दुधार गौसे ही प्रयोजन है जिससे दूध और घीकी प्राप्ति हो सके। (घ) जैसे श्रद्धा सात्विक, तामसी और राजसी वैसेही यहाँ धेनु सुहाई (सवत्सा, दुधार और एकमासकी ब्यायी हुई) और 'असुहाई'। असुहाई दो प्रकारकी है। एक तो सवत्सा पर दूधरहित अथवा तुरंतकी या बहुत दिनोंकी ब्यायी हुई; दूसरी अवत्सा दूधार वा दूध रहित। जैसे अँगरेजी डेयरी फार्ममें गौके ब्याते ही

† 'लवाई' पाठ का० में है। भा० दा०, छ०, रा० गु० द्वि० जीने 'सुहाई' पाठ दिया है। 'लवाई' नवीन ब्यायी हुई गौको कहते हैं। पर ऐसी गौका घी निषिद्ध माना जाता है। दूसरे 'धेनु' में ही 'लवाई' का भाव आ जाता है और लवाईका दोष 'सुहाई' से मिट जाता है। दोहा ६ (९) देखिए।

रा० प्र०—धेनु=दुधार गौ। लवाई अर्थात् सवत्सा, वात्सल्ययुत।

बच्चेको मार डालते हैं और यन्त्रसे गौका दूध निकाला करते हैं। वह दूध निषिद्ध है। ५—हरिकृपासे बसनेका भाव कि भगवान् जीवका क्लेश देखकर उसके दुःखके हरण करनेवाले हैं। सात्विक श्रद्धाका प्रयोजन है और सत्वगुणके अधिष्ठाता विष्णु हैं। भगवान्की कृपासेही इस ओर रुचि होती है, यथा—'श्रति हरि कृपा जासु परि होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई'। अतः 'हरि कृपा' से बसना कहा। 'बस आई'—'आई' से जनाया कि वह है नहीं, भगवान् कृपा करें तभी वह आयेगी, अन्यथा नहीं। आवे और रहे नहीं तो भी काम न चलेगा। 'बस आई' कहकर यहाँ गीताके 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ४। ३९।' का भाव दरसाया है कि श्रद्धावान् होनेपर भी उसमें तत्पर होना भी आवश्यक है। मनको उसमें नियुक्त करे, अन्य विषयोंकी ओर इन्द्रियोंको न जाने दे, तब ज्ञानकी प्राप्ति हो सकेगी। 'बस आई' से जनाया कि अचल होकर रहे। श्रद्धा फिर चली न जाय।

वि० त्रि०—'हरिकृपा'। हरि सत्वगुणके अधिष्ठाता हैं, अतएव सात्विकी श्रद्धाकी प्राप्तिके लिए हरिकी कृपाकी आवश्यकता है। हर तमोगुणके अधिष्ठाता हैं, सुषुप्तिके विभु हैं, उनकी कृपासे हरिकी कृपा होती है, सुषुप्तिकी कृपासे जागृति होती है और जागृतिही तुरीयाका द्वार है। जब शंकर कृपा करके तमको दबावेंगे तब सत्वका उदय होगा।

रा० प्र०—(क) श्रद्धा = वेद, ईश्वर और गुरुवाक्यादिमें सत्यप्रतीति। (ख) 'हरिकृपा'। भाव कि और उपायसे दृढ़ भरोसा नहीं है कि आ बसे।

पं०—'सात्विक श्रद्धा०'। भाव कि चित्त शोधनहेतु निष्काम कर्ममें प्रीति हो।

वै०—'सात्विकश्रद्धा' = शुद्ध सतोगुणी मानससहित सत्क्रिया करनेकी हर्षसहित इच्छा। जैसे गुरु-तीर्थ-व्रत-कथाश्रवणादिमें अनुराग। यही ज्ञानका आदिकारण है।

वि० त्रि०—यहाँ सात्विकी श्रद्धाकीही आवश्यकता है क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही वह है, अतएव सात्विकी श्रद्धावाला पुरुषभी सात्विक होगा। राजसिक तामसिक श्रद्धाभी गौ हैं पर वे सोहाई नहीं हैं, दूध न देंगी। यथा—'तामस धर्म करहिं नर तप मख व्रत जप दान। देव न बरसहिं धरनि पर बए न जामहिं धान। बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस०।'

'जौ हृदय बसि आई' कहा क्योंकि जीवके हृदयमें अंधकार भरा हुआ है। बछड़ेवाली गौ तमोमय अँधेरी जगहमें जाना नहीं चाहेगी। ☞ (इस चौपाईमें श्रद्धा सम्पत्तिका वर्णन किया है। यह षट्संपत्तियोंमेंसे पाँचवीं है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये छः कर्म षट् संपत्ति कहे जाते हैं।

करु०, मा० म०—ज्ञानकी सप्तभूमिका कहते हैं। प्रथम भूमिका यहाँसे (सात्विक श्रद्धासे) आरंभ हुई। सात्विक श्रद्धाके आतेही रज और तमका नाश हो गया।

शेषदत्तजी—इस चौपाईमें धेनोर्हृष्टपुष्टि कही गई, आगे धेनुका आहार कहते हैं।

जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥ १०॥

अर्थ—अगणित जप, तप, व्रत, यम और नियम आदि अनेक कल्याणकारक धर्म और सदाचार जो श्रुतियोंने (विधि) कहे हैं। १०।

नोट १—गौके लिए उत्तम चारा चाहिए जिससे उत्तम दूध हो। वह चारा यहाँ श्रद्धारूपिणी गौके प्रसंगमें क्या है, सो अब कहते हैं—'जप तप०'। फिर चारासे दूध तो हुआ पर विना बछड़के वह पेन्हायेगी कैसे? अतः चारा कहकर आगे बछड़ा कहते हैं। वह बछड़ा क्या है सोभी कहते हैं—'भाव बच्छ सिसु०' २—'जप तप व्रत जम नियम०' इनका वर्णन पूर्व आ चुका है और वि० त्रि० जीके लेखमें भी विस्तारसे है। जप यज्ञोंमें सर्वोत्कृष्ट यज्ञ है अतः 'जप'-यज्ञकोही यहाँ कहा, जिन यज्ञोंमें हिंसा है वे सात्त्विक नहीं हैं अतः उनको नहीं कहते। अपाराका अन्वय 'जप तप व्रत यम नियम शुभ धर्म अचार' सबके साथ है। ये सभी अनेक प्रकारके कहे गए हैं। जपतपादिको हरित तृण कहेंगे, तृण अगणित अतः इनकोभी अपार कहा।

२—'जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा' इति । (क) 'जो वेदविहित हैं, जिनके करनेकी आज्ञा श्रुतियोंमें है, जिन्हें श्रुतियाँ कल्याणका मार्ग बताती हैं, यह जनानेके लिए 'शुभ' विशेषण दिया। 'शुभ' पदसे उन धर्मोंको पृथक् कर दिया जिनका श्रुतियोंने निषेध किया है और सम्पूर्ण विधि एवं सात्त्विक (राजसी और तामसी नहीं) कर्मकांडको इसमें कह दिया। अतः 'अपार' कहा। (ख)—'धर्म अचारा' अर्थात् 'धर्माचरण', वा, 'शुभ धर्म और सदाचार'। 'तामस धर्म'—दोहा १०१ में देखिये।

शेषदत्तजी—सात्त्विक तप वह है जिसके करनेमें मनका उत्साह रहे, क्लेश न जान पड़े, हिंसा और फलत्रयकी वासना न हो।

वि० त्रि० १—जप, तप, व्रत, शुभ धर्माचार ये सब उपरामताके अंग हैं, यम-नियम दोनों समाधानके अंग हैं।

२ यहाँ जपसे वाचा, तपसे मनसा और व्रतसे कर्मणा धर्माचरण बतलाया है, नहीं तो नियममें तीनोंका समावेश हो जानेसे पुनरुक्ति दोष आ जायगा और गोस्वामीजीने यही अर्थ लिया भी है।

३ 'अपारा' का भाव कि इन दशों यम-नियमोंमेंसे एक-एक असाध्य है। इनका पार नहीं पाया जा सकता। यह रोगी जीव क्या पार पावेगा? 'जप तप…' इस चौपाईमें उपरम कहा। (उपरम स्वधर्मानुष्ठानको कहते हैं, यह षट्संपत्तियोंमें तीसरा है)।

मा० म०—सात्विक श्रद्धा उत्पन्न होनेपर सात्विक मन, भाव, बुद्धि, चित्त और वचनसे सात्विक जप-तपादि करे। यदि इन जप-तपादिमें किंचित् भी रज वा तमका संचार हुआ तो सब तृण सूख जायगा; अर्थात् रजोतमोगुणोंके संसर्गसे जपतपादि मुर्झा जायँगे।

नोट—जप, यथा—'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती'। तप, यथा—'बिसरी देह तपहि मन लागा। १। ७४। ३।' (इससे तितिक्षाका वर्णन किया है। शीतोष्ण सुख दुःखादि सहनेको तितिक्षा कहते हैं, यह षट् सम्पत्तियोंमेंसे चौथी है)। व्रत, यथा—'हरि तोषन व्रत द्विज सेवकाई'।

यम पाँच हैं—'ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहात्'। 'अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः। पातंजल योग दर्शन २। ३०।' (क) ब्रह्मचर्य स्मरणादि अष्टविध मैथुनके अभावको कहते हैं; यथा—'ब्रह्मचर्ज व्रतरत मति धीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा। १। १२६। २।' अष्टविध मैथुन, यथा—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥'—स्त्रीके रूप, लावण्य, हावभाव आदिका स्मरण करना, दूसरेके प्रति कहना, स्त्रीके साथ क्रीड़ा करना, स्त्रीका दर्शन करना, एकान्तमें संभाषण करना, स्त्रीके संगके लिए दृढ़ निश्चय करना, उसकी प्राप्तिके लिए उद्योग करना तथा अभीष्ट निश्चयकी पूर्त्ति करना, इन आठ प्रकारके आचरणोंसे बचनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। (ख) अहिंसा—सदा सर्वदा किसीभी प्राणीसे द्रोह न करनेको कहते हैं, यह सब यम नियमोंकी जड़ है, यथा—'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। १२१। २२।', 'धर्म कि दया सरिस हरिजाना।' इसीकी सिद्धिके लिये शेष यम-नियमोंका उपयोग है। अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेसे उसके सन्निकट प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं, यथा—'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। योगदर्शन २। ३५।', 'चरहिं एक संग गज पंचानन। बैर बिगत बिचरहिं सब कानन।' (ग) सत्य—इन्द्रिय और मनके द्वारा जैसा निश्चय किया गया, वैसीही वाणी और वैसेही मनके होनेको सत्य कहते हैं। वह वाणी वञ्चिता, भ्रान्ता और प्रतिपत्तिवन्ध्या न होनी चाहिये।—[१ वाञ्चनापूर्ण, जैसे अपने पुत्र अश्वत्थामाका मरण सुनकर द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे पूछा—हे आयुष्मन्! हे सत्यवादी! सचमुच अश्वत्थामा मारा गया? इसके उत्तरमें, युधिष्ठिरका अश्वत्थामानामक हाथीको अभिलक्ष्यकर, 'हाँ, सच अश्वत्थामा मारा गया' ऐसा कथन वञ्चनापूर्ण है, यही वाणीवञ्चिता कही जाती है। वक्ताका अभिप्राय अन्य हो और श्रोता अन्य समझ जाय। युधिष्ठिरने छलसे काम लिया, इस लिये यह वाक्य सत्य नहीं है। २ भ्रान्तिप्रयुक्त यह है कि वक्ताको स्वयं भ्रम हो और वह दूसरेको

समझाना चाहे। ३ प्रतिपत्तिवन्ध्या। अर्थात् अप्रसिद्ध पदोंके रहनेसे यथार्थ बोध करनेमें अक्षम। जैसे आर्य लोगोंके म्लेच्छभाषा बोध करानेमें असमर्थ हैं। (वि० त्रि०)]—प्राणियोंके उपकारके लिए होनी चाहिये, उपघातके लिये नहीं। यथा—'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। २। १३०। ४।' इससे क्रियाके फलको आश्रय मिलता है, यथा—'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। योगदर्शन २। ३६।', 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। २। २८।' (घ) अस्तेय—शास्त्रविधिके प्रतिकूल दूसरेके द्रव्यको लेना स्तेय कहते हैं, और उस स्तेयके निषेधको अस्तेय कहते हैं। स्पृहा न रखना भी अस्तेय कहलाता है। यथा—'धनु पराव बिष तें बिष भारी। २। १३०। ६।' इससे सब रत्न उपस्थित होते हैं। यथा—'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। योगदर्शन २। ३७', 'हारहिं रत्न तदन्हि नर लहहीं। २३। ६।' (ङ) अपरिग्रह—विषयोंके अर्जन, रक्षण, क्षय और संगसे हिंसादि दोष होते हैं, अतएव उनके अस्वीकारको अपरिग्रह कहते हैं। यथा—'जानत अर्थ अनर्थ रूप तम कूप परब येहि लागे। तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों फिरत बिषय अनुरागे। वि० ११७।' इससे जन्मकथंताका बोध होता है। यथा—'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। योगदर्शन २। ३९।', 'निज निज मुखनि कही निज होनी। १। ३। ३।'

नियम भी पाँच हैं—'शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगदर्शन २। ३२।' (क) देह और मनके मलको दूर करना शौच है, यथा—'सकल सौच करि जाइ नहाए। १। २२७। १।' शौचकी स्थिरतासे बुद्धिकी शुद्धि, उससे मनकी प्रसन्नता, उससे एकाग्रता, उससे इन्द्रियजय, और उससे आत्मदर्शनकी योग्यता होती है। अपने शरीरसे घृणा और दूसरेके संसर्गसे घृणा होती है, यथा—'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। योगदर्शन २। ४०। सत्वशुद्धिसौ मनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। ४१।', 'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। २। १४४। ४।' (ख)—संतोष = प्राप्त साधनसे अधिक पैदा करनेकी अनिच्छा, यथा—'आठँव जथा लाभ संतोषा। ३। ३६। ४।' इसके द्वारा सबसे बढ़कर सुखकी प्राप्ति होती है, यथा—'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। योगदर्शन। २। ४२।', 'मन संतोष सुनत कपि बानी'। (ग) तप = जाड़ा-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वोंका सहन। यथा—'कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा। १। ७४। ५।' इससे देह-इन्द्रियकी सिद्धि और अशुद्धिका क्षय होता है, यथा—'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। योगदर्शन २। ४३।', 'बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ॥...माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये। १। १४५। १-३।' (घ) स्वाध्याय—मोक्षशास्त्रका पढ़ना अथवा प्रणवका जप करना। इससे इष्ट देवता एवं ऋषियोंके दर्शन होते हैं। यथा—'स्वाध्यायादिष्ट देवतासंप्रयोगः। योगदर्शन २। ४४।', 'नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत-सिरोमनि भे प्रहलादू।' (ङ)—ईश्वरप्रणिधान=सब कर्मोंका ईश्वरार्पण कर देना, यथा—'प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं'। इससे समाधिकी सिद्धि होती है। यथा—'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगदर्शन २। ४५।', 'सहज बिमल मन लागि समाधी'।

नोट—भा० ११। १९। ३३-३५ में यम, नियम १२, १२ कहे गए हैं।—'अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यंक्षमाभयम्। ३३। शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहातुष्टिराचार्यसेवनम्। ३४। एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।'

तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥ ११॥

शब्दार्थ—'पेन्हाई'—पेन्हाना = दुहते समय गाय भैंस आदिके थनमें दूध उतरना जिससे थन भरे जान पड़ते हैं।

अर्थ—उसी हरी घासको जब गौ चरे तब भावरूप शिशुबछड़ा पाकर पेन्हावे। ११।

नोट—'तृन हरित चरइ जब गाई' इति। (क)—जप तप आदिके साथ 'शुभ' विशेषण दिया था। 'शुभ' के सम्बन्धसे प्राकृत गौके चारेमें 'हरित' विशेषण दिया। हरे चारेसे दूध विशेष होता है, गौ उसे रुचिसे चरती है और वह सात्त्विक होता है। सूखी घास भूसा आदिसे दूध कम होता है। और गऊका पेट भी नहीं भरता। (ख) लौकिक गौका चारा तृण, औषधि और वनस्पति भेदसे तीन प्रकारका होता है,

और उनके भी बीजरुह तथा काण्डरुह भेदसे दो प्रकार होते हैं। कुल छः प्रकार हुए। इसी प्रकार श्रद्धारूपिणी गौके चाराके भी जप-तपादि भेदसे छः प्रकार कहे हैं। (वि. त्रि.)। (ग) 'हरित तृण' का भाव कि सरस हो, नहीं तो दूध भी कम होगा जिससे बछड़ेकी तृप्ति भी कठिन हो पड़ेगी, फिर और कामोंके लिये दूध मिलना तो दूरकी बात है। अतः जपतपादि आनन्दरहित न हों;—'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहि नहि पीरा।' (वि. त्रि.)। (घ)—'चरै' से घरमें बँधी गायका निषेध किया। गौ जब गोठसे बाहर जाकर हारमें चलकर चरती है तब उसकी तृप्ति होती है और वह प्रसन्न रहती है, उसका स्वास्थ्यभी अच्छा रहता है जिससे दूध रोगहारक होता है। 'गाई'—सात्त्विक श्रद्धासे रूपक देनेमें 'धेनु सुहाई' अर्थात् सवत्सा गौ कहा, चरनेको गौ अकेले जाती है, बच्चा साथ नहीं होता, यथा—'जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं। दोहा ६।' अतः वत्सरहित चरनेके सम्बन्धसे 'धेनु' न कहकर 'गाई' कहा। गायका चारा चरना, ज्ञानदीपकप्रसंगमें श्रद्धापूर्वक सात्विक जपतपादि शुभधर्माचरण करना है।

वि० त्रि०—(क) 'चरै' का भाव कि जैसे गौ गोष्ठ छोड़कर बाहर जाय और गोचर भूमिमें चरे, इस भाँति श्रद्धा भी हृदयसे बाहर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूपी गोचरमें, जिस रुचिसे भूखी गाय हरी घास चरती है, उसी रुचिसे शुभधर्माचरण करे और तृप्त हो। यथा 'नित नव राम प्रेम पन पीना। बढ़त धरम दलु मनु न मलीना। २। ३२५। २।' (ख) गऊने जितने प्रकारका तृण खाया है, उन सबके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य दूध है, इसी प्रकार श्रद्धासे जो यमनियमादि आचरित हुए हैं उनके सात्विक परिणाम का स्वारस्य परम धर्ममें है।

☞ स्मरण रखना चाहिए कि चरा हुआ चारा गौके पेटमें है। यह सामर्थ्य गौमें है कि चारेको सात्त्विक परिणाम दूधके रूपमें जगत्के कल्याणके लिए देवे, राजसिक परिणाम अपने शरीरके पोषणके लिए अलग कर ले और तामसिक परिणाम गोबर आदि पृथक् दे। किसी भी शिल्पीकी सामर्थ्य नहीं है कि इस भाँति सात्त्विक, राजस और तामस परिणामको किसी उपायसे पृथक् कर सके। इसी भाँति श्रद्धासे आचरित शुभधर्म श्रद्धाके उदरमें जाकर परिणामको प्राप्त होता है, और उसके सात्त्विक परिणाम-परमधर्मसे जगत्का हित होता है, नहीं तो जिस भाँति तृणादि मनुष्यके ग्रहणयोग्य नहीं रहते, उसी भाँति श्रद्धाहीन शुभधर्म्मभी मनुष्यके कामके नहीं होते, यथा—'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'

नोट—२ 'भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई'। (क) बछड़ा जब बड़ा हो जाता है तब गौका वह प्रेम नहीं रह जाता और दूध भी वह नहीं देती और यदि देती भी है तो बहुत कम। शिशु बच्छका जीवन माता का दूध है अतः गौका भी उसपर वात्सल्य अधिक रहता है, उसके रोगोंको वह चाटकर अच्छा करती है। (ख) भाव पुल्लिंग है अतः वत्स ही कहा, बछिया नहीं। अन्य स्थलोंमें भी वत्सको ही कविने कहा है, यथा 'जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं। ७। ६ छंद।', 'गइ सिसु बच्छ अनल अहि धाई। ३। ४३। ६।' किसीका मत है कि बछिया जननेपर गौका दुहना निषेध है, अतः वत्स ही कहा।

करु०—चौपाईका भाव यह है कि सात्विक श्रद्धापूर्वक जपतपादि शुभ कर्म प्रेमसे करे तब सुख होगा। यहाँ श्रद्धाका वत्स भाव (प्रेम) है और पेन्हाना सुख है।

जप-तपादि दैविक सम्पदा हैं। इस तृणको जब गऊने चरा अर्थात् निष्काम कर्म करके जब श्रद्धा बल वान हुई। बालक वत्समें भाव यह है कि पुराने वत्सको देखकर गायका दूध अधिक नहीं उमगता वैसेही जो पूर्व किसी जन्ममें सन्तोंसे भाव किया है उससे अधिक प्रेम नहीं उपजता, जबतक नवीन भाव न हो।

रा० प्र०—'सिसु बच्छ' का भाव कि वह बँधा हुआ है और भूखा है।

वि० त्रि०—'भाव बच्छ शिशु०' इति। (क) श्रद्धारूपिणी धेनुका सात्विक भाव अबोध बच्चा है, वह छल कपट नहीं जानता अतएव बहुत प्यारा है। चरनेके समयभी उसीकी ओर ध्यान लगा रहता है। इसी भाँति श्रद्धासे धर्म्माचरण हो और वह भाव हत न होने पावे। यथा—'किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे

चोरि। संगबस किय सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि॥ करौं जो कछु धरौं सँचिपचि सुकृत सिला बटोरि। पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि॥ वि० १५८।' (ख) 'पाइ पेन्हाई'। जब गौ हरी-हरी घास चरके तृप्त होकर सन्ध्या-समय घर लौटती है, तो बालकबच्छको पाकर द्रवीभूत हो जाती है, उसके थनोंमें दूध आजाता है। इसी भाँति श्रद्धा धर्माचरण करके कृतकृत्य होकर भावपुष्टिके लिये अन्तर्मुख होती है। उस समय वह परमधर्म-प्रसवमें समर्थ होती है। यथा 'दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भई।'

पं० रा० व० श—भाव कि जप-तप-नियमादि जो कर्म करे वह उत्साहसे भरे हुए करे, यही सात्विक श्रद्धासे होना है। इससे अन्तष्करणमें भाव उत्पन्न होगा, मनकी मलिनता दूर होगी। सात्विकी श्रद्धासे जप-तपादि करनेसे अन्तष्करणका भाव शुद्ध हो जायगा; यही उस श्रद्धा-गौका बछड़ा है।

वै०—भाव कि यावत् क्रिया करे वह नवीन प्रीति-भावसे करे। सत्य, शौच, तप और दान ये धर्मके चारों चरण श्रद्धा गऊके चारों थन हैं, इनमें धर्म्मका प्रसिद्ध दर्शित होना गऊका पेन्हाना है।

रा० शं० श०—भाव कि जपतपादिमें सात्विक श्रद्धा सदा नवीन बनी रहे जिस वस्तुकी चाह है उसकी प्राप्तिमें विशेष अभिलाषा बढ़ती रहे जिससे सात्विक श्रद्धा सरस रहती है, यह पेन्हाना है।

मा० म०—यहाँ बियाना और बाहिना नहीं कहा, बछड़ा कहाँसे आया? इसका समाधान 'धेनु सुहाई' से पूर्व ही हो जाता है। धेनु सवत्सा लवाई गौको कहते हैं। ईशने कृपा करके सवत्सा गऊका संयोग कर दिया है। अथवा, यहभी कह सकते हैं कि सात्विकी समाज यमनियमादि पाकर श्रद्धाधेनु विशेष प्रौढ़तरा हुई और सतोगुणके साथ रमणकर सात्विकी भावरूपी बछड़ा जनी। (मा० शं०)। यह कहना भी ठीक नहीं कि कामधेनु तो विना ब्याये दूध देती है उसीको यहाँ समझ लें क्योंकि कामधेनु तो विना वत्सके दूध देती है और यहाँ तो वत्स पाकर दूध देना कवि लिख रहे हैं।

रा० बा० दा०—१ भाव कि जैसे लवाई गौके चरनेके लिये हरा चारा चाहिए, उसमें सूखा पीला तृण न मिला रहे, वैसेही सात्विकी हृदय-भूमिमें जितने जपादिक तृण हैं वे सात्विक हों, सात्विक श्रद्धापूर्वक हों। जपतपादि शुभाचारोंको सात्विकी श्रद्धापूर्वक करनाही गौका चरना है। जब पेटभर चरकर वह स्वतः स्थिर होवे तब सात्विक भाव वत्सको पाकर पेन्हावे।

२ गऊका बहना और ब्याना न कहा; वत्सको पाकर पेन्हाना मात्र कहा? इससे सूचित किया कि सात्विक श्रद्धा धर्म फलकी क्रिया है। यथा 'जनु पाए महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चार।' धर्म वृषभरूप है। नन्दी आदि धर्मरूप हैं। धर्मरूप वृषभसे श्रद्धारूपी धेनुने भावरूप वत्स उत्पन्न किया। वैसेही सतोगुणसे सात्विकी श्रद्धा जायमान हुई। जब वत्स एक माससे अधिक दिनका हुआ तब उसे पाकर पेन्हाना लिखा, कारण कि एक मास बीते बिना दुहना अयोग्य है; दूधभी पतला होता है, उसमेंसे मक्खनका भी मिलना असंभव है। जहाँ धेनुका हृष्ट-पुष्ट होना लिखा वहीं वत्सोत्पत्ति भी कही; पर ग्रंथ सूक्ष्म है इससे शीघ्र उसका लखना कठिन है।

नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥ १२॥

शब्दार्थ—'नोइ'—नोवना = दुहते समय रस्सीसे गायके पिछले पैरोंको बाँधना। नोई एवं नोइनी रस्सीसे पैर बाँधनेकी क्रियाको कहते हैं तथा रस्सीकोभी नोई कहते हैं।

अर्थ—निवृत्ति नोवना वा नोई है, विश्वास दूध दुहनेका (बरतन है), निर्मल मन अहीर है जो अपना दास अर्थात् अपने अधीन है। १२।

पं० रा० व० श०—भाव की शुद्धि होनेसे संसारके पदार्थोंसे तथा नाना कर्मके व्यापारसे निवृत्ति हो जायगी, यही 'नोई' (रस्सी) है। मन अपने वशमें हो जैसा हम चाहते हैं वैसाही हो, निर्मल हो। ऐसा न होनेसे पापी मन काम बिगाड़ देगा। विश्वास जो मनमें होने लगा वही पात्र है।

नोट—१ (क) दूध उतरनेपर अब दूध प्राप्त करनेके लिए तीन बातें क्रमसे एकही समय चाहिएँ—रस्सीसे गौके पैर बाँधनेको रस्सी और उससे पैर बाँधा जाय, दूध दुहनेका पात्र (दोहनी), और दुहनेवाला। विना नोई हुई गायका दूध अपवित्र माना जाता है, उसका निषेध है। दूसरे साधारणतः भी विना बाँधे भय है कि वह पैर न चलावे जिससे दूध सब गिर पड़े तब सब कामही बंद हो जायगा। (ख) श्रीकरुणासिन्धुजी तथा वि० त्रि० जी 'वृत्ति' को 'नोइनि' कहते हैं। उनका पाठ है 'नोइनि वृत्ति'। वे अर्थ करते हैं कि—'मनकी धर्ममय वृत्तिही नोइनि है' (करु०); 'नोइन' वृत्ति है। अर्थात् वृत्तिको उस समय श्रद्धाके चरणोंमें लगा देना चाहिए, जिसमें श्रद्धा अचल रहे। (वि. त्रि.)। प्रायः अन्य सब टीकाकारोंने 'नोइ निवृत्ति' पाठ दिया है और अर्थ किया है कि निवृत्ति (सांसारिक विषयों तथा प्रपंचसे मनकी वृत्तिका हटना) नोई है।

वै०—यहाँ लय विक्षेप करवाय रसाभासादि जो विघ्न हैं वही श्रद्धा गऊके चार पैर हैं जिनसे वह इन्द्रियविषयोंको पाकर चलित होती है। इन्द्रियोंकी इस वृत्तिको विषयोंसे निवृत्त करे, खींचकर परमार्थमें लगावे। सावधानतारूपी रज्जुसे बाँध रक्खे जिसमें श्रद्धाधेनु स्थिर रहे।—यह निवृत्ति नोवना है।

रा० शं०—गौके चार पैर होते हैं। आगेके पैर प्रवृत्ति और पीछेके निवृत्ति हैं, क्योंकि अगले धड़से पिछला धड़ पवित्र माना जाता है। नोवना यह कि निवृत्तिको खूब पुष्ट जकड़े रहे अर्थात् वह अचल रहे।

रा० बा० दा०—निवृत्त चित्तकी वृत्ति नोई है। भाव-वत्स श्रद्धा धेनुके थनोंमें लगा तब गौ पेन्हाई, उसी समय हाथसे पकड़कर निवृत्ति (मोक्षसाधन भूत धर्म) को वत्सके गलेमें लगाकर गौके बामाग्र पाँवमें बाँधे।

नोट—२ 'पात्र बिस्वासा' इति। गुरु और शास्त्रमें श्रद्धा भी है कि ये सत्य कहते हैं, पर यदि दृढ़ विश्वास न हुआ कि जो शिक्षा ये देते हैं उससे हमारा कल्याण अवश्य होगा, कर्मका वांछित फलहमें अवश्य मिलेगा, सहज स्वरूपकी प्राप्ति अवश्य होगी, तब भी शिक्षाका कुछ फल न होगा,—'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। ९०। ८।' अतः परम धर्ममय दूधकी प्राप्ति करनेके लिए विश्वासको पात्र कहा।

३ 'निर्मल मन···' इति। पात्रभी है पर अहीर नहीं है तो दूध न मिलेगा। इसी तरह विश्वासभी हो पर यदि मन 'निर्मल' न हुआ तो उसमें परमधर्मपयकी प्राप्ति न होगी। जैसे अहीर दोहनीको स्थिर रखकर उसमें दूध दुहता हैं वैसेही निर्मल मन विश्वासको दृढ़ रख सकेगा। मोहजनित कामादिक विषयही मनके मल हैं—४९ (५-६) देखिए [निर्मल=रज-तम-रहित=काम संकल्प विवर्जित। (मा० म०, रा० ब० दा०)] ये विश्वासको निर्मूल कर देनेवाले हैं। अतः 'निर्मल मन' को अहीर कहा।

४ 'निज दासा'। अहीरभी हो, पर यदि वह समयपर दुहने न आवे तोभी काम बिगड़ जायगा। अतः 'निज दासा' कहा। अर्थात् वह अहीर अपने काबूका हो। इसी प्रकार मन निर्मलभी हो और अपने काबूका हो, जहाँ जीव उसे लगावे वहीं लगे (वै०)। ['निज दास' का भाव कि गो-दोहनके समय परम अव्यग्र होवे। (शेषदत्त)]

वि० त्रि० १—'निज दासा'।—गौके पेन्हानेपर वह निर्मल मनरूपी सेवक अहीर जब नोइन लगाकर देखे कि अब बछड़ा अपनी पुष्टिके लिये योग्य मात्रामें दूध पी चुका तब उसे हटाकर दोहनीमें दूध दुहे। इस भांति धर्माचरणके द्वारा कृतकृत्य होकर श्रद्धा अन्तर्मुखी हो और सम्पूर्ण धर्मोंके सात्त्विक परिणामसे सात्त्विक भावकी पुष्टि करने लगे, तब भली भाँति वश किये हुये काम संकल्परहित मनकी वृत्ति लगाकर अपनी श्रद्धाको अचल करले। नहीं तो सात्त्विकभाव (सुख भाव) के हटाते समय श्रद्धा छटक जायगी और यदि सात्त्विक भाव न हटाया जायगा, तो वह अनुष्ठित धर्मके संपूर्ण सात्त्विक परिणामको पी जायगा। मनके सात्त्विकभावमें अनुरक्त होनेसेभी सुखके साथ बंधन होगा, अतएव सात्त्विक भावको भी धीरे-धीरे हटाकर मनको परिपूर्ण विश्वासका पात्र करनेके लिए उसे श्रद्धामें लगा दे। २—☞ इस चौपाईसे शम (मनोनिग्रह) कहा गया जो षट्सम्पत्तिमें प्रथम है।

नोट—५ शुभाचरण, भाव, वृत्ति, विश्वास और निर्मल मन यह पंचाङ्गसंयुक्त श्रद्धा ज्ञानकी प्रथम भूमिका हुई। (करु०)। सात्विक श्रद्धा, जप-तप-यमादि, भाव, निवृत्ति और मनका काम यहाँ समाप्त हुआ। (मा० म०)। प्रथम भूमिका शुभ इच्छा यहाँतक हुई। (वै०)

रा. बा. दा.—शुद्ध निर्वेदादिक जितने सात्विक कर्म कहे, जप-तप-संयम-नियम इत्यादि वेदोक्त शुभाचार, विश्वास, निवृत्ति, निर्मल मन इत्यादि सर्वांगरोमयुक्त श्रद्धा-धेनु—यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है, और आत्माका प्रथम स्थान है।

परम-धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥ १३॥

अर्थ--हे भाई! परमधर्ममय दूध दुहकर निष्कामतारूपी अग्नि बनाकर उसपर (इस) दूधको औटे। १३।

नोट—१ अहीरने दूध दुह दिया। अब उसे अग्नि जलाकर औटना चाहिये। वैसे ही निर्मल मनने श्रद्धाधेनुसे विश्वासपात्रमें परमधर्म प्राप्त किया। अब इसे निष्कामतारूपी आगपर गाढ़ा करना है। २—'भाई'। इससे गरुड़पर उत्तरोत्तर भुशुण्डिजीका प्रियत्व दिखाया। दूधको परमधर्म न कहकर 'परम-धर्ममय' कहनेका भाव?—वि० त्रि० देखिए।

पं० रा० व० श०--अहिंसारूप परम धर्म साक्षात् दूध है। अर्थात् मन निर्मल और निजदास होने पर ऐसी वृत्ति हो जायगी कि हिंसा न करो। हिंसा ८१ प्रकारकी कही गई है। यह मनको बहुत मलिन कर देती है। अहिंसा होनेसे चित्तमें निष्काम वृत्ति उत्पन्न हो जायगी। तात्पर्य कि यदि अहिंसा हुई और कामना बनी ही रही तो वह भी किसी कामकी नहीं।

वि० त्रि०--१ 'परम धर्ममय'। जो सात्विक परिणाम दूधरूपमें परिणत हुआ, उसीको परमधर्ममय कहा, अर्थात् अहिंसामय कहा, क्योंकि अहिंसामें ही शेष सब धर्मोंकी चरितार्थता है, यथा--'दयामें बसत देव सकल धरम। वि० २४६।', 'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। १२१। २२।', 'धर्म कि दया सरिस हरिजाना। ११२। १०।' दूसरा 'परमधर्ममय' कहनेका भाव यह कि 'मयट्' प्रत्यय बहुतके अर्थमें होता है, अर्थात् उस दूधमें परम धर्म बहुत है, पर थोड़ासा काम, वासना, ममतादिरूप दोषभी हैं।

'दुहि भाई'। विश्वासरूपी पात्रमें ही यह दूध दुहा जा सकता है, अन्य पात्रमें रखनेसे बिगड़ जायगा, अतएव परमधर्ममय सात्विक परिणामसे विश्वासरूपी पात्र भर लेना चाहिए। न भावके काम आ सके न मन के। क्योंकि भाव और मन दोही पदार्थ ऐसे हैं जो श्रद्धासे धर्मके सात्विक परिणामको अलग कर सकते हैं और केवल मन ही ऐसा है, जो उसे श्रद्धासे लेकर विश्वासके सुपुर्द कर सकता है। 'भाई' सम्बोधन है तथा विचारके लिए आश्वासन है, यथा—'करै विचार करौं का भाई'।

२ (क) 'अवटै'। अर्थात् पाक करे, गुणाधिक्यके लिए, घनीभावके लिये, जलरूपी अवगुणके नाशके लिये। यथा—'गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। २। २३२। ७।' (ख) 'अनल अकाम बनाई' इति। अकामकी आगको प्रज्वलित करके औटे, अर्थात् आगपर रखकर देरतक गरम करे, जिसमें उसके एकएक परमाणुतकमें अकामकी आग पहुँच जाय। धर्मके सात्विक परिणाममें भी काम रह जाता है, क्योंकि धर्म सदासे ही कामका संगी है। धर्मका साथ सुख और स्वर्गसे है और ये ही काम हैं। अकामकी अग्नि इस-लिये कहा कि—'काम' शब्द यावत् वैषयिक सुखका वाचक है (केवल स्त्रीसुखका नहीं)। उसका त्याग ही अकाम है। वैषयिक सुखमात्रके त्यागके ध्यानसे ताप होता है, अतएव उसे अग्नि कहा। इस अग्नि-उत्पत्ति के लिये कामको दूर करना कर्तव्य है। फिर वह अग्नि आपसे आप बनी रहेगी, इस लिये 'बनाई' कहा। अकामकी अग्नि परमधर्ममयपयका पाक करके उसके गुणको बढ़ा देगी, उसमें घनत्व पैदा करेगी और उसके कामांशको दूर करेगी।

मा० म०—भाव यह कि यमनियमादितृणसे देह धर्मपालन हुआ और उस सात्विक श्रद्धारूपिणी गौसे जीवधर्मरूपी श्वेत पय निकला जिस धर्मके प्रभावसे मन हिंसारहित हो गया और सब जीवोंपर बहुत दया हो गई। उपर्युक्त प्रकार जीवका धर्म प्राप्त हुआ, अब उसका परमधर्म कहते हैं। ब्रह्मके रूपका परम विचार जीवका परमधर्म है। अर्थ और धर्मको तो जीवने पूर्व ही त्याग किया है, कामना स्थिर रह गई उसकाभी त्याग कर निष्कामतासे धीर भावसे रहे। उस निष्कामतारूपी अग्निपर परमधर्मरूपी क्षीरको औटनेसे आत्मतत्व गाढ़ा हो गया और संसाररूपी जल जल गया अर्थात् संसारी वासना जल गई, केवल निष्काम आत्मतत्व रह गया।

शेषदत्तजी—१ 'परम धर्ममय पय' अर्थात् जिस सात्विक तत्वविचारमें अहिंसारूपी परमधर्म मिश्रित है वही दूध है। 'बनाई' अर्थात् अधिक प्रज्वलित करके तथा विधिपूर्वक। २—सात्विक दूध दुहे। ततः सात्विक श्रद्धादिसे निर्मल मनांत कर्मोंको कीचवत् समझ त्याग किया, यथा—'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं।' भाव यह कि यहाँ तक सब काम कामनासे किया गया। कामनाओंका त्याग करना है। क्योंकि काम्यकर्म भवकीचमें ही डालते हैं। अब परमधर्ममय तत्वविचारको लेकर विविक्तवासी हो सहजस्वरूप सँभारकर निष्कामतारूपी अग्निपर विषयवासना ईंधन लगाकर असंगरूपी करछुलीसे औटकर उस दूधको गाढ़ा किया।

करु०—१ अब दूसरी भूमिका कहते हैं। घासमें दूध अति सूक्ष्म है। कोई यत्न करके उससे दूध नहीं निकाल सकता पर उसीको गऊ खाती है तब उसके द्वारा घाससे दुग्ध प्राप्त होता है। वैसे ही श्रद्धापूर्वक शुभकर्म करनेसे परमधर्म यह दूध निकलता है जो विश्वासरूप पात्रमें स्थित होता है। अहिंसाही परमधर्म है। और जितने शुभकर्म यज्ञादिक हैं उनमें कुछ-न-कुछ हिंसा होती है इससे वे साधारण धर्म हैं। २—'अवटै अनल अकाम बनाई।' परमधर्ममें निष्कामता अनल है, इसीसे औटना कहा। औटना दृढ़ता है।

रा० प०, रा० प्र०—'शरणागत भागवतधर्म' परमधर्म है।

पं०—सदा आत्म-चिन्तन करना परमधर्म है। स्वर्गादि भोगोंसे निष्काम होना अग्नि है।

वै०—देहव्यवहार मान बड़ाई-हेतु वा स्वर्गसुखप्राप्तिहेतु सवासिक यज्ञादि यावत् क्रियायें हैं वे हिंसा-दण्डादि सहित हैं। जैसे कि धर्मसंस्थापनके लिये अधर्मियोंको दण्ड करना होता है, यज्ञमें बलिदान होता है। जो देहव्यवहार-सुखवासना-रहित केवल आत्मशुद्धिहेतु सर्वाङ्गधर्मसहित दया है सो परम धर्म है।

वै०—शुद्ध-स्वाधीन-मनरूप अहीर द्वारा विश्वास-पात्रमें श्रद्धा-कामधेनु परमधर्ममय दूध दुहावे। अर्थात् सात्विकी श्रद्धा विश्वास-सहित निवृत्ति मार्गमें शुद्ध थिर होकर जब मन दयासहित धर्माचरणमें लगे तब जीवकी जो परम धर्ममय वृत्ति होगी वही दूध है। दूध अग्निपर चढ़ाकर गाढ़ा किया जाता है। यहाँ अकामना अग्नि है। जबतक कामना बनी है तबतक सुधर्म पुष्ट नहीं पड़ता अतः कामनारूप ईंधनको जलाकर अकामनारूप अग्निको प्रचण्ड कर उसमें परमधर्ममय दूध औटै। अर्थात जितनी क्रिया करे सब अकाम होकर करनेसे परमधर्म पुष्ट होगा।

तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै ॥ १४ ॥

अर्थ—तब क्षमा-सन्तोष-रूपी पवनसे उसे ठंढा करे। 'धृति' समता रूपी (दहीका) सम जामन देकर उसे जमावे। १४।

नोट—१ किसी प्रकारकाभी संकट आ पड़नेपर या इच्छित वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर धैर्यको न छोड़ना, यह धृति-धर्मका लक्षण है। यह धृतिभी सात्विकी हो। जिस अचल धैर्यके द्वारा मनुष्य योग के उद्देश्यसे प्रवृत्त मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियायोंको धारण करता है वह धृति है। यथा 'धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रिय क्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी। गीता १८। ३३।' 'क्षमा'—अपने साथ बुराई करनेवालेको दण्ड देने-दिलानेकी पूरी शक्ति रहनेपरभी उसको दण्ड देने दिलानेकी भावनाको मन

में भी न लाकर उसके अपराधको सह लेना और उसका अपराध सदाके लिये मिट जाय, इसके लिये यथोचित चेष्टा करना, इसको क्षमा कहते हैं। लं० ७१ (५-६) देखिए।

करु०, शेषदत्त, वि० टी०—'धृति सम'। समानतामें धीरजके साथ दृष्टि रखना अर्थात् दुःख सुख, हानिलाभ, निन्दास्तुति आदिमें समदृष्टि रखना। सारांश कि अविचल धैर्य धारण करना। गीतामें इसीको स्थितिप्रज्ञ कहा है। यथा—'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। २। ५५। दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतराग भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। ५६। ६। यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। ५७।' इसी प्रकार संतोष और क्षमा से चित्तवृत्तिको शान्त करे तथा धीरज धारणकर उसे स्थिर करे।

रा० प्र०—तोषसे क्षमाकी शोभा है। धृतिसम=शान्ति, विषमताशून्य होनेका भाव। इससे अधिक शीतल करनेवाला दूसरा कुछ नहीं है।

नोट—२ दूध औटानेसे बहुत गर्म हो जाता है। जबतक दूध ठंढा, वा गुनगुना, न हो जाय तबतक वह जमाया नहीं जा सकता। इस लिए उसे ठंढा करना पड़ता है। अतएव दही जमानेके लिये पहले उसे वायुसे ठंढाकर उसमें जामन देना होता है। कुछ लोगोंका मत है कि सन्तोष और क्षमा पवन है और 'धृतिसम' जाँवन है और मा० म० आदि कुछका मत है कि तोष पवन है, क्षमा उस पवनकी शीतलता है, समता दहीका जामन है और धृति सखी जामन देकर दूध जमानेवाली है। और शेषदत्तजीका मत है कि क्षमा व्यजन मंदमंद हिलाकर तोषरूपी पवन प्रकट कर उसे ठंडा करे और 'धृति' सखी उसे जमावे।

पं. रा. व. श.—निष्काम होनेसे मनमें सन्तोष आवेगा,—'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं'। उससे क्षमा आवेगी, यही दूधका ठंढा होना है। अन्तःकरणको एकरस सम कर देना 'सम' है यह जामन है। इसके बाद मुदितावृत्ति उत्पन्न होगी।

पं०—'तोष मरुत'। यद्यपि भोगोंकी इच्छा निवृत्त हुई तोभी देह हेतु व्यवहार चाहिये, सो इसमें यथालाभ सन्तोष होना मरुत है। क्षमा रूपीसखी गर्मदूधको सन्तोष-वायुसे शीतल करे। क्षमाका स्वरूप यह कि यथालाभ सन्तोष तो हुआ पर उसकी प्राप्तिमें यदि कोई विघ्न करे तो उसपर कोप न करे। सारांश यह कि निष्काम होनेमें जो क्रोधादिक उष्णता थी वह क्षमाने मिटाई, तब धीरजरूपी सम जावनसे उसको जमावे। 'सम जावन' कथनका भाव कि अधिक जावन देनेसे दही शिथिल होता है, अल्पजावनसे कच्चा रहता है; वैसेही अति धीरज कर सत्संगादिक उद्यम न करे तो दरिद्री होता है, अल्प धीरजकर शीघ्रता करे, कि इतना सत्शास्त्रोंका अभ्यास किया पर स्वरूप साक्षात् नहीं हुआ इस मार्गको छोड़े देता हूँ, तो जिज्ञासा नष्ट होती है।

मा० म०—१ आत्मतत्त्वकी प्राप्तिसे जो संतोष हुआ वही पुण्यरूपी पवन है, इसमें क्षमारूपी जो अचल शीतलता है उससे आत्मतत्त्वरूपी दूधको शीतल करे। २—शत्रु और मित्रमें विषमता समता मनमें सूक्ष्म भावसे रहगई उन दोनोंसे मनको निर्मूल करके प्राणीमात्रको समभावसे देखे। अब मनका आत्मामें लीन होकर आत्माका चिंतन करनेमें दृढ़पूर्वक स्थिर होकर किसी दूसरी ओर दृष्टिपात न करना दहीका गाढ़ा जमना है।

करु०—१ तब सन्तोषरूपी पवनसे जुड़ावै। अहंपद उष्णता मिटकर, क्षमारूप शीतलता प्राप्त होगी। सन्तोष, यथा—'असन्तोषो दरिद्रस्यात्सन्तोषो परमो धनम्'। २ ☞ अहिंसा, निष्काम, सन्तोष और क्षमा चारों अंग एकरूप होकर जो परमधर्म हुआ वह ज्ञानकी दूसरी भूमिका हुई। ३—धृतिसम जावन०'। अर्थात् सम धैर्य्य हो, हानिलाभ दुःखसुखमें बुद्धि सम रहे। 'समधीरज' जावन और वही दूधका दही हुआ यही समधृति समबुद्धि ज्ञानकी तीसरी भूमिका हुई।

रा० शं०—दूधमें जलका अंश या पतलापन निकालनेको औटते हैं। यहाँ परमधर्ममें किसी प्रकारकी कमी न रह जाय, यही औटना है। धर्मका फल सुख है, परमधर्मका फल परमसुख है। परमसुखको पाकर मन

विचलित होता है, इसको संतोष और क्षमासे जुड़ावे। पंखा दो तरफ चलता है अतः संतोष और क्षमा दो कहे।

वै०—१ अकामानलपर औटा हुआ सुधर्म दूध उष्ण है, उसमें तोष मरुत दे। भाव कि एक अकामना ईर्ष्या, मान, क्रोधादिसे होती है सो नहीं, संतोषसहित अकाम रहे। सन्तोष-पवन लगनेसे क्षमारूपी शीतलता होगी, क्षमा होना ही सुधर्मका ठंडा करना है। २ ☞ अकामना, सन्तोष क्षमासहित सुधर्म विचारना ज्ञानकी दूसरी भूमिका हुई। ३—धैर्य्य और समता जावन देकर परमधर्म दूधको जमावे। अर्थात् क्षमा-सन्तोष-सहित सुधर्म कर जब जीव शुद्ध हुआ तब कामक्रोधादिके वेगमें मन न पड़ने पावे, यह धीरज रक्खे। पुनः रागद्वेष किसीमें न आने पावे यह समता रक्खे, इत्यादि। जीवकी थिरता दही है।—यही अपने स्वरूप का सदा सँभार रखना ज्ञानकी तीसरी भूमिका है। ☞ यहाँ तक तीन भूमिकाओंमें ज्ञानके चार साधनोंमेंसे दो साधन-मुमुक्षुता और षट्सम्पत्ति कहे गए।

वि० त्रि० १—☞ गायके चरानेसे लेकर दूध औटने तक मनका काम था, अब ठंडा करनेका काम क्षमाका है। क्षमा, मुदिता और बुद्धि ये सब मनके परिवार हैं। तृषा शान्त करनेवाले गुणको तोष कहते हैं। तोषकी उपमा मरुत (हवा) से दी गई है। हवासे गर्मी शान्त होती है, दूध ठण्डा होता है। परमधर्ममय पयमेंका कामांश तो दूर हुआ, पर ऐसा करनेसे वह सन्तप्त हो उठा, उस संतापके दूर करनेके लिये तोषकी आवश्यकता हुई।

भाव यह कि 'सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे निरामयाः', ऐसी धारणा अटल होने पर भी कामसे भय रहता है, क्योंकि यह क्रोध उत्पन्न कराके हिंसा करा देता है। कामका विरह हुआ, कामके विरहसे संताप हुआ, ● अतएव उस सन्तापको तोषसे दूर करे। जो अहिंसामें प्रतिष्ठित हो गया है उसके लिए आत्मघातक (जिससे आत्माका आवरण बढ़े) दोषोंका दूर करना परम कर्त्तव्य है।

२ 'क्षमा जुड़ावै'। दूसरेके अपराधसेभी न संतप्त होनेवाली क्षमामेंही कामके विरहसे उत्पन्न धर्मके सन्तापको दूर करनेकी शक्ति है अतएव क्षमाही उसे तोषकी वायुसे शीतल करे। दूसरी बात यह है कि तोषके प्राप्त करानेमें क्षमाही समर्थ है अतः वही सन्तप्त परम धर्ममयपयको शीतल करे, यथा—'त्रिबिधि पाप संभव जो तापा। मिटइ दोष दुख दुसह कलापा ॥ परम सांत सुख रहै समाई। तहँ उतपात न भेदै आई ॥ तुलसी ऐसे सीतल संता। सदा रहहिं एहि भाँति एकंता ॥'

ठण्डा करनेका दूसरा यह भावभी है कि साधकको व्यर्थ काल बिताना उचित नहीं। अनायासभी दूध धीरे-धीरे ठण्डा हो जाता है पर उसमें देर लगेगी। अतएव तोषरूपी शीतल वायुसे उसे क्षमाद्वारा शीतल करनेका उद्योग करे।

३ 'धृति सम जावँन'। धृति अर्थात् धैर्य्य, कृतकार्य्य होनेका प्रधान साधन है, यथा—'धीरज धरिय त पाइअ पारा'। 'सम' में भाव यह कि समतावाला धैर्य्य होना चाहिये, विषमतावाला नहीं। इसीको जावँन बनावे। जावँन दहीकी उस मात्राको कहते हैं जिसे दूधमें डालकर दही जमाया जाता है। खटाई आदिसेभी दही जमता है पर वह अच्छा नहीं होता। अथवा, समजावँनसे यह तात्पर्य्य है कि जितना उचित हो उतनाही जावँन दे क्योंकि उचित मात्रासे कममें दही नहीं जमेगा और अधिक होनेसे वह पानी छोड़ देगा। अतएव जितने धैर्य्यकी आवश्यकता हो उतनेहीसे काम ले, धैर्य्य कहीं हठमें परिणत न हो जाय!

'देइ जमावै' अर्थात् जावँन डालकर उसे उतना समय दे, जितनेमें जावँनका प्रभाव सम्पूर्ण दूधपर पड़े और वह जमकर एक थक्का हो जाय।

४ दूधके जमानेमें जावँनके लिये दूसरे दहीकी आवश्यकता पड़ती है और उस दूसरेके लिये तीसरे की। इस भाँति यहाँ अनादिकालसे साधन-परम्परा दिखलायी है। यह नहीं समझना चाहिये कि ऐसा उद्योग

● शेषदत्तजी—निष्कामानलजनित जो अहंकृत उष्णता है।

आज तक कभी नहीं किया, जीवकी स्थिति अनादि कालसे है और उसका उद्योग बराबर जारी है। न जाने कितनी बार दही जमा, पर काम पूरा चौकस न उतरा। इस बारभी दही जमकर तैयार हुआ। जिस प्रकार हरे तृणका परिणाम दूध एक दूसरी वस्तु तैयार हुई; इसी भाँति दूधका परिणाम दही एक बिल्कुल तीसरी वस्तु है। इसमें दया निष्कामता, तोष और धैर्य्य चारोंका मेल है। क्षमाका कार्य्य समाप्त होतेही मुदिता आपसे आप उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार अन्य पात्रभी आते जायँगे।

मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥ १५॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥ १६॥

शब्दार्थ—मुदिता=विषमताशून्य होनेपर जो आनंदवृत्ति प्राप्त होती है (वै०, रा० प्र०)। = सबके गुणोंको देखकर प्रसन्न होना, अर्थात् ईर्ष्याका सर्वथा त्याग, अपने मनसे अविद्याको नष्ट होती देखकर जन्मके सफल होनेकी प्रसन्नता (पं०)। =दूसरेके सुखमें आनन्दित होनेवाला गुण। मथैं=माथ, महेड़ा, कमोरी, वह पात्र जिसमें दही रखकर मथानीसे मथा जाता है। (करु०, पं० रा० व० श०, रा० बा० दा०, गी० प्रे०, वै०)। =मथे (क्रिया)—(मा० म०, वि०)। बिचार=सारासारका निर्णय (करु०)। = वस्तु विचार (वि० त्रि०)।

अर्थ—मुदिता रूपी माथमें (उस दहीको डालकर), बिचाररूपी मथानीसे, इन्द्रियदमनरूपी आधार (खम्भा आदि) में सत्य एवं उत्तम प्रिय वाणीरूपी रस्सी लगाकर तब दहीको मथकर ● निर्मल सुभग और अत्यन्त पवित्र वैराग्यरूपी मक्खन निकाल ले। १५-१६।

पं० रा० व० श०—मुदितावृत्ति माथ है जिसमें दही छोड़कर मथा जाता है। मुदिता (में) विचार विना दमके नहीं ठहर सकता जैसे मथानी विना खम्भके आधारके। सत्य और प्रिय वाणी—'सत्यं ब्रयात् प्रियं ब्रूयात्' ये दो रस्सियाँ हैं। कितनाही विचार क्यों न हो पर यदि झूठ बोला करे तो वह सब व्यर्थ हो जायगा अतः 'सत्य सुबानी' कहा।

वि० टी०—भाव कि प्रसन्नतायुक्त विचारसे इन्द्रियोंको विषयोंसे पलटाकर सत्य मीठी वाणीसे सारासारका निर्णय करे। सारासारके निर्णयसे वैराग्य उत्पन्न होता है।

रा० प्र०—'मुदिता मथै' का भाव कि विषमताशून्य होनेपर जो आनन्दवृत्तिका लाभ हुआ उससे विचारद्वारा मनन करे।

करु०—अब चौथी भूमिका कहते हैं। जिस पात्रमें दही जमाया जाता है उससे दूसरे बड़े पात्रमें जिसे माथ महेड़ा आदि कहते हैं, पलटकर मथानीसे उसे मथते हैं। खम्भेमें रस्सी लगाकर उससे मथानी चलाई जाती है। दही मथकर मक्खन निकाला जाता है। यह दृष्टान्त है। यहाँ परमधर्मरूप दूध स्वरूप (?) पात्रमें जमाया गया, उसे मुदिता अर्थात् आनन्दरूप बड़े पात्रमें पलटकर विचाररूप मथानी डालकर दमको खम्भ बनाकर सत्यवाणीरूपी रज्जुमें बाँधकर मथते हैं। विचार सारासारका निर्णय। ☞मुदिता, विचार, दम और सत्यवाणी चारोंसंयुक्त जो वैराग्य है वही ज्ञानकी चौथी भूमिका हुई।

पं०—१ विचाररूपी मथानीसे उसको मथै। तात्पर्य्य कि बारम्बार यही विचार करै कि आत्मा सदा सत्य, जगत् त्रिकालमें मिथ्या है। दम आधार है जिसके आश्रय मथानी फिरती है। तत्त्व यह कि विषयरसोंसे इन्द्रियाँ रुकें तब मन विचारपरायण हो। २—'बिमल बिराग०'। श्रुतियोंका आशय समझकर पदार्थोंमें दोष-

● वि० त्रि० जी अर्थ करते हैं 'मुदिता विचारकी मथानीसे मथे'। और मा० म०—कार अर्थ करते हैं कि 'मुदितारूपी सुन्दर स्त्री आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वके स्वच्छविचाररूपी मथानीको हाथमें ग्रहण कर इन्द्रियनिग्रहरूपी खम्भ जो सत्यब्रह्मके चिन्तनका और सत्य-रज्जुका स्तंभ है, उसके और मथानीके बीचमें वाणीरूप बड़ी रस्सीको लगा करके शनैः शनैः मथे अर्थात् ब्रह्मके यथार्थरूपको देखे यही उसका दही उत्तम मंथन है।' पाँडेजी 'मुदिता' को मथनेवाली स्त्री मानते हैं।

बुद्धि होना वैराग्यकी निर्मलता है, सब व्यवहारोंका बाह्य त्याग उसकी सुन्दरता है और ज्ञान उपार्जनकी योग्यता करनी उसकी पवित्रता है।

वै०—१ अबतक परमधर्म दूध विश्वास-पात्रमें रहा अब हृदयके आनन्दरूपी महेड़ेमें पलटा गया। दम खम्भ है। दो रस्सियोंसे खम्भेके आधारपर मथानी थँभी रहती है और एक रस्सीसे खींच-खींचकर मथना होता है। यहाँ सत्य वाणी अर्थात् पश्यन्ती वाणी मथनेकी रस्सी है और सुवाणी अर्थात् मध्यमा और वैखरी ये दोनों खम्भेसे मथानीकी आधार हैं। जैसे बिना रस्सीके मथानी नहीं चल सकती वैसेही बिना अन्तष्करणकी वाणीके विचार नहीं हो सकता इत्यादि सब सामग्री एकत्र कर तब जीव थिर होकर मथै। अर्थात् सब इंद्रियोंकी वृत्ति वैखरी मध्यमा वाणी सब बटुर कर मन चित्त अहंकारादि बुद्धिके अनुकूल हों तब बुद्धि पश्यन्ती-वाणीमें मिलकर आनन्दसहित विचार करे कि स्वर्गपर्यन्त सब विषय तुच्छ हैं, नाशवान् हैं, इनको त्यागकर आत्मरूपमें डटो जिसमें अचल सुख है इत्यादि विचार 'मथना' है। २—मथनेसे मक्खन 'विमल वैराग्य' निकला। विमल=जिसमें वासना आदि मल नहीं है। सुभग—अर्थात् सुंदरतामें मन्दतादि कुरूपता नहीं। 'सुपुनीत' अर्थात् जिसमें मनादि ईर्ष्याक्रोधादि अपावनतासे रहित हैं। भाव कि इन्द्रिय वाणी थिर होकर आनन्दसहित विचार करनेपर जो शुद्ध वैराग्य हुआ वह नवनीत है। 'जगत् और आत्मरूप जाना' यह 'सत्वापत्ति' ज्ञानकी चौथी भूमिका है।

वि. त्रि.—१ (क) 'मुदिता मथै।' दहीको मुदिता (अर्थात् दूसरेके सुखमें आनंदित होनेवाला गुण) मथे। यहाँ मथना विचार करना है। विचारमें मुदिताकी बड़ी आवश्यकता है। (ख) 'बिचार मथानी'। धर्मको सदा कामके साथका संस्कार है। धर्मके साथसे काम हटा दिया गया, धैर्यसे मैत्री कराई गई, पर अबभी उसमें (दुःखके बीज) कामका संस्कार शेष है, उसी संस्कारको तोड़नेके लिए उस दहीके थक्केको विचार (वस्तु विचार) से मथे। (ग) 'दम अधार'। अर्थात् इन्द्रियदमन (जो षट् सम्पत्तियोंमेंसे दूसरा है) उस वस्तु-विचारका आधार होगा, मथानीका फल होगा। उसीकी चोटसे यह जमा हुआ दहीका थक्का छिन्न-भिन्न होकर रवा रवा हो जायगा। (घ)—'रजु सत्य सुबानी'। सत्य सुबानी अर्थात् हितकर सत्य-वाणी (गुरु तथा शास्त्रकी) उस विचारमथानीकी डोरी होगी। उसकी खींचके अनुसार जब वस्तु-विचार-दण्ड अपने फलके साथ घूमेगा, अर्थात् शास्त्र मर्यादाके भीतर तर्क होगा, तब दही मथित होकर नवनीत (मक्खन) प्रसव कर सकेगा। विचारका दिग्दर्शन विनयके 'जिय जब ते हरि ते बिलगान्यो' इस पदमें आदिसे 'अजहुँ न करु बिचार मन माहीं। वि० १३६।' तक तथा मानसके 'एहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई'।...' इत्यादि वचनोंमें कीजिए। ['परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेद-मायान्नास्त्यकृतः कृतेन। मुंडक १। २। १२।' अर्थात् मुमुक्षु कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंको अनित्य जान-कर वैराग्यको प्राप्त होवे, क्योंकि कृत (कर्म) से अकृत (ब्रह्म) की प्राप्ति नहीं होती, इत्यादि। (सि. ति.)]

सब कार्य श्रद्धासे लेकर ग्रन्थिभेद तक विधिके अनुसार होने चाहिये, अविधि होनेसे वह असुरोंका भाग हो जायगा।

२—'तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता०'। (क) 'तब मथि'। इस प्रकार विचारमथानी द्वारा मथनेसे काम संस्कार छूट जायगा और उसके टूटते ही त्रिवर्ग वा षड्विकारकी जो कुछ वासना परमधर्मके सारको ढके हुए थी, छिन्न-भिन्न होकर अलग हो जायगी और नवनीत (विराग) प्रगट हो पड़ेगा। (ख) 'काढ़ि लेइ नवनीता'। अबतक सब कार्य विश्वासरूपी पात्रमें ही होता आया। उसीमें दूध दुहा गया, जमाया गया और मथा गया। अब मक्खन निकल पड़ा तो उसे (विश्वास) पात्रसे अलग कर लिया गया। भाव यह कि केवल विरागका विश्वास होनेसे काम नहीं चलेगा। (ग) 'विमल विराग'—वह मक्खन विमल विराग है, जैसा कि श्रीभरतजीका।...'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा'। ☞ विराग साधन-चतुष्टयमेंसे दूसरा है। (घ) 'सुभग सुपुनीता'—यह मक्खन दूध-सा सुभग है, पर दूध पुनीत था यह

सुपुनीत है। ☞ अब साधन-चतुष्टयके पूर्ण होनेमें केवल समाधानकी त्रुटि है। अतएव—'जोग अगिनि०'

शेषदत्तजी—जिस पात्रमें दूध दुहा, उसीमें औटा, उसीमें जमाया और फिर मही फेंककर उसीमें मक्खन रखकर तपाया।

दोहा—जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ॥११७(क)

शब्दार्थ—लाइ=लगाकर, यथा—'सकल गिरिन्ह दव लाइय रवि बिनु राति न जाइ।'

अर्थ—तब योगरूपी अग्नि प्रकट करके शुभाशुभकर्मोंरूपी ईंधन लगाके (जलावे)। ममतारूपी मैल जल जाय, ज्ञानरूपी घी रह जाय, तब बुद्धि उसे ठंढा करे।

वि. त्रि.—१ 'जोग अगिनि तनु (?) प्रकट करि०' इति। (क)—बिराग उत्पन्न हुआ तब योग का अधिकार भी हो गया। चित्तवृत्तिका निरोध करके सत् लक्ष्यमें एकाग्र होना योग है, और वह अभ्यास तथा वैराग्यसे होता है। वैराग्यद्वारा चित्तवृत्तिनिरोध कहनेसे ही, यह बात आ गई कि वैराग्यका निवास चित्तवृत्तिमें हुआ। (ख) 'तनु (?) प्रकट करि'। योगाग्निको प्राण-अपानके संघर्षणसे शरीरमें प्रकट करके अर्थात् हठयोग करके, जिससे मनकी गतिकी भाँति, देहकी क्रिया श्वास-प्रश्वासादि रुक जायँ। मनके रोकनेसे वायु रुकता है और वायुके रोकनेसे मन रुकता है, यथा—'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं। ४। १० छन्द।' अतः राज और हठ दोनों योग युगपत होने चाहिये। ☞ इससे समाधान (=चित्तकी एकाग्रता) कहा जो षट् साधनसम्पत्तियोंमेंसे छठी है। अब साधन-चतुष्टयके पूरा होनेसे साधक तत्त्वज्ञानका अधिकारी हुआ। ऐसे अधिकारीके लिये ही 'तत्त्वमसि' महावाक्यका उपदेश है, यथा—'मोहि परम अधिकारी जानी।', 'लागे करन ब्रह्म उपदेसा।', 'सो तैं (तत्त्वम्) ताहि तोहि नहिं भेदा। (असि) बारि बीचि इव गावहिं बेदा।'

२—'कर्म शुभाशुभ लाइ'। अग्निको स्थिर रखनेके लिये ईंधन चाहिये। अतः शुभाशुभ कर्मको लगाकर अग्नि जलावे। योगसे परोक्षज्ञान होता है, यथा—'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।' और परोक्षज्ञानसे बुद्धिपूर्वक किया हुआ पाप नष्ट होता है। योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण होता है, पाप-पुण्यसे रहित होता है, अतः संचित आगामी यावत् शुभाशुभकर्म्मोंको नष्ट करती हुई योगाग्नि प्रकट होती है, केवल प्रारब्ध बच रहता है। यथा—'कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार।१।६८।'

३—'बुद्धि सिरावै०' बुद्धि मक्खनको टिघलावै, अर्थात् वैराग्यसे और सत् लक्ष्यपर चित्तके स्थिर करनेके अभ्याससे चित्तवृत्तिका निरोध करे। ☞ मक्खन निकालनेतक 'मुदिता' का काम था, अब गर्म करना बुद्धिका काम है। घी कच्चा रह गया, ममता कुछ शेष रह गई, तो ज्ञानदीपकके जलनेमें कठिनता होगी और जो खर हो गया, तो योगशास्त्रोक्त असंप्रज्ञात समाधि हो जायगी। आगेकी सब क्रिया रुक जायगी। मसल है कि घी जलकर तेल हो गया। असंप्रज्ञात समाधि तो हुई पर ज्ञान न हुआ। यदि बुद्धि ठीक तरहसे पका सकी तो ज्ञानघृत तैयार हो जायगा। यह 'तत्' पदका ज्ञान परोक्षज्ञान है, यथा—'तव प्रसाद सब संसय गयऊ। रामसरूप जान मोहि परेऊ'।

मा० म०, वि० टी०—भाव कि परमात्मासे संयोगकी उत्कट इच्छा उत्पन्न कर योगसे शुभाशुभ-कर्मोंके नष्ट करनेसे ममतात्याग शुद्धज्ञान प्रगट होता है जिसे बुद्धि अपना लेती है। तात्पर्य यह कि वैराग्य-रूपी नवनीतमें अशुभकर्म्मोंका स्मरणरूपी जल लपटा रहता है तथा शुभकर्मोंकी चाहनारूपी छाछ मिली रहती है। सो ये दोनों जल जाते हैं अर्थात् निष्काम कर्म रह जाते हैं। मक्खन गर्म करनेसे छाँछ जलनेपर शुद्ध घी रह जाता है, यह अभी गर्म है इसे ठंढा करना होगा। ज्ञानघृतमें मानरूपी उष्णता है। इसे बुद्धि-रूपिणी स्त्री विवेचन द्वारा शीतल करती है।

वि० त्रि०—'ममता मल जरि जाइ'। भाव यह कि विरागमें यह धारणा रही कि ये सब विषय विलास मेरे वशमें हैं, मैं इनके वशमें नहीं हूँ। अतः उसमें ममता-मल रहा। वह ममता योगाग्निसे जलती है। इस प्रकार 'तत्' पदका शोधन हुआ। ज्ञानदीपकमें योगशास्त्रानुमोदित असंप्रज्ञात समाधिका उपयोग नहीं है, क्योंकि संपूर्णवृत्तियोंका निरोध न मानकर, ज्ञानी लोग ब्रह्माकारवृत्तिको असंप्रज्ञात समाधि मानते हैं, और कारण यह देते हैं कि योगवाली असंप्रज्ञात समाधिसे लौटनेपर, संसार ज्योंका त्यों लौट आता है, ज्ञान कुछ भी नहीं होता।

☞ यहाँ तक बुद्धिका कार्य समाप्त हुआ।

रा० प०, रा० प्र०—१ 'करि प्रगट' का भाव कि काष्ठमें जैसे अग्नि गुप्त रहती है, संघर्षणसे प्रकट होती है, वैसेही जीवात्मा परमात्माका विवेचन कर इसमेंसे उसे काढ़ ले। शुभाशुभकर्म जबतक रहते हैं तब तक स्वर्ग नरकादिमें घुमाते हैं, इनके जलने पर ही मुक्ति हो सकती है। अतः इनका जलाना कहा। २—यहाँ ममतामलका जलना कहा। अहंताभी मल ही है पर वह ग्रंथि छूटे विना जल नहीं सकती, अतः उसका जलना यहाँ नहीं कहते। भाव कि देहगेहादिकी ममता ज्ञानभूमिका पाते ही जाती रहती है पर अहंता समाधि अवस्थामेंभी रहती है। ज्योतिध्यानमें अहंता लेशमात्र रहती है जैसे दीपशिखापर तम, त्रिपुटीभङ्गमें ही अहंता निर्मूल होती है।

करु० शुभकर्म=सात्विक गुणमय कर्म। अशुभकर्म=राजस-तामसमय कर्म। मक्खनमें छाँछ रहता है। वैराग्यमें ममता अर्थात् अहंता है। छाँछ जल जानेपर वही बुद्धि ज्ञानघृतको 'सिरावती' अर्थात् घृतरूप ज्ञानको भिन्न और शीतल करती है। यहाँ आत्मा-अनात्माको जानना ज्ञान है।

☞ अनात्माको मिथ्या जानकर उसे वैराग्यद्वारा त्यागकर स्वस्वरूपका ग्रहण पाँचवी भूमिका हुई।

वै०—१ अब चौथे साधन वैराग्यको पाँचवीं भूमिकामें कहते हैं। २ अष्टाङ्गयोग करे यही अग्नि का प्रकट करना है। उसमें शुभाशुभ कर्मरूपी ईंधन लगावे। भाव कि पूर्व जो निर्वासिक कर्म करता था वह भी अब न करे। केवल ध्यान धारणा समाधि रूप योगाग्निमें विरागरूप नवनीतको औटै। संसार एवं देहव्यवहारका ममतारूपी मल जला डाले तब ज्ञानघृत रह जायगा। उसे ठंडा करे। भाव कि ज्ञानमें योग-क्रियाकी उष्णता है, उसको भी शान्त करे। ३ ☞ असार त्यागकर सार आत्मरूपका ग्रहण इति विवेक यह ज्ञानकी पाँचवीं भूमिका असंशक्ति है।

पं०—वैराग्य और योग ज्ञानके साधन और सहायक हैं। इनके विना ज्ञान प्रबल नहीं होता। योगाग्निमें शुभाशुभ कर्मोंको जलाया अर्थात् यह चाहा तो बहुतेरे तन धरकर दुःखसुख शीघ्र भोग लिए। तब बुद्धिरूपी सखीने वैराग्य-माखनको औटाकर अर्थात् वैराग्यका अभिमान त्याग दिया। ममतामल जल गया अर्थात् यह देह संयुक्त किसी पदार्थमें स्नेह न रह गया। ज्ञान=आत्माकी व्यापकता और जगतका मिथ्या जानना।—(पंजाबीजी सिरानेका अर्थ औटाना करते हैं)।

दोहा—तब बिज्ञानरूपिनी † बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ ॥११७ ख ॥

अर्थ—तब विज्ञानरूपिणी बुद्धि स्वच्छ घी पाकर, चित्तरूपी दिया (दीपक) उससे भरकर समता-रूपी दृढ़ दीयट बनाकर, उसपर दृढ़ करके धरे। ११७ ख

नोट—घी दीपकमें रक्खा जाता है, दिया दीवटपर रक्खा जाता है जिसके नीचेका पेंदा वा भाग भारी हो जिसमें दिया रक्खे जानेपर अथवा कुछ धक्का पानेसे गिरे नहीं। यहाँ विज्ञानरूपिणी बुद्धिको ज्ञान-

† बिज्ञाननिरूपिनी—मा० म०। बिज्ञान सरूपिनी—रा० प्र०। बिज्ञानरूपिनी—भा० दा०।

घृत रखनेके लिए चित्त 'दिया' है और 'दृढ़ समता' दीवट है जिसपर चित्तरूपी दिया रक्खा जाता है। भाव यह है कि चित्तमें निर्मल ज्ञान सदा परिपूर्ण रहे और सर्वजगत्में 'देख ब्रह्म समान सब माहीं', यह वृत्ति एकरस दृढ़ बनी रहे, नहीं तो ज्ञानरूपी निर्मल घी चित्तरूपी दीयेसे गिर जायगा तब दीपक जलेगा नहीं, सब किया कराया परिश्रम मट्टीमें मिल जायगा।

पं०—विज्ञानका निरूपण करनेवाली जो बुद्धि है जिसने आत्माही पूर्णतया जानी है वह ममतारहित ज्ञानरूपी शुद्ध घी चित्तरूपी दीपकमें भरे। अर्थात् देह, इन्द्रियाँ, प्राण, अन्तःकरण इन सबोंमें। और सदा आत्माकार ही अभ्यास रहे। 'समता दिअटि बनाइ' अर्थात् ज्ञान करके सदा समतामें रहे।

रा० प्र०—विशिष्ट ज्ञानरूपिणी बुद्धिका भाव कि सब आवरण परदे उसके दूर हुए, सब मल जल गया है।

मा० म०—अब ब्रह्म और जीवका भेद तथा ब्रह्मजीवकी वाच्यता विसर गई। लक्ष्य वस्तु शुद्ध ब्रह्मको (सम) एकरस जानकर वह भाव ग्रहण करे और उस समताकी दीअट बनावे। जो ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको जानकर उसका यथार्थ प्रतिपादन करे वही विज्ञानरूपिणी बुद्धि है जो ब्रह्म-प्राप्तिका प्रकाशक है। ब्रह्मके ऐश्वर्य, रहस्य और आनंदरूपको सदा समझता रहे वह चित्त है जो आनंदका मूल है, क्योंकि प्राकृतिक चित्त पूर्व ही लीन हो गया है।

वि० त्रि०—'विज्ञानरूपिनी बुद्धि'। ☞ अब गुरुसे उपदिष्ट 'सो तैं तोहि-ताहि नहिं भेदा' (तत्त्वमसि) महावाक्यसे उत्पन्न विज्ञान जिसका रूप है, ऐसी बुद्धिका कार्य प्रारंभ होता है। अर्थात् गुरु-वेदान्तवाक्यसे जो ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव होता है उसे 'विज्ञानरूपिणी' बुद्धि कहते हैं।...। २—'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअट बनाइ'। अर्थात् 'चित्तमें वैषम्य न होने पावे, नहीं तो ज्ञान नष्ट हो जायगा। ☞ यह बाह्य समाधि हुई। इस प्रकार ज्ञानघृत तैयार हुआ, उसे दीयेमें भरकर सुरक्षित स्थानमें रख दिया गया, तब साधककी साधु पदवी होती है, यथा—'बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ। १। ३।' ऐसेही साधु महापुरुषोंकी कपाससे उपमा दी गयी है। साधुका चरित्र कपासका चरित्र कहा गया है, नीरस विशद और गुणमय करके उसके फलका वर्णन किया गया है। यथा—'साधुचरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू। १। २। ५।' अपना कार्य जिससे हो उसे फल कहा गया है। जैसे तलवारका फल, बरछेका फल, वृक्षका फल। इसी प्रकार कर्मका फल देह है। साधुका शरीर विषयरसरूखा होनेसे नीरस कहा गया। ऐसे ही देहसे तीनों शरीरोंका पृथक् करना, तुरीयाकी प्राप्ति आदि, जिसका वर्णन पीछे किया जायगा। सम्भव है, दूसरेसे नहीं। दूसरोंके तीनों शरीर सरस होनेसे, मलिन और दोषयुक्त होनेसे, एक दूसरेसे ऐसे सने होते हैं कि उसको पार्थक्यका अनुभव नहीं हो सकता। यथा—"काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तमकूप। ७३।' ●

करु०—१ अ० छठवीं भूमिका कहते हैं। इसमें अपने स्वरूपकी और ब्रह्मकी एकता करनेका अनुसन्धान है। यह विशेष विज्ञान है। २—'तब' अर्थात् जब घी जमकर विशद हुआ 'तब' घृतरूप विज्ञान निरूपण करने लगी जिससे विज्ञान विशद हुआ अर्थात् अनुभव द्वारा अनात्माके सम्बन्धसे आत्मा भिन्न देख पड़ा। यहाँ 'अपना स्वस्वरूप जीव अरूप-स्वरूप- ब्रह्म इन तीनोंकी एकताका निरूपण' विज्ञान है।

वै०—पहली भूमिकामें मन सावधान हुआ, उसके संकल्प-विकल्प विकार छूटे, और पाँचवीं भूमिकामें पहुँचकर योगाग्निद्वारा ममता अभिमान जले। अब बाकी रहे बुद्धि और चित्त। इनका व्यापार

● पं० श्रीकान्तशरणने त्रिपाठीजीके भाव मा० पी० से प्रायः अक्षरशः चुराकर लिखे हैं। केवल रेखांकित 'शरीर' शब्दोंकी जगह 'अवस्था' शब्द रख दिया है। वि० त्रि० जीका कहीं प्रसंगभरमें या पुस्तकमें नाम नहीं है।

अब छठवीं भूमिकामें कहते हैं। जब शुद्ध आत्मरूपकी पहिचान हुई, ज्ञान घृत मिला तब विज्ञानको निरूपण करनेवाली, अर्थात् आत्मपरमात्मकी वृत्ति एकमें मिलानेवाली, का काम आया कि वह समतारूपी दीवट बनाकर चित्तरूपी दिया में ज्ञान घृत भरकर उसपर रक्खे। अर्थात् मन-चित्त-बुद्धि-अहङ्कारकी वृत्ति एकमें मिलकर थिर होना समता दिअट बनाना है। मन और अहङ्कारकी वृत्ति चित्तमें लीन बनी रहे और चित्तमें आत्मरूपका अखण्ड चिन्तवन बना रहे और बुद्धि आत्मरूपके पहिचानमें लगे, इत्यादि दीवटपर घी भरा दिया रखना है।

दोहा—तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि ॥११७(ग)॥

अर्थ—कपाससे तीनों (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) अवस्थायें और तीनों (सत्व, रज, तम) गुण इनको निकालकर, तब तुरीयावस्था रूपी रुईको सँवार (अर्थात् धुनकर रुईका पहला और प्यूनी बनाकर) सुंदर कड़ी बत्ती बनावे। ११७।

☞ चिराग हुआ, घी हुआ, अब उसमें बत्ती चाहिए तब तो दीपक जलाया जाय। बत्तीके लिए रुई चाहिए। रुई कपासको औटनेसे अर्थात् बिनौला आदि निकालनेपर मिलती है। उसी प्रकार अब ज्ञान-दीपकके लिए बत्तीका सामान बताते हैं। यहाँ कपास, बिनौला और रुई इत्यादि क्या हैं सो इस दोहेमें कहते हैं।

तीन अवस्थायें कपासके फाल वा बोडरीपरके छिलके हैं और तीनों गुण भीतरके बिनौले हैं। तुरीयावस्था रूई है। बत्ती यदि कसी हुई पुष्ट नहीं हो तो लौ प्रकाश एकरस ठीक नहीं रहेगा। कपासमें तीन फाल या बोड़री होती हैं, जिनके ऊपर छिलका होता है, तीनों फालमें बिनौला होता है, यह सब मिलकर कपास कहलाता है। कपास=रुई, बिनौला और छिलकाका मजमूआ। बिनौला और छिलका निकल जानेपर रुई रहती है।

वि० टी० का मत है कि मन कपास है। उसको तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीय अवस्थाकी ओर झुकाते हैं। वीरकविजी तीनों अवस्थाओं और तीनों गुणोंको कपास वा कपासका ढोंढा मानते हैं और लिखते हैं कि 'तुरीयावस्था मोक्ष है। कपासके ढोंढ़में तीन भाग और प्रत्येक भागमें एकएक रेखाएँ होती हैं। इस अभेदत्वमें अभेदरूपक है।' यह मत मा० म० का समथन करता है। वि० त्रि० देहको कपास मानते हैं। महादेवदत्तजी लिखते हैं कि 'तीनों गुण और तीनों अवस्थायें आत्मा द्वारा स्फुरित होती हैं। जैसे रुई और बिनौला एक साथ उत्पन्न वैसेही ये अनादिसे एकसाथ। जैसे रुईसे बिनौला निकालते हैं वैसेही तीनों अवस्थाएं जो जीवके साथ हैं उनको निकाल डालें तो आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होकर तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे रहित तुरीयावस्था होवे।' इससे जीव कपास हुआ, ऐसा उनका मत जान पड़ता है।

पं०—'सत्व रज तम' ये तीनों गुण अविद्यारूपी कपासके फल हुए और तीन अवस्थायें तीन कपास हैं जो उस (कपास-फल) से निकले। इस कपासमेंसे तुरीया रूपी स्वच्छ रुई निकालकर बत्ती बनावे'; अर्थात् जाग्रत्के अन्त और सुषुप्तिके आदिमें जो निर्विकल्प-संग तुरीया स्वरूप है उसमें वृत्तिका 'वहिरावण' यह बत्ती हुई।

करु०—बुद्धि बत्ती बारना चाहती है। यहाँ तीन गुण और तीन अवस्थाही कपास हैं। और उसमें तुरीयावस्था रुई है, तीनों अवस्थाएं और तीनों गुण बिनौला हैं। 'बाती करै सुगाढ़ि' अर्थात् दृढ़ करके बनावे जिसमें दीपककी ज्योतिरूप वृत्ति शुद्ध जलै अर्थात् लगे।*

* करु०, मा० शं०—जाग्रति अवस्था २४ तत्वों करके वर्त्तमान है, यह स्थूल शरीर है। पचीसवाँ

वि० त्रि० १—'तेहि कपास तें'। कपासकी उपमा देहसे दी गई है। जिस प्रकार कपासमें तीन कोष (खाने) होते हैं, उसी प्रकार देहमें तीन शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। पाञ्चभौतिक देहको स्थूल-शरीर कहते हैं। पंचज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा, घ्राण) तथा पंचकर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) तथा पंचप्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) तथा बुद्धि और मन इन सत्रहके समूहको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इन दोनोंका कारण आत्मा का अज्ञान है। जो आत्माके आभाससे युक्त होकर कारण-शरीर कहलाता है।

२—'तीनि अवस्था तीनि गुन'।—इन्द्रियोंसे विषयका ज्ञान जिस अवस्थामें होता है उसे जाग्रत कहते हैं। इन्द्रियोंके उपरत होनेपर जाग्रत्-संस्कार-जन्य सविषय ज्ञानको स्वप्न कहते हैं और जिस समय किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता, बुद्धि कारण-शरीरमें जाकर ठहरती है, उसे सुषुप्ति-अवस्था कहते हैं। सत्व, रज, और तम तीन गुण हैं। जाग्रत सत्वप्रधान है, स्वप्न रजः प्रधान है और सुषुप्ति तमः प्रधान है। येही तीनों अवस्थाएँ कपासके तीनों कोषोंकी तीन ढेढ़ियाँ हैं और सत्व, रज, तम उनके क्रमसे बीज हैं। कपासके प्रत्येक कोषमें बिनौलेसे लपटी हुई रुई होती है उसे ढेढ़ी कहते हैं।

३—काढ़ि=निकालकर। भाव यह कि वैराग्य उत्पन्न होतेही, साधु तीनों गुणोंको त्यागना चाहता है। उसकी विधि यह है कि स्थूल शरीरसे ढेढ़ीरूपी जाग्रत् अवस्थाको अलग करके उसमेंसे बिनौलारूप सत्व अर्थात् वैषयिक ज्ञानको दूर करे। सूक्ष्मकी अवस्था स्वप्नमेंसे उसी वैषयिक ज्ञानके संस्कारको दूर करे। कारण-शरीरकी सुषुप्ति अवस्थामेंसे आत्माके ज्ञानको दूर करे। ☞ ये सब क्रियाएँ मनसे होती हैं अतएव राजयोगके अन्तर्गत हैं। यथा—'कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥' यह परम विराग ज्ञानरूपही है। ☞ यह दृश्यानुविद्ध समाधि हुई।

४—'तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै०'। (क)—जब तीनों अवस्थाओंमेंसे तीनों गुण निकल गये, ढेढ़ीमेंसे बिनौले बाहर निकाल लिये गये, औटनेका काम समाप्त हुआ, तब केवल रूई बच गयी, वही तुरीयावस्था है। उसेभी सँवारके अर्थात् तुनकर उसमेंसे कोषोंके संस्कारको दूर करे। ☞ इस प्रकार 'त्वं'

तत्व जीवात्मा है जिससे तीनों अवस्थायें स्फुरित होती हैं। स्थूल शरीर जाग्रत अवस्थाका देवता विश्व है। वही जीव विश्वस्वरूप है। और स्थूल-शरीरका भोग प्रत्यक्ष है। इस प्रकार २४ तत्व, विश्व देवता, स्थूल शरीर, प्रत्यक्षभोग और सत्वगुण ये पाँच मिलकर जाग्रतावस्था है।

पंचतन्मात्रा, पंचकर्मेन्द्रियोंके विषय, पंचप्राण, मन और बुद्धि—इन १७ तत्वोंसे स्वप्नावस्था हुई। तैजस् देवता है। जीव स्वप्नमें तेजस्रूप है अर्थात् अति सूक्ष्मप्रकाशरूप लिङ्गशरीर, सूक्ष्मभोग और पवनवेग वाला होता है। इस प्रकार १७ तत्व, लिंगशरीर, सूक्ष्मभोग, तैजस् देवता और रजस् गुण मिलकर स्वप्नावस्था है। सुषुप्तिमें सूक्ष्मतरभोग है। यहाँ जाग्रतके २४ और स्वप्नके १७ तत्व दोनों एक होकर सम रहते हैं। प्राज्ञ देवता है। इस प्रकार—अज्ञानभोग, आनंदभोग, जाग्रत् स्वप्नकी साम्यता, प्राज्ञ और तामसगुण मिलकर सुषुप्ति अवस्था है।

मा० म० में चारों अवस्थाओंका विस्तृत वर्णन है। वे लिखते हैं कि तीनों अवस्थाओंके स्थूल, लिंग और कारण शरीर, उनके देवता (विश्व, तैजस्, प्राज्ञ), उनके अक्षर (अ, उ, म), उनके रंग (पीत, श्वेत, लाल) और उनकी बारहों कलाएँ, अवस्थायें और तीनों गुण (सत्व, रज, तम) ये ही कपास हैं। इनके अभ्यन्तरसे तुरीया (महाकारणशरीर) रूपी रुईको निकाल ले।

तुरीयावस्थामें विद्याकृत श्रेष्ठमहाकारण शरीर है। इस शरीरका इकार अक्षर है, इसका अभिमानी देवता है, अर्द्धचन्द्र ऐसा रूप और चार कला हैं। यह महाकारणशरीर स्थूल, लिंग और कारण तीनों शरीरोंके अभ्यन्तर सर्वज्ञभावसे सर्वांगमें व्यापक होकर रहता है।

पदका शोधन हुआ। (ख)—सुगाढि=खूब मोटी। अर्थात् तुरीयावस्थाके संस्कारोंको भली भाँति घनीभूत करे, जिसमें सब मिलकर एक हो जावें।

पं० रा० व० श०—तीनों गुण और चारों अवस्थायें मिलकर कपास हुआ। तीनों अवस्थायें और तीनों गुण निकल जानेसे ज्ञान होगा कि हम अवस्थाके साक्षी हैं, ब्रह्मस्वरूप चिन्मय अविनाशी हैं। तुरीयरूप आत्माकी अवस्था तुरीयावस्था है।

करु०, शेषदत्तजी—तीनों अवस्थायें और तीनों गुण आत्माद्वारा अनादिकालसे स्फुरित हैं। जैसे रुई और बिनौलाको विधाताने एक साथ उत्पन्न किया है पर जब यत्न करके कपाससे बीजको निकाल डाले तब केवल रुई रहजाती है †

शेषदत्तजी—इसी प्रकार गुणत्रय और अवस्थात्रय जीवके साथ जानिये। पर जब विलक्षण आत्मा स्वस्वरूपमें स्थित हुआ तब गुणत्रय-सहित अवस्थात्रयसे रहित हुआ; यही तुरीयावस्था है। पर इतनेपर भी जड़-चेतनकी वासना-ग्रंथि सूक्ष्म होकर जीव बुद्धिके अंतरमें याद तो बनी ही है।

वै०—यहाँ तीन अवस्थायें कपास बोड़रीके बकला हैं और तीनों गुण भीतर बिनोलासहित तीन पुरियाँ हैं। तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंके त्याग करने पर जो शुद्ध आत्मरूपकी पहिचानरूपी तुरीयावस्था है वही रुई है। इस रुईकी कड़ी बत्ती बनावे। अर्थात् आत्मरूपका चिन्तवन दृढ़ बना रहे। इस प्रकारसे दीप जलावे। योगाग्नि जो प्रकट कर चुके हैं उसीसे बत्तीको जलावे। तेजराशि अर्थात् जिसमें अनुभवप्रकाश समूह है। मदादिशलभ सब आकर जल मरते हैं। अर्थात् ☞ देहेन्द्रिय मनादिकी वृत्ति त्यागकर थिर चित्तसे आत्मरूपकी वृत्ति परमात्मा रूपमें लगाना यह पदार्थाभावनी छठवी भूमिका हुई।

सि० ति०—देहवृत्ति कपास-फलकी तरह कही गई। उसमें तीन अवस्थाएँ छिलके हैं और तीनों गुण बिनौले हैं। उनको पृथक् करे; अर्थात् इनके द्वारा होनेवाले कार्योंको अपनेसे पृथक् समझे कि तीनों गुणोंके द्वारा तीनों अवस्थाओंकी कार्य-सत्ता है और आत्मा उनका साक्षीमात्र हैं, सब व्यापार गुणोंसे ही होते हैं; यथा 'नैवकिञ्चित्करोमीति युक्तोमन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्। प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्। गीता ५। ८-९।' अर्थात् मैं कुछ नहीं करता। देखना-सुनना आदि सभी कार्य इन्द्रियाँ करती हैं, ऐसा तत्वज्ञानी माने। पुनः, गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते। गीता ३। २८।', अर्थात् गुण ही गुणोंमें परस्पर वर्त रहे हैं, ऐसा मानकर ज्ञानी इनसे लिप्त नहीं होता। 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैःकर्माणि सर्वशः। अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। गीता ३। २७।' प्रकृतिके गुणोंसे सब कर्म किये जाते हैं, अहंकारसे मूढ़ ही अपनेको कर्ता मानता है। इत्यादि विचारोंसे आत्माको तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे पृथक् साक्षात्कार करे। तब वह इनकी वृत्तियोंसे असंग रहकर एक रस आत्मचिन्तन कर सकेगा।

---

† करु०—'इसीप्रकार जब आत्मज्ञान हुआ तो उसे तुरीयावस्था कहते हैं। तहाँ तीन अवस्था तीन गुणमें अहंमम बिनौला है, अहंमम बिनौला निकल जाने पर तब उस आत्मज्ञानको दृढ़ करके ग्रहण किया। तहाँ जड़ चैतन्यकी जो ग्रंथि है सो सूक्ष्मरूपसे बुद्धि जीवके अन्तरभूतभेषादि बनी है। तहाँ बुद्धि आत्माकी शुभाशुभ शक्ति है इससे बुद्धि करिकै आत्मा मलिन है और बुद्धिही द्वारा आत्माको अपने स्वस्वरूपका ज्ञान है।'

रा० प्र०—'तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढि।' "सँवारि' का भाव कि उसमें कपास न मिलने पावे और न रुईके महीनसूत दिखाई पड़ें—(रा० प०) भाव कि बिनौला आदि जड़ कठिन भाग जो अविद्यादि मायाके हैं वे लेशमात्र भी न मिलें, सूत्र लग जाता है अतः वह न रहे और यदि बाधक सूत्र न दिखायी पड़े तो पहिले तूलरूपी तुरीयकी प्यूरी बनाकर तब कातकर सुंदर दृढ़ सूत्रकी बत्ती बनावे जिससे चिर प्रकाश रहे।"

सोरठा—एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिज्ञानमय।
जातहि जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब ॥११७ घ॥

अर्थ—इस प्रकार तेजराशि विज्ञानमय दीपक जलावे, जिसके समीप जाते ही मदादि सब पतंग जल जायँ। ११७।

करु०—१ अर्थात् उसी योगाग्निसे इसी रीतिसे बुद्धिने विज्ञानरूप दीप 'लेसा' (=जलाया) जो तेजराशि विज्ञानमय है। २ ☞ विज्ञान छठवीं भूमिका हुई, आगे सातवीं भूमिका कहते हैं।

पं०—यहाँ बुद्धिरूपी सखी योगाग्निसे अर्थात् समाधिके बलसे ज्ञानरूपी दीपकको जलावे। यहाँ विज्ञानमयसे निदिध्यासन-ज्ञान-मय तात्पर्य है। मनन-ज्ञानसे निदिध्यासन-ज्ञान विशेष है; इसीसे विज्ञान कहा जिससे अहंकारादि शलभ अर्थात् अविद्याका बल निवृत्त हो गया।

वि० त्रि०—१ 'एहि बिधि' इति। इस विधानसे, अर्थात् जो ऊपर कह आए हैं। प्रकाशके और भी बहुत उपाय हैं। तेलके दीयेसे भी प्रकाश होता है, विद्युत्से भी प्रकाश होता है, परन्तु अन्य उपायोंसे आत्मानुभवसुखका प्रकाश न होगा। शास्त्रकी विधि त्याग करनेसे कदापि कल्याण नहीं हो सकता। ग्रंथि छूटनेके पहले ठीक ठीक विधिनिषेधके अनुसार बरतना होगा, अतएव जो विधान कहा गया है उसीके अनुसार करे, यह नहीं कि दूधको ही मथकर मक्खन निकाल ले, अथवा घीका काम तेलसे ही लेले।

२—'लेसै दीप' अर्थात् बत्तीको घीके दीपमें छोड़ दे, जिसमें बत्ती घीसे भीग जाय, तब उसे योगाग्निसे लेस दे। भाव यह कि तुरीयाको परोक्षज्ञानमें डुबा दे। 'त्वं' पदके लक्ष्यार्थको 'तत्' पदके लक्ष्यार्थ में लीनकर सानन्द समाधिमें स्थित हो। (उपर्युक्त तुरीयाकी एकत्र वृत्तिको आत्मस्वरूपमें लीन कर दे तब उसे योगाग्निसे लेस दे। सि० ति०।) इसे शब्दानुविद्ध समाधि कहते हैं। ३—'तेजराशि विज्ञान मय'। इस प्रकार विधिसे जलाया हुआ दीप तेजोमय होता है। उसे विज्ञानमय इस लिये कहते हैं कि उससे अपरोक्षज्ञान होता है, यथा—'दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी'। ('तेजरासि' अर्थात् उससे अनुभवप्रकाश समूह होता है; यथा 'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा' यह आगे कहा है। 'विज्ञानमय'—मयट् प्रत्यय यहाँ तद्रूपमें ही है। यहाँ तक विज्ञान अर्थात् प्रकृति-वियुक्त आत्माके ज्ञानका साक्षात्कार हुआ। सि. ति.।)

४ (क) 'मदादिक-शलभ सब'—जहाँ दीया जला कि शलभ अर्थात् पतंगे चले। झुण्डके झुण्ड कभी-कभी दीये पर टूट पड़ते हैं, स्वयं जलते जाते हैं, पर यदि दीया दुर्बल हो तो उसे बुझाकर ही छोड़ते हैं। मद, मात्सर्य आदि शलभ हैं। शलभ इस लिये कहा कि मायाका परिवार बहुत बड़ा है, यथा—'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा। ७१। ७।' (ख) 'जातहि०' का भाव कि इतने प्रबल होनेपर भी उस दीये तक नहीं पहुँच पाते। समीप आते ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ☞ मदादिकी इस शब्दानुविद्ध समाधितक गति नहीं है। इससे तेजोराशि विज्ञानमयका साफल्य दिखलाया। (यहाँ मदको आदिमें कहकर भाव स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रकृतिके परिणामरूप देह एवं गुणोंसे ही जाति, विद्या, महत्त्व आदिके मद होते हैं। तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे आत्मा सर्वथा संगरहित हो चुका है, तब मद आदिकी पहुँच वहाँतक कैसे होगी। मदकी तरह और भी सब विकार गुण-संगसे ही होते हैं। सि. ति.।)

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥ १॥

अर्थ—'सोऽहमस्मि' वह मैं हूँ यह अखण्ड वृत्ति ही उस दीपककी परम प्रचण्ड लौ है। (भाव कि यह ध्वनि निरंतर अजपाजाप रीतिसे होती रहे। लय न टूटे)। १।

करु०, शेषदत्तजी—यहाँ तो अखण्ड वृत्ति कह रहे हैं और आगे मायाके प्रचंड पवनसे इसका खंडन कहते हैं, यह कैसा? समाधान यह है कि बुद्धिने अपने अनुभवबलसे आत्मामें परमात्मत्व ग्रहण

किया है; इससे अपनी सामर्थ्यभर तो उसने सँभाला है पर माया प्रबल है अतएव उसके द्वारा विघ्न भी लिखेंगे। श्रीरामचन्द्रजीकी शरण न होनेसे माया उस ज्ञानवृत्तिको खण्डित कर देती है।

पं०—गुरुने शिष्यप्रति उपदेश किया कि 'तत् त्वमसि', उस उपदेशको दृढ़ कर लेनेपर शिष्यने कहा कि 'सोऽहमस्मि'।

वै०—अखण्ड कहनेका भाव कि पानी पवन पतंगादिकी बाधासे दीपक बुझ जाता है। वैसे ही ज्ञानदीपकमें मायाकृत अनेक बाधायें हैं। इनसे रक्षा रक्खे तो अखण्ड रहेगा नहीं तो खण्डित होनेका सदा भय है। सदा परिपूर्ण आत्म-परमात्मकी एकता बनी रहना यही परम प्रचण्ड अत्यन्त तेजमान दीपककी शिखा (लौ) है।

वि० त्रि०—१ (क) 'सोहमस्मि'। भाव यह कि 'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा' इस महावाक्यके श्रवणमननके पश्चात् 'वह मैं हूँ' इसी रूपमें निदिध्यासन होता है। (ख) इति वृत्ति अखंडा'। 'वह मैं हूँ' यह वृत्ति बराबर बनी रहे, विक्षेप न होने पावे। भाव यह कि समाधिमें निर्वात दीपकी भाँति अचल एकरस चित्त बना रहे। (ग) 'दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा'। यही अपरोक्ष ज्ञानवृत्ति-दीपकी परम प्रचंड लौ है। मायाकी सेना प्रचण्ड है, यथा—'ब्यापि रह्यो संसार महँ माया कटक प्रचंड', उसके भस्म करनेके लिये 'परमप्रचंड' की आवश्यकता है, सो यह दीपशिखा परमप्रचंड है।

मा० म०—१ 'दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा' इति। 'सोहमस्मि' अर्थात् जो परतर सदा एकरस विलक्षणरूप ब्रह्म है सो मैं ही हूँ यह दृढ़वृत्ति दीपकी (शिखा) ज्योति है। पुनः, जिस ब्रह्मसे मिलने चले सो दूसरा कोई नहीं है वरन् मैं ही हूँ, यह उस बत्तीकी प्रचंड शिखा है। २—'वृत्ति अखंडा' परम प्रचंडा' कहनेका भाव कि इस अवस्थामें किंचित्भी अपने जीवत्वका स्मरण न होवे, दृढ़तापूर्वक 'सोहमस्मि' की धारणा बनाए रक्खे। इस अवस्थामें कभी-कभी बुद्धिको सूक्ष्मभावसे संसारका होश हो जाता है, उसको निश्चय करके विस्मरण कर दे। सोहमस्मि वृत्ति होनेपर यही सूक्ष्मग्रंथि रह जाती है।

बाबा जयरामदासजी दीन—'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा।...' इस चौपाईको उद्धृत करके अद्वैतवादियोंका कहना है कि 'सोहमस्मि' शब्द लिखकर श्रीगोस्वामीजीने अद्वैतवादको स्वीकार किया है।

समाधान—इस ज्ञानदीपकप्रसंगको भी आरम्भसे ही देखिए, स्पष्ट शब्द भरे पड़े हैं—'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भएउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।' इसमें साफ़ जीवको ईश्वरका अंश माना गया है और यह भी कहा गया है कि वह मायाके अधीन है। इस प्रकार ब्रह्म, जीव और माया, तीनों तत्वोंको अनादि मानकर प्रसंग उठाया गया है। पुनः, उस जड़-चिद्-ग्रन्थिकी निवृत्तिका आधारभी ईश्वरकी कृपा ही दिखाई गई है। यथा 'अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई। सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई।' इसके अतिरिक्त यहाँ केवल वाक्य ज्ञान, वाक्य बोध ही नहीं वरं सम्पूर्ण साधनका क्रम दिया हुआ है। उसके बाद 'सोहमस्मि' वृत्तिको केवल दीपशिखा माना है; अभी ग्रंथिका छूटना बाक़ी है, ग्रन्थिका उसी प्रकाशमें पीछे छूटना बताते हैं—'तब सोइ बुद्धि पाइ उजिआरा। उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा। छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई।'

वहाँ 'सोहमस्मि' को फलस्वरूप माना है—उसके बाद कुछ बाक़ी ही नहीं रह जाता। इसलिये इस 'सोहमस्मि' का तात्पर्य यह है—सः (वह), अहं (मैं), अस्मि (हूँ); सः अर्थात् वही ईश्वर-अंश जो ऊपर कहा गया है, जो इस जीवका शुद्ध स्वरूप है, जिसको भूलकर यह अपनेको किसीका पुत्र, किसीका पिता, किसीकी प्रजा, किसीका राजा, किसी कुलका, किसी वर्णका, किसी आश्रमका मान रहा था। इस

भ्रमकी निवृत्ति इतने साधनोंके बाद हो जानेपर जीव यह निश्चय करता है कि मैं तो शुद्धस्वरूप ईश्वरका अंश, चेतन, अमल हूँ, ये मायाकृत संसारी नाते झूठे थे और जब उसने अपनेको ईश्वरका अंश जान लिया तब वह संसारसम्बन्धको मिथ्या मानकर उससे अलग हो जाता है। यही ग्रन्थिको निरुआरना या छोड़ना है। जब निश्चित रूपसे संसारी नाते छूट जाते हैं और केवल प्रभुकी ही प्रसन्नता जीव स्वीकार कर लेता है तब वह कृतार्थ हो जाता है। अतः यहाँ भी अद्वैतवाद नहीं है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'सोहमस्मि' अर्थात् सः, अहं, अस्मि (वह, मैं, हूँ)। इसमें सः शब्द व्याकरणकी रीतिसे सर्वनाम है, यह मुख्य संज्ञाके पश्चात् आता है, जैसे यज्ञदत्त घर गया, वह नहीं आया। यहाँ पर इस प्रसंगमें ऊपर 'ईश्वर अंस...' में ईश्वरांश शुद्ध जीव ही का मायावश होना कहा गया है। अतः 'सः' शब्द उसीके लिये है। ब्रह्मकी ऊपर कहीं चर्चा नहीं है। हठात् उसका अर्थ करनेसे 'अन्येन भुक्तं अन्येन वान्तम्' अर्थात् 'दूसरेने खाया और दूसरेने वमन किया' रूप दोष उपस्थित होगा।

अतः जो जीव मायावश हुआ था, उसीको प्रकृति (माया) नियुक्त होनेपर अपना स्वरूप साक्षात्कार हुआ तो उसीका 'सोहमस्मि' से अनुसंधान है कि मैं वही—'ईश्वर अंशरूप अविनाशी जीव शुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप हूँ।' यहाँ ब्रह्मात्मक रूपसे ही जीवका लक्ष्य है। इस दृष्टिसे 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'सोऽहमस्मि' ब्रह्मपरक भी युक्त ही है। पर जीव भाव त्यागपूर्वक ब्रह्म भाव नहीं, उस ईश्वरांशकी ब्रह्मात्मक रूपसे अर्थात् ब्रह्मको अपना आत्मा (अर्थात् अभिन्न) मानकर ही उपासना की जाती है। पूर्व 'बारि बीचि इव गावहि बेदा' में कही हुई तात्त्विक एकता भी रहती है।

इस प्रकार जीवात्माकी ब्रह्मात्मकरूपमें उपासना श्रुतियाँ भी कहती हैं। यथा 'ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते। तेऽर्चिरभिसंभवन्ति। अर्चिषोऽहः। अह्न आपूर्यमाणपक्षम्। आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति। मासेभ्यो देवलोकम् देवलोकादादित्यम्। आदित्याद्वैद्युतम्। तान्वैद्युतात्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति। तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।' (बृहदा० ६। २। १५)।—इस श्रुतिमें प्रकृति-वियुक्त-जीवात्म साक्षात्कारवालेकी मुक्ति कही गई है।

ब्रह्मसूत्र आनन्द भाष्य ४। ३। १५ में तथा गीता १२। १-५ में विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तके भाष्यकारोंने प्रौढ़ प्रमाणोंके साथ ब्रह्मकी और प्रकृति-वियुक्त जीवात्माकी, दोनों उपासनाएँ प्रतिपादित की हैं। यह भी कि जीवात्मोपासना कठिन है और परमात्मोपासना उससे सरल है। विशेष विवेचन वहीं देखना चाहिए।

यहाँ जीवात्मोपासनाका ही प्रसंग है, इसकी ब्रह्मात्मकरूपसे ही उपासना होती है। 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।' (ब्रह्मसूत्र आनंदभाष्य); पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें भी 'अहं ब्रह्म' ऐसी अभिन्न उपासना स्वीकार की गई है। अतः, यहाँ पर मुझे 'सोहमस्मि' का ब्रह्मपरक अर्थ करनेमें अड़चन नहीं होती, पर यहाँ ऊपर ब्रह्मकी चर्चा नहीं है। तो 'सः' से ब्रह्म कैसे लिया जाय?

श्रुतियोंमें जहाँ 'सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि' ब्रह्मपरक कहा गया है, वहाँ प्रथम ब्रह्मका वर्णन करके। यथा 'य एव चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि। छां० ४। १२। १।', 'य एव विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि। छां० ४। १३। १।'

इन्हीं दोनों उपासनाओंके अभिप्रायसे श्रीगोस्वामीजीने भी दो ही प्रकारकी मुक्तियोंका विधान किया है; यथा 'रामचरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान। १२८।' 'अथवा' शब्दसे निर्वाण-पदको भिन्न प्रकारकी ही मुक्ति कहा है।

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद†-भ्रम-नासा॥ २॥

अर्थ—आत्म-अनुभव-सुख ज्ञानदीपकका सुंदर (निरावरण) प्रकाश जब हुआ तब संसारके मूल

† देह भ्रम—(का०)। भेद भ्रम—भा० दा०, मा० म०, रा० गु० द्वि०।

भेद भ्रमका नाश होता है।२।

पं०—'आतम अनुभव सुख'=वह स्वरूपानन्द जो 'सोऽहमस्मि' की अखण्डवृत्तिके होनेसे हुआ है। मायाको सत्य जानना यह भ्रम है। अज्ञान भवका मूल है।

करु०—यहाँ ब्रह्मानन्द ही आत्मानुभव सुख है। यही दीपकका सुप्रकाश है। अनुभव ४ प्रकारका है—१ इन्द्रियजनित अहंकारानुभव जो तामसगुणमय है। २ मनका अनुभव जो राजसगुणमय है। ३ चित्त का अनुभव जो सात्विकगुणमय है। ४ आत्मानुभव जो गुणातीत ब्रह्ममय है—यही ज्ञानदीपकका प्रकाश है। तब भेदभ्रम जो अपनेहीमें हैं और जो संसारमें जन्ममरणके कारण हैं, वे नाश हो जाते हैं।

वै०—'आतम अनुभव सुख...' इति। दीपक जलनेपर प्रकाश होता है। यहाँ आत्मानुभव अर्थात् आत्मरूप साक्षात्कार होनेका सुख एकरस बना रहना विज्ञानका प्रकाश है।

सि. ति.—'आतम अनुभव सुख'—अर्थात् स्वस्वरूपानन्द, इसे ही ब्रह्मानन्द भी कहते हैं, क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिसे और ब्रह्मके साधर्म्य प्राप्त होनेसे इसे ब्रह्मके समान ही सुख प्राप्त होता है, इसी सुखके प्रति कहा है—'निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। ९०।७।', 'ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा', 'ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै। वि० ११६।'

वि० त्रि० १—'आतम अनुभव-सुख'। इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है। क्योंकि वृत्तिजन्य अपरोक्ष ज्ञानभी आत्मानुभव सुखरूप ही है—'जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै। ब्रह्म पियूष मधुर सीतल मन जो पै सो रस पावै॥ तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसिबासर धावै।'

आत्मानुभव सुख ही सुप्रकाश है। भाव यह कि ब्रह्माकार वृत्ति करके समाधिमें स्थित होनेसे अपरोक्ष ज्ञानकी अखण्ड वृत्ति होती है और उससे आत्मानुभव-सुख होता है, और जब आत्मानुभव सुख होता है, तब 'भवमूल भेद भ्रम नासा'।

करु०—भेद तीन प्रकारके हैं—१ सजातीय (जैसे कि मनुष्य सब एक हैं, ब्राह्मण ब्राह्मण सजातीय हैं इत्यादि, पशु संज्ञा एक है)। २ विजातीय (जैसे कि ब्राह्मण और क्षत्रिय भिन्न-भिन्न जाति)। ३ स्वगत (जैसे कि ब्राह्मण ब्राह्मणमें भेद, गऊ गऊमें भेद, इत्यादि। वर्णाश्रममें भेद)—इत्यादि भेद भवका मूल है। यह मिट गया। जीव यद्यपि अनेक हैं तथापि एकतत्व हैं, अभेद हैं, इनमें भेद नहीं। भेदबुद्धि मिट गई। पुनः, दूसरी प्रकारसे अर्थ करते हैं। शुष्काद्वैतवादी यह भेद कहते हैं कि देखिए तो जो बालबुद्धि प्राणी हैं वे अपनी आत्माको जीव माने हैं और ब्रह्मको ईश्वर, अपनेको सेवक ईश्वरको स्वामी, इत्यादि, यह भेद भ्रम है, यही भवका मूल है सो नाश हो गया। क्योंकि 'जीव ब्रह्म विषे उपाधि करके भेद है। उपाधि मिटने पर जीव ब्रह्म एक ही है। अथवा, भेद भ्रम, तैं मैं इत्यादिका, सो मिट गया।'

भवमूल भेद भ्रम—माया भवकी मूल है। भेद यह कि आत्मरूप भूलकर जीव होकर ईश्वरसे भेद मानकर भेदाभिमानी हो गया। भ्रम यह कि झूठमें सत्यकी प्रतीति कर ली।—['रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' 'रजत सीपमहँ भास जिमि...भ्रम न सकै कोउ टारि।']

वि० त्रि०—'भेद भ्रम' कहनेका भाव कि वस्तुतः ब्रह्मजीवमें अभेद है। भेदभाव केवल भ्रम है, यथा—'निज भ्रम ते संभव रविकर सागर अति भय उपजावै। अवगाहत वोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै॥ तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई। तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहि भाई॥'

भेद न होनेपरभी भेदका भ्रम होता है, यथा—'चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रकट जुगल ससि तेहि के भाये॥' और भेद-भ्रमसे स्वरूपका विस्मरण होता है, यथा—'माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रमते नाना दुख पायो॥ पायो जो दारुन दुसह दुख सुख लेस सपनेहु नहि मिल्यो। भय सूल सोक अनेक'। 'भवमूल' का भाव कि यह भेद भ्रम ही संसारका मूल है और जिसका मूल भ्रम है वह पदार्थ वस्तुतः नहीं होता, यथा—'जग नभबाटिका रही है फल फूलि रे। धुँआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे।' 'नासा' का भाव कि मूल नष्ट होते ही

वस्तु छिन्नमूल होकर गिर जाती है, पर जिसका मूल भ्रम है, उस वस्तुका तो भ्रमके नष्ट होने पर पता भी नहीं चलता। यथा—'तब हरि माया दूरि निवारी। नहि तहँ रमा न राजकुमारी'।

मा० म०—ब्रह्मरूपकी प्राप्तिसे जो सुख हुआ वही प्रकाश है जिसके होनेसे सजातीय इत्यादि, इष्टादिक, तथा भ्रम सब नाश हो गया।

शेषदत्तजी—भेदभ्रम त्रिधा है। स्वगत, सजातीय और विजातीय-यदुक्तं पंचदश्यां 'वृक्षस्य स्वगता भेदाः पत्रपुष्पफलादिभिः। वृक्षांतरे सजातीयोः विजातीयः शिलादितः।' द्रष्टा दृष्ट दृश्य, ध्याता ध्यान ध्येय, ब्रह्म जीव माया, साधक साधन साध्य, इत्यादि सब भेदभ्रम हैं। इनके नाशसे भव निर्मूल होता है—'तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै' इति विनये। इस चौपाईका सिद्धान्त केवल ध्येयाकार ही है।

सि. ति.—भवमूलक भेदका नाश हो जाता है, जिसे भ्रमसे मान लिया था कि मैं एवं जगत् ईश्वरसे भिन्न हैं, अर्थात् सब उसके शरीररूप नहीं है। नानात्व भ्रम ही भेद भ्रम है, वह नाश हो जाता है। भेद तीन प्रकारके जो पंचदशीमें कहे गए हैं, उनमेंसे सजातीय और विजातीय ये दोनों भेद भवमूलक हैं, इन्हींका नाश होता है। स्वगत भेद जो शरीर-शरीरी-सम्बंधका है, वह रहता है; किन्तु वह भवमूलक नहीं है; यथा—'निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ११२।', यह भेद अभेदवादी लोमशजीकी विजयपर उपादेय रूपमें कहा गया है।

पुनः सूर्य पूर्ण ज्ञानवान् माने गये हैं; यथा 'तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्। गीता ५।१६।' उनका भी ब्रह्मके साथ शरीर-शरीरी-भेद है; यथा 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमंतरोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। बृहदा० ३।७।९।'; इस श्रुतिमें सूर्यरूप जीवका प्रेरक एवं शरीरी ब्रह्म कहा गया है।

वि० टी०—'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा०।' अर्थात ऐसे आत्मज्ञानके अनुभवके सुखरूपी प्रकाशसे संसारके कारणस्वरूप भेद और भ्रम मिट जाते हैं। भाव यह कि विशेष ज्ञान होनेसे जीव ही ब्रह्म है, ऐसी जो अटल धारणा बँध जाती है उसीसे सुख मिलता है और इस असार संसारकी सत्यता विचारमात्र है, ऐसा स्पष्टरूपसे समझ पड़ता है, सो यों कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरः' अर्थात ब्रह्म सत्य है, जगत् झूठा है और जीव ब्रह्म एक ही है दूसरा नहीं। श्रीमत्शंकराचार्यजी शतश्लोकीमें कहते हैं—'आत्मानात्मप्रतीतिः प्रथममभिहिता सत्यमिथ्यात्वयोगात। द्वेधा ब्रह्म प्रतीतिर्निगमनिगदिता स्वानुभूत्योपपत्या। आद्यादेहानुबंधाद्भवति तदपरा सा च सर्वात्मकत्वात्। आदौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्मपश्चात् ॥' अर्थात पहलेही सत्य ज्ञान और मिथ्या ज्ञानद्वारा क्रमसे आत्मा और अनात्माकी प्रतीति कह चुके हैं। (अब और सुनो) वेदमें दो प्रकारकी ब्रह्मप्रतीति कही गई है, यथा एक तो स्वानुभवसे और दूसरी निश्चयात्मक प्रमाणसे। पहिली प्रतीति तो शरीरकी उपाधिसे होती है और दूसरी, ब्रह्मसर्वात्मक है, इस विचारसे होती है। पहिली प्रतीतिमें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव होता है, उसके पश्चात् 'सभी ब्रह्म है' ऐसी प्रतीति होती है।

पां०—'भेद भ्रम' अर्थात् भ्रमसे जो भेद जान पड़ता है। अपनेको ईश्वरसे भिन्न मानना भेदभ्रम है। यह संसारका मूल है।

प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटै अपारा ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रबल अविद्याका प्रबल परिवार मोहादि अपार तम मिट जाता है। ३।

नोट—१ (क) दीपकके प्रकाशसे अन्धकार नष्ट होता है। ज्ञानदीपकके प्रकाशसे मोहादिरूपी घोर अपार अंधकार नष्ट होता है। (ख) अविद्या प्रबल है, यथा—'अतिसय प्रबल देव तव माया।' प्राबल्य पूर्व दिखा आए हैं। उसका परिवारभी प्रबल है। यथा—'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनइ पारा।

७१ । ७ ।' परिवार और उसकी प्रबलता पूर्व कई स्थानोंमें दिखाई जा चुकी है कि 'मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ', 'सिवचतुरानन जाहि डेराहीं । ७१ । ८ ।', तब औरोंकी क्या चली ? परिवारका वर्णन 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही । ७० । ७ ।' से 'यह सब माया कर परिवारा । ७१ । ७ ।' तकमें वर्णित है । वहाँ मोहहीसे प्रारम्भ किया है और यहाँ भी 'मोह' को आदिमें कहकर वही सब पूर्वकथित वस्तुका निर्देश किया है । (ग) 'तम-अपारा' मोहादि परिवारकी गणना नहीं हो सकती, न उससे कोई पार पा सकता है, यथा—'प्रबल अमिति को बरनइ पारा' अतः 'तम अपारा' कहा । मोह आदिको तम कहा क्योंकि इस प्रसंगके प्रारंभमें उसे तम कह आए हैं, यथा—'जीव हृदय तम मोह बिसेषी । ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी । ११७ । ७ ।' वहाँ जो 'बिसेषी' कहा था उसका अर्थ यहाँ खोला—'अपारा' ।

बि० त्रि०—'मोह आदि तम अपारा मिटहिं ।' भाव कि अविद्या रात्रिमें मोहादि अन्धकार होता है, यथा—'महा मोह तम पुंज ।' आत्मानुभव-सुख-प्रकाशसे ही यह अपार अन्धकार मिटता है, यथा—'भयेउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं । ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं ।'

पं०—मोहादि अविद्याका परिवार रूपी तम मिट गया । तात्पर्य कि अविद्याका संस्कार मात्र रहा 'जिससे अपनेको आत्मा जानना' (अपनेको कभी कभी आत्मा जानने लगता है) ।

शेषदत्तजी—'प्रबल' कहकर पंचपर्वा अविद्या जनाया । मोहादि तमके मिटनेपर भी जीवत्वजनित कुछ मोह रह जाता है । यदि न रहे तो विज्ञानदीपक बुझ नहीं सकता । ऐसा समझना चाहिए कि जैसे दीपक जलनेपर घरका अन्धकार मिटकर दीपकके नीचे जा छिपता है, दीपक बुझनेपर फिर प्रकट हो जाता है वैसे ही यहाँ मोहका परिवार, मोहकी कार्यप्रबलता तो मिटी, पर मोहका कारणस्वरूप जो अतिसूक्ष्म है वह ज्योतिमूलमें बनी है । विज्ञानदीपकमें सोहमस्मिकी अखण्ड वृत्ति आत्मानुभवसुखरूपी प्रकाश है पर परमात्मानुभव सुखसे कुछ रहित है इसीसे बुझनेका भय है ।

करु०—अविद्याके चार गुण हैं । १ असत्य संसारमें सत्यकी बुद्धि । २ सुत दारा आदि दुःखरूप हैं उनको सुखरूप मानना । ३ पंचतत्व-रचित यह अशुचिमय शरीर है उसमें शुचिबुद्धि होना । और, ४ अनात्म जो देहादि उसमें आत्मबुद्धि करना ।

तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा । उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा ॥ ४ ॥

अर्थ—(आत्मानुभवसुखरूपी सुप्रकाश होनेपर मोहादिरूपी अपार तम जब मिटा) तब वही (विज्ञानरूपिणी पूर्वकथित) बुद्धि उजाला पाकर हृदयरूपी अपने घरमें बैठकर गाँठको छोड़ती है । अर्थात् सूक्ष्म भावसे जीवत्वका तथा संसारका स्मरण सर्वथा मिटा देनेका अवसर अब मिला, उसीको मिटाने लगती है । ४ ।

नोट—१ 'सोइ बुद्धि' कहनेका भाव कि जिसने पूर्व कई और काम किए हैं, जो ऊपर 'जोग अगिनि करि प्रगट तब०' से लेकर तीन दोहों और सोरठेमें कहे गए हैं, वही ग्रंथि छोड़नेका कार्य भी करती है ।

२—'पाइ उँजिआरा ।००' । पूर्व जब कहा कि 'जीव हृदय तम मोह बिसेषी' तब कहा कि 'ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी' । जब मोहतम मिटना कहा, यथा—'मोह आदि तम मिटै अपारा', तब 'पाइ उँजिआरा' कहा; इस तरह जनाया कि अब ग्रंथि देख पड़ने लगी जो पूर्व 'परइ न देखी' । ग्रंथि देख पड़ी तब बैठकर उसका खोलना कहा । यह सब क्रमसे कहा । आत्मानुभव सुख होते ही कल्पित ग्रन्थि छूट जाती है अतः 'पाइ उँजिआरा' कहकर 'ग्रंथि निरुआरा' कहा । यथा—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे । मण्डूकोपनिषद् । २ । ८ ।' अर्थात् उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेने पर इस जीवकी हृदयग्रंथि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं ।

३—(क) 'उरगृह' । बुद्धि चतुष्टय अंतःकरणमेंसे एक है, अतः उसका घर हृदय कहा । (ख)—'बैठि'

से जनाया कि अभीतक वह अपार तमके कारण उसके मिटानेके उपायोंमें व्याकुल फिर रही थी, उसे बैठने को भी न मिला था। अब बैठने पाई। (ग) ग्रन्थिका स्वरूप 'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। ११७।४।' में कहा गया है।

पं०—अविद्याका जो सूक्ष्म अंश रह गया है वही अब ग्रन्थि है। खोलनेका स्वरूप यह है कि 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयत्रिपुटी न रहे'।

करु०—जड़ मायामें अपनपौ रूपी ग्रन्थि तो छठवीं भूमिका द्वारा छूट गई पर अभी चित्तकी वृत्तिमें वाह्यान्तर देहादिक संसार-स्थूल सूक्ष्मके त्यागकी गन्ध कुछ सूक्ष्मतर है, (अर्थात् किंचित् सुध बनी है कि हमने यह सब त्याग कर लिया), यही ग्रंथि अभी छोड़नेको है। चित्तवृत्तिसे इस त्यागकी सुध पूर्णतया विस्मरण होना ग्रन्थिका खुलना है।—[रा० प्र०—'निरुवारा'—जो अनेक सूत एकसे (एकमें उलझे) हुए हैं उनको शिथिल करना जिसमें खुल जाय।]

वै०—ग्रंथि रस्सी आदिकी होती है, यहाँ वह क्या है? सत-रज-तमादि गुण रस्सी हैं। त्रिगुणमय जो कर्मोंकी वासना अनादिकालसे चली आती है, यही ग्रन्थि है। माया नर्तकी उसीसे जीवको बाँधे हुए बंदरकी तरह नचाती है। यथा भागवते पंचमें—'अनादिकाल कर्मवासना ग्रन्थितम-विद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्व-रजस्तमोमयमंतर्हृदयंगतः।' देहेन्द्रिय सुखकी वासनाका मिट जाना ग्रन्थिका छोड़ना है। बुद्धि इसी अन्तष्करण की सूक्ष्म-वासनाको मिटाती है।

वि० त्रि०—१ 'पाइ उँजियारा'। भाव यह कि उपर्युक्त सब कार्य अँधेरेमें हुए, केवल पहले थोड़ा बहुत उँजियाला अकाम-अग्निका दूध औटाने तक, और बाद उसके योगाग्निका, दीया जलने तक स्थूल कार्य करने योग्य था। उनसे मोहादि तम मिट नहीं सकते थे। २—'उर गृह बैठि०'। भाव कि पहले कभी अन्तर कभी वाह्य संप्रज्ञात समाधिमें लगी थी अब स्थित होकर बैठी। समाधिमें स्थिर होकर जड़-चेतनकी गाँठ खोलने लगी।

गाँठ तीन प्रकारसे पड़ी हुई है—(१) भ्रान्तिजन्य, (२) सहज, और (३) कर्मजन्य। अहंकार (कारण-शरीर) का जो कूटस्थके साथ तादात्म्य है सो भ्रान्तिजन्य है, चिच्छायासे जो तादात्म्य है सो सहज है और देहसे जो तादात्म्य है सो कर्मजन्य है। कर्मजन्य ग्रन्थि कर्मके नाशसे नष्ट होती है। कर्म तीन प्रकारका होता है—(१) जन्म-जन्मान्तरका कर्म-समूह जिसे संचित कहते हैं, (२) जिन्हें वर्तमान जन्ममें भोगना है उन्हें प्रारब्ध कहते हैं और, (३) जो वर्तमान जन्ममें करते हैं। वह आगामी कहलाता है। संचित कर्म ज्ञानीका नष्ट हो जाता है, आगामीसे उसका लेप ही नहीं होता, केवल प्रारब्ध शेष रह जाता है, वह जब तक शरीर है तबतक उसका भोग होगा ही। अतएव कर्मज ग्रन्थि बिना कर्मक्षयके नहीं छूटती। जबतक भ्रान्तिजन्य और कर्मजन्य वृत्ति रहती हैं तब तक ग्रन्थि नहीं छूट सकती, प्रतिबिंबके नाशसे नष्ट होती है। अतएव भ्रान्तिजन्य-ग्रंथिका सुलझाना ही परम पुरुषार्थ है।

शेषदत्तजी—ग्रंथि चतुर्धा है। स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम। इनमेंसे तीन तो ज्ञानकी षट् भूमिकाद्वारा छूट गईं। 'सात्त्विक श्रद्धा' से 'समधृति०' तक सुतवितकलत्रादिका त्यागरूपी स्थूल ग्रंथिका सुलझना जानिये, जिससे वर्तमान शरीर निर्विषय हो गया। 'बिमल बिराग सुखद सुपुनीता।०' में मनका निर्विषयी होना सूक्ष्म ग्रंथिका छूटना है। 'तब बिज्ञान रूपिनी' से चित्तका निर्विषयी होना सूक्ष्मतर ग्रंथिका सुलझना है। अब जीवत्व-त्यागका स्मरणरूप सूक्ष्मतम ग्रंथि रही उसका विस्मरण करनेमें लगना उस ग्रंथिका छोड़ना है। विस्मरण, यथा अष्टावक्रे—'क्वास्ति क्वचवानास्ति क्वास्तिचैकं क्वाद्वयं बहुनात्रकिमुक्तेन-किंचिन्नो तिष्ठते मम'।

नोट—करुणासिंधुजीने तथा अन्यभी प्राचीन टीकाकारोंने ज्ञान-दीपक प्रकरणमें सप्त भूमिकायें दिखाई हैं (किसीने इसको 'सप्तभूमिका' नाम दिया है और किसीने 'आत्माके सप्तप्रस्थान' यह नाम रक्खा

है)—जो इस प्रसंगमें यथा-स्थान लिखी गई। सप्तभूमिकायें कौन कौन हैं, इसमें मतभेद है। किसीने कोई नाम दिए हैं किसीने कोई। पर एक-एक भूमिका कहाँसे कहाँतकका प्रसंग है, इसमें सब एकमत हैं।

भूमिका का नाम	कहाँसे कहाँ तक	भूमिका का तत्त्व
१ सात्विक श्रद्धा। वा, शुभ इच्छा	'सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई' से 'निर्मल मन अहीर निज-दासा' तक।	सात्विक श्रद्धाको हृदयमें धारण कर सात्विक जप तप आदि श्रुतिविहित शुभ धर्माचरण करते करते सात्विक भाव उत्पन्न होगा। तब विषयोंसे वैराग्य कर मनको निर्मल और स्वाधीन करके विश्वासपूर्वक अहिंसामें प्रवृत्त हो। यहाँ जीवका धर्म प्राप्त हुआ। यह कार्य कामनायुक्त हुए।
२—परम धर्म। वा सुविचार	'परमधर्ममय पय दुहि भाई' से 'तोष मरुत तब छमा जुड़ावै' तक।	जीवका परम-धर्म कहा। मनके निर्मल और वशीभूत हो जाने पर अहिंसामें प्रवृत्ति हो जायगी जिससे चित्तमें निष्कामता उत्पन्न होगी। इस भूमिकामें आत्मतत्वकी प्राप्तिकी मान इत्यादि रूपी तृष्णता जाती रही। अहिंसा, निष्कामता, संतोष और क्षमाकी प्राप्ति हुई।
३—स्वरूपस्थिति। वा समधृति। वा, तनमानसा	'धृति सम जावन देइ जमावै।'	निष्काम होनेसे मनमें संतोष होगा, संतोष होनेसे समता और धैर्य होगा। इस भूमिकामें विश्वासरूपी पात्रका अवलंबन किए हुए ब्रह्मचिन्तनमें जीव अतिशय दृढ़ हुआ। निष्कामतापूर्वक प्राणिमात्रमें समता रखते हुए ब्रह्मचिन्तनमें एकमात्र दृष्टि लगाये असत् संसारका त्याग करे।
४—'बिमल वैराग्य।' वा, 'सत्वापत्ति	'मुदिता मथै बिचार मथानी' से 'बिमल बिराग सुभग सुपुनीता' तक। (मयूख)—'काढि लेइ'	मुदिता, विचार, दम, सत्य सुवाणीसे विमल सुपुनीत वैराग्य की प्राप्ति हुई। जिससे वह अब केवल ब्रह्महीकी ओर तथा अखिल भुवनको अपनेमें देखता है।
५—स्वस्वरूपज्ञान। वा, असंशक्ति	'जोग अगिनि करि प्रगट तब करम सुभासुभ लाइ।००जरि जाइ'	आत्माका परमात्मासे योग करनेसे शुभाशुभ कर्म नष्ट हुए, विमल वैराग्यमें जो किंचित् ममता रूपी छाँछ था सो जल गया, अब शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति हुई। चौथे प्रस्थानमें जो कुछ शरीर और मनका अध्यास सूक्ष्म वा स्थूल रह गया था, उसका इस पाँचवें प्रस्थानमें नाश हो गया। अब ब्रह्मके शुद्ध रूपका ज्ञान प्राप्त हुआ। ब्रह्मरूप धारण करनेवाली बुद्धि प्राप्त हुई।
६—विज्ञान। वा, पदार्थाभावना।	'तब बिज्ञान रूपिनी बुद्धि बिसद०' से 'जरहिं मदादिक सलभ सब' तक	इसमें ब्रह्मजीवकी पृथक् वाच्यता दूर होकर एकताका एकरस अनुभव होकर उसपर शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान शोभित होनेपर तीनों अवस्थाओं और गुणोंसे रहित होकर जीव शुद्ध तुरीयावस्थाको प्राप्त हुआ।
७ सोहमस्मि परम विज्ञान। वा, तुरीया।	'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा'से 'मोह आदि तम मिटइ अपारा'तक। वा, 'तब यह जीव कृतारथ होई' तक	अब कैवल्यकी ड्योढ़ी पर पहुँच गया, उसकी प्राप्ति समीप हो गई।

छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब † यह जीव कृतारथ होई ॥ ५ ॥

अर्थ—यदि वह (विज्ञानरूपिणी बुद्धि) गाँठ खोलने पावे तो यह जीव कृतार्थ हो जाय। ५।

नोट—१ (क) 'जौं' से ग्रन्थि छोड़ने पा सकनेमें संदेह जनाया। क्यों संदेह है ?, यह आगेकी अर्धालीमें कहते हैं कि छोड़ते हुए 'विघ्न अनेक करै तब माया'। इत्यादि। (ख) 'तौ कृतारथ होई' का भाव कि ग्रंथि छोड़ते समय विघ्न न हों और गाँठ छूट जाय तो कृतार्थ हो जाय। अर्थात् जो जीवका कृत्य (कर्तव्य) था वह कार्य पूर्ण हो जाय, फिर कुछ करना न रह जाय। नहीं तो कृतार्थ न होगा। (ग) 'यह जीव' अर्थात् जो संसारी हो गया है, जिसका जड़मायासे गठबंधन हो गया है।

वि० त्रि०—'कृतारथ होई'। अहंकारके साथ तादात्म्यकर अपने स्वरूपको विस्मरण करके अनादिकालसे जीव निद्रित पड़ा हुआ संसारका स्वप्न जन्ममरण, सुखदुःख आदिका अनुभव कर रहा है। जिस प्रकार कोई राजा स्वप्नमें अपने कारागारमें बद्ध होनेका अनुभव कर रहा हो। अतः निर्विघ्न असंप्रज्ञात समाधिके सिद्ध होनेसे, वह भ्रान्तिजन्य ग्रंथि नष्ट हो जाती है एवं वह निद्रासे जाग पड़ता है। निद्रासे जाग जाना ही कृतकार्य होना है। फिर तो इस कारागारकी एक ईंटभी खोजनेसे नहीं मिलती। स्वराज्यसुख तो उसका कहीं गया ही नहीं था, प्राप्त ही था, केवल निद्रादोषसे अप्राप्तसा हो रहा था, सो प्राप्त हो जाता है। निदान, सहज स्वरूपकी प्राप्तिसे वह कृतार्थ हो जाता है। यथा—'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'।

पं० श्रीकान्तशरण—'कृतारथ होई'—जो जीवका कृत्य है वह पूरा हो जाय। फिर शेष आयुको जीवन्मुक्त होकर बितावे। यथा—'ऋषि राज राजा आजु जनक समान को।...गाँठि बिनु गुनकी कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को। गी० १। ८६।', 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। गीता। ३। २०।' (अर्थात् श्रीजनकादि आसक्तिरहित कर्मके आचरणसे ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए), 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः। भा० १। ७। १०।' (अर्थात् जो लोग ज्ञानी हैं, सदा आत्मामें ही रमण करते हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गई है, वे भी भगवान्की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं); इसमें ग्रन्थि छूटनेपर भी भक्ति करना कहा गया है। कैवल्य ज्ञानीका कालक्षेप, यथा 'देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षित एव सासुः तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तु। भा०। ११। १३। ३७।' अर्थात् प्रारब्धवश देह भी तबतक स्वारंभक कर्मकी प्रतीक्षा करते हुए रहती है, अर्थात् छूटती नहीं। परन्तु समाधि योगमें आरूढ़ पुरुष प्रपंच सहित भी उसे नहीं देखता, जैसे जागा हुआ फिर निद्राका अनुभव नहीं करता।

वि० टी०—तब जीव सफल-मनोरथ होवे, इसका भाव यह कि सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा इस कल्पित गाँठको दूर कर देनेसे उसी समय उसकी समाधि लग जाती है और यदि इसी समय शरीर छोड़ दिया तो मोक्ष पा जाता है। और यदि शरीर न छूटा तो जीवन्मुक्त होकर शुभाशुभ कर्मोंमें अलिप्त रहता हुआ समय समयपर समाधि लगाकर साक्षात्कारके परमानन्दको प्राप्त होता है।

शेषदत्तजी—तौ अर्थात् जीवत्वत्यागस्मरणका निःशेष विस्मरण होनेपर। 'कृतारथ होई' अर्थात् जिसके लिए सप्तभूमिकाओंमें परिश्रम किया है वह हो जाय। भाव कि परात्परब्रह्मकी प्राप्ति हो तद्रूप हो जाय।

करु०—यह झीनी ग्रन्थि छूटनेपर अखण्ड निर्विकल्प समाधि हुई, यदि इस दशामें शरीर छूट गया तो यह जीव कृतार्थ हो गया। जब तक शरीर बना है तबतक मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आत्मामें लय हो जाते हैं क्योंकि ये चतुष्टय अन्तःकरण बुद्धिकी किरणें हैं, इन्हीं चारके द्वारा जीव शुभाशुभ विषयका भोक्ता है। जब जीवको अपने स्वस्वरूपका ज्ञान हुआ तब इन चारोंसे शुभाशुभ विषयका त्याग हुआ, जिससे ये चारों शुद्ध सात्विकरूप होकर आत्मामें लय होकर आत्मारूप ही हो जाते हैं। आत्मा प्रकाशी

† 'तौ'—(का०)।

है और ये चारों किरणरूप प्रकाश हैं; जैसे सूर्य जब अस्ताचलको जाते हैं तब किरणेंभी उनके साथ ही रहती हैं। यहाँतक सप्तभूमिकायें हुईं।

वै०—१ जिस समय परब्रह्ममें अखण्ड वृत्ति लगी है उसी समय यदि आसन लगाकर ब्रह्माण्डके ब्रह्मरंध्रद्वारा प्राण निकाल दे तो यह जीव कृतार्थ हो जाय, मुक्त हो जाय, मायाबन्धनसे छूट जाय। २—☞ जीवब्रह्मकी एकता 'सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखंडा' जो तुरीयावस्था है यही ज्ञानकी सातवीं भूमिका है। ३—यहाँतक ज्ञान साधनकी कठिनता दिखाई, आगे विघ्न दिखाते हैं।

सि. ति.—यहाँका कैवल्य ज्ञान बहुत अंशोंमें योग दर्शनसे मिलता है। यथा 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यम्। स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। यो. सू. ४। ३४।' अर्थात् पुरुषार्थ शून्य हो, बुद्धिकी वृत्तियोंका प्रतिलोम होकर आत्मा और प्रकृतिका यथार्थ ज्ञान कराकरके बुद्धिको स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य मुक्ति है। यह योगदर्शनके मोक्षपादका अन्तिम सूत्र है। यहाँ छठी भूमिका तक गुणोंका प्रतिप्रसव कहा गया। पुनः जो आगे मायाकी प्रेरणासे ऋद्धियों और सिद्धियोंके विघ्न कहे गये हैं, वे भी योगदर्शनके ही ज्ञान-साधनमें होते हैं और जो आगे ग्रन्थि छूटने पर कैवल्यपदप्राप्ति कही गई है यही स्वरूप प्रतिष्ठा है। इसे ही निर्वाण पद भी कहते हैं।

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया॥ ६॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥ ७॥

अर्थ—हे पक्षिराज! ग्रन्थिको छोड़ते हुए जानकर तब माया अनेक विघ्न करती है। ६। हे भाई! वह बहुत ऋद्धियाँ सिद्धियाँ भेजती है जो आकर बुद्धिको लोभ दिखाती हैं। ७।

नोट—१ 'छोरत जानि' अर्थात् अब छुड़ा लेनेमें देर नहीं है। २—सिद्धियोंके नामादि बहुत ठौर आ चुके हैं।

☞ 'छोरत ग्रंथि' में विघ्न करना कहा, इससे तो यह जान पड़ा कि इसके पूर्व विघ्न नहीं करती थी? इसका समाधान यह है कि पूर्व तो जीव उसके वशीभूत ही था, जो नाच वह नचाती थी वही जीव नाचता था, यथा—'जेहिं बहु बार नचावा मोही। ५९। ६।' तब वह नाचरूपी विघ्न उसे विघ्न न जान पड़ते थे। नर्तकी मायाको वह रानी बनाये बैठा था, अब उसको निकाल दिया है; अतः अब यह देखकर कि यह मेरे हाथसे जाता है वह अनेक विघ्न करती है जिसमें जाने न पावे। पहले मायाविवश होनेसे जो विषय उसे विघ्न न समझ पड़ते थे वे अब विघ्न जान पड़ते हैं। अतएव विघ्न करना कहा। जैसे भारत परतन्त्र राज्यसे स्वतन्त्र होनेका प्रयत्न कर रहा था, यह समझकर मायारूपी 'ब्रिटिशराज्य' अनेक प्रकारसे विघ्न करता था, उसे स्वतन्त्र होने देना नहीं चाहता था।

वि. त्रि.—१ 'खगराया' का भाव कि आप राजा हैं, जानते हैं कि स्वतन्त्रता चाहनेवालोंका मार्ग कंटकाकीर्ण होता है। २—'विघ्न अनेक करै०'। दुष्टोंका यह स्वभाव ही है कि वे दूसरेका भला नहीं देख सकते। आत्मानुभव प्रकाशसे मायाका दिव्यरूप दिखाई पड़ता है। इसके पहले तो इसका परिच्छिन्न स्थूल-रूपमात्र दिखायी पड़ता था। इस रूपकी ओर ध्यान न देकर असंप्रज्ञातमें तन्मय हो जाना असम्भव हो उठता है। यथा—'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जेहि बस जीव परा भवकूपा'। ३—'तब' अर्थात् जब वह देख लेती है कि मोहादिका किया कुछ न हुआ, दीपक जल गया, अब गाँठ छूट रही है।

नोट—२ 'प्रेरइ बहु भाई' से जनाया कि उसे ऋद्धिसिद्धिकी चाह नहीं, वे स्वयं मायाकी प्रेरणासे इसके पास आती हैं। इसीकी पुष्टि 'आई' पदसे होती है।

३—'लोभ दिखावहि' अर्थात् प्रत्येक अपना सामर्थ्य, बल, ऐश्वर्य दिखाती है कि हमें अपनानेसे तुमको यह अलभ्य लाभ प्राप्त होगा।

'लोभ दिखावहिं'। सिद्धियोंमें बड़ी शक्तियाँ हैं यह श्रीहनुमान्‌जीके प्रसंगमें सुंदरकाण्डमें दिखा चुके हैं, वह शक्ति देनेका लोभ दिखाती हैं। बहुधा संत इन सिद्धियोंमें फँसकर करामात दिखलाने लग जाते हैं जिससे ज्ञानभ्रष्ट होकर फिर उनका पतन हो जाता है। इसीसे भगवान्‌ने कहा है कि भक्त इनमें न पड़े।

करु०—लोभ दिखाती हैं। इस तरह कि जब ऋद्धिसिद्धि बुद्धिके समीप प्राप्त हुईं तब मृत्तिका और मृत्तिकाके पात्र इत्यादिक समोल (सो) अमोल देख पड़ते हैं तब चित्तकी वृत्ति समाधिसे छूट जाती है क्योंकि जबतक देह है तबतक आत्मा और शरीरका सम्बन्ध नहीं भिन्न हो सकता। पुनः, सिद्धियों द्वारा स्वर्गके चरित्र देख पड़ने लगते हैं, थल, पर्वत, जल आदिमेंके सम्पूर्ण चरित्र दीखने लगते हैं, शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जल, अग्नि आदिमें प्रवेश कर जावें। वे बुद्धिको लुभाती हैं कि क्या समाधिमें पड़े हो, देखो हम तुमको ऐसी शक्ति देती हैं, सुख लूटो इत्यादि।

वै०—छोड़ने न पावे, अतः उपाय करती है कि वासना बढ़े।

वि० त्रि०—'भाई' का भाव कि हम लोग सब बराबर हैं, क्या राजा क्या रंक, क्या पण्डित क्या मूढ़, माया किसीको नहीं छोड़ती। 'लोभ दिखावै आई' मानों बुद्धिसे कहती है कि क्या व्यर्थ काममें लग रही हो (यह समा है), ऋद्धि सिद्धि जो चाहो मैं देनेको तैयार हूँ (यह दान है), जिसके हितके लिये तुम सब करती हो, वह मुक्त होते ही तुम्हें भी त्याग देगा (यह भेद है)।

कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥ ८॥

शब्दार्थ—कलबल, कल=(सं० कला=विद्या) युक्ति, ढंग, दाँवपेंच।

अर्थ—कलबल और छल करके पास जाती हैं और अंचलकी वायुसे दीपकको बुझा देती हैं।८।

नोट—माया, ऋद्धिसिद्धि, ये सब स्त्रीलिंग शब्द हैं। स्त्रियाँ अंचलसे दीपक बुझाती हैं, यह रीति है। अतः इनके सम्बन्धसे 'अंचल बात' से बुझाना कहा। अँचलेकी वायु दूर तक नहीं जाती, जबतक दीपकके पास स्त्री न जाय तबतक वह अपने आँचरसे उसे बुझा नहीं सकती। अतः 'जाहिं समीपा' कहा। दीपक एक स्थान पर रहता है, वह स्वयं दूसरी जगह चलकर नहीं जा सकता; दूसरे दीपकको पवनकी इच्छा नहीं, न वह पवनका या बुझानेवालेका संग चाहे। इसी तरह ज्ञानदीपक हृदयमें स्थित है; बुद्धिने उसे वहाँ जलाकर रख दिया है और काममें लगी है, मायाके समीप जानेसे इनकी स्वार्थहानि है अतः ये उसके पास क्यों जाने लगे पर मायाको अपना प्रयोजन सिद्ध करना है अतः वह किसी न किसी प्रकार वहाँ जाती है। इससे 'जाहिं' कहा। किसीके पास जानेके लिए दो तरीक़े (वसीले) हैं—एक तो यह कि वह निमन्त्रण करे या अपनेसे प्रेम रखता हो तब तो जानेमें कोई कठिनता नहीं। दूसरे, यदि जहाँ जाता है वह अपना शत्रु है अथवा उसको अपना उसके समीप जाना अरुचिकर होगा जैसे कि चोर, डाकू आदिका पराये घरमें जाना; तब कलबल छलसे पहुँच हो सकती है, अन्यथा नहीं। माया स्त्री ज्ञानदीपक पुरुषके पास चोरीसे पहुँचना चाहती है। क्योंकि विज्ञानरूपिणी बुद्धिको तथा ज्ञानको इससे प्रेम तो है नहीं। पुनः ऊपर बुद्धिको लोभ दिखाकर मोहित करनेका उपाय कह चुके, उस उपायसे बुद्धि मोहित न हो सकी; तब उसके लुभानेका भरोसा छोड़कर जैसे बने तैसे दीपकके पास पहुँचनेका ही उपाय करने लगी। अतः कलबल-छलसे वहाँ पहुँचना कहा। 'अंचल बात', यह विषय वा विषयका लोभ है, जैसा आगे कवि स्वयं कहते हैं—'आवत देखहिं विषय बयारी।', 'लोभ बात नहिं ताहि बुझावा'।

करु०—ऋद्धिसिद्धिके गुण 'कल' अर्थात् सुंदर हैं कि हृदयमें पहुँचे कि उनकी चाह उठी तब मायाको बल हुआ। झूठी वस्तुको सच्ची कर दिखाना यह छल है। अन्तःकरणका उसे सच्चा मानकर अपने सुखकी इच्छा करना, यही अंचल है। उस असत्य सुखमें सुख मान लेना पवन है।—[रा० प्र० 'कल'=१६ वा ६४ कलायें। बल मोड़ पेंच। छल धोखा।]

पं०—सर्वशक्तिमत्ताका अभिमान आना अंचलवात है, अभ्यासका शिथिल हो जाना दीपकका बुझाना है।

वि० त्रि०—१ 'कल बल छल करि।' कला (उपाय) से पहले काम लेती है, साम, दान, भेदका प्रयोग करती है। जब इनसे काम नहीं चलता, तब बल अर्थात् दण्डका प्रयोग करती है। यहाँतक माया-रानीकी नीति है, यथा—'साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥ नीति धर्म के चरन सुहाये।' जब नीतिसे कार्यसिद्धि नहीं देखती, तब अनीतिसे भी काम लेती है। छल करती है।

२ 'अंचल बात'। बातका उपमेय विषय है। अंचलके विषयसे तात्पर्य मायारूपी नारीसे है, यथा—'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि। ३। ४३।', 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। १। १११।', 'हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला। १। १३१। ८।' मोह आदि तो अविद्यारात्रिके तम हैं, पर नारी 'निबिड़ रजनी अँधियारी' है। ३—'बुझावै दीपा'। बुद्धि जहाँ तनिक भी मायाके भुलावेमें आयी कि उसने अवसर पाकर ज्ञानदीप बुझाया। विज्ञानरूपिणी बुद्धिका संसर्ग जहाँ मायासे हुआ कि वह अपने स्वरूपसे च्युत हुई, और ऐसा होते ही सारी इमारत धराशायी हो जाती है। [स्त्री बिषयपर वृत्ति जाते ही ब्रह्मात्मक वृत्ति नहीं रह जाती। क्योंकि ये दोनों वृत्तियाँ एक दूसरेके विरुद्ध हैं। यथा 'देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।' (सि. ति.)]

वै—ऋद्धि-सिद्धि देख जब बुद्धि लालचवश हुई तब निकट जाना सुगम हुआ, इत्यादि। 'कल बल' अर्थात् सुंदर बल है जिसके, वही माया छल करके सिद्धिमें अपना वेष छिपाकर मुमुक्षुकी बुद्धिके समीप जाती है और दीपको बुझा देती है। अर्थात् जैसे ही बुद्धिको ऋद्धि-सिद्धिकी चाहमें पड़ते देखा वैसेही अविद्याने निकट पहुँचकर अंचलसे दीपक बुझा दिया। भाव कि मान-बड़ाईकी वासना बढ़ा दी जिससे आत्मरूपकी सुध भूल गई, बुद्धि देहव्यवहारमें लग गई। यहाँ सिद्धाई शक्ति अधिक प्राप्त कर देना अंचलका पवन है और मान बड़ाईमें वासना बढ़ जाना दीपकका बुझना है।

होइ बुद्धि जौं परम सयानी *। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥ ९॥
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥ १०॥

अर्थ—यदि बुद्धि परम सयानी हुई तो वह अनहित समझकर उनकी ओर दृष्टि नहीं करती। ९। यदि उस (मायाकृत) विघ्नसे बुद्धिको बाधा न हुई तब फिर देवता लोग उपाधि करते हैं। १०।

नोट १—'होइ बुद्धि जौं परम सयानी'। (क) 'जौं' संदिग्ध वचन देकर जनाया कि प्रायः बुद्धि सयानी तो होती है पर 'परम सयानी' नहीं होती, अतः परमसयानी होनेमें संदेह है। (ख) 'परम सयानी' का भाव कि परम सयाना जो होगा वही अपने अर्थ-साधनको न भूल दूसरेके लुभानेमें नहीं आ सकता। जैसे कि भुशुण्डिजीको अनेक लोभ दिखाने परभी जब वे न मोहित हुए तब प्रभुने उनको 'सहज सयाना' विशेषण दिया है, यथा—'सुनु बायस तैं सहज सयाना। ८५। १।' 'परम सयाना' का भाव 'सहज सयाना' में है। इससे जनाया कि 'केवल सयानी' बुद्धिको चूक जानेका भय है 'परम सयानी' अंचल वातसे रोकनेको समर्थ हुई। पर यहभी पवनके झकोरेसे न बचा सकेगी।

वि० त्रि०—'परम सयानी' का भाव कि विज्ञानरूपिणी बुद्धि तो सयानी होती है। जो अपनी लाभहानि देख सके सो सयानी है, यथा—'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥ तब अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥ ५। ६।' जो परम सयानी अर्थात् धीरत्वसम्पन्ना होगी वह अपने स्वामी पुरुषका लाभ देखेगी। यथा—'निज घर की घर बात बिलोकहु हो तुम्ह परम सयानी। वि० ५।'

नोट—२ 'तिन्ह तन चितव न अनहित जानी'। (क)—'आँखें चार होनेसे मुरव्वत आही जाती

* सयाने, जाने—(का०)। परम सयाने पुरुषके आधारपर बुद्धि जागती रहे।

है', यह कहावत प्रसिद्ध है। रूप नेत्रका विषय है, दृष्टि रूपपर गई तो उसपर मोहित होनेका भय होता है, यथा—'सोइ हरिमाया सब गुनखानी । १ । १३० । ५ ।'...देखि रूप मुनि बिरति बिसारी । बड़ी बार लगि रहे निहारी । १ । १३१ । १ ।' बस फिर क्या, गाँठ का छोड़ना जाता रहा 'माया बिबस भये मुनि मूढ़ा । १।१३३।३ ।' जब देखेंगेही नहीं तो वह आपही हार कर चली जायगी सब टंटा मिट जायगा । अतः 'चितव न' कहा ।

वि० त्रि०—'तेहि तन चितव न' । भाव कि ग्रंथि सुलझानेमें लगी रहे । जब तक बुद्धि स्थिर है तब तक मायाकीभी सामर्थ्य नहीं कि उसके निकट जा सके, दीप बुझाना तो दूरकी बात है, यथा—'परमारथ स्वारथ सुख सारे । भरत न सपनेहु मनहु निहारे' । 'अनहित जानी'—अर्थात् बात हितकी सी करती है, पर है वह अहित-कारिणी । वह स्वामीका अकल्याण चाहती है, ऐसा समझकर उसकी ओर न देखे । [सदसद्विवेकिनी बुद्धि आत्माकी पतिव्रता स्त्री के समान है; यथा 'व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनंदन । बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् । गीता १२ । ४१ ।' (सि. ति.)]

नोट—३ 'जौं नहिं बाधी' का भाव कि बाधित होनेमें संदेह नहीं होता, न बाधित होनेमें संदेह है, क्योंकि मायासे बचना परम कठिन है । 'बाधी', यथा—'सुमिरत हरिहि साप गति बाधी' । 'तौ बहोरि'—यहाँ 'बहोरि' का अर्थ है तत्पश्चात । अथवा, 'बहोरि' कहकर जनाया कि यहभी मायाका ही कर्त्तब है, वही सुरोंसे उपाधि करवाती है क्योंकि वे मायाके अधीन हैं, यथा—'यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुराः', मायावश वे जीवको मोक्ष प्राप्त होनेमें बाधक होते हैं— बा० ८ (३) देखिए । क्योंकि वे समझते हैं कि इसके मुक्त हो जानेसे जो भोग हमें मिलता है वह बंद हो जायगा ।

पं०—सुरोंको प्रेरनेका हेतु यह कि पहरेदार (पाहरू) यदि चोरोंसे मिल जाय तब पदार्थ कैसे बच सकता है ।

वि० त्रि०-(क) 'तेहि बुद्धि' अर्थात् परमसयानी बुद्धिको, जिसने मायाकी ओर हजार चेष्टा करने पर भी ध्यान न दिया । (ख) 'जौं बिघ्न नहिं बाधी' । यदि मायाकृत प्रलोभन आदिने बाधा नहीं की और माया समीप न जा सकी एवं उसके अंचल-बातकी गति ज्ञानदीपक तक न हो सकी । (विज्ञान रूपिणी बुद्धि द्वारा असंप्रज्ञात समाधिमें कोई अन्य वृत्ति नहीं उठने पाती, इससे विषयरूप वायुका प्रचार वहाँ तक नहीं हो सकता) । (ग) 'तौ बहोरि' । तब माया देवताओंको प्रेरणा करती है कि वे बलपूर्वक इन्द्रिद्वारको खोल दें, जिसमें विषय-बयारि भीतर प्रवेश करके अन्य वृत्तियोंको खड़ी कर दे । क्योंकि देवताभी मायाके वश हैं, यथा—'देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे । बि० १०१ ।' 'सुर करहिं उपाधी' क्योंकि जीव देवताओंके पशु हैं, इस लोक और परलोक दोनोंमें वे देवताओं द्वारा उपभुक्त होते हैं, यथा—'आये देव सदा स्वारथी । बचन कहैं जनु परमारथी' । (यथा 'अथ योऽन्यां देवतामुपासतेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव ँ स देवानाम् । यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः । बृ० अ० १ ब्रा० ४ मंत्र १० ।' अर्थात् जो अन्य देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है वह नहीं जानता, जैसे पशु होता है वैसेही देवताओंका पशु है । जैसे लोकमें बहुतसे पशु मनुष्यका पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओंका पालन करता है । एक पशुका ही हरण किये जानेपर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतोंका हरण होनेपर तो कहना ही क्या है ? इस लिये देवताओंको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य (ब्रह्मात्मतत्वको) जाने]

शेषदत्तजी, बि० टी०—'सुर करहिं उपाधी' का भाव कि इन्द्रियोंके सुख अलग-अलग बुद्धिको अपनी ओर खींचते हैं । इन्द्रियोंकी निरसतासे उनके देवता निराहार हो दुःखी हुये हैं, अतः उपद्रव करते हैं ।

वै०—उपाधि करते हैं अर्थात् धर्मसंकटमें डाल देते हैं जैसे कि कोई महात्मा साधु गुरु आ गए और कथा प्रसंगादिमें कुछ लौकिक वार्ता करने लगे, या कर्म सिद्धान्त करने लगे अथवा भगवत् उत्सव पारायणादि

का संयोग पड़ा या रामकृष्णादिकी लीला होती हुई तो उसमें धर्म-संकट डालकर ले गए; इस तरह कि नेत्रके देवता कहते हैं कि ईश्वरलीला देखो, कानके देवता कहते हैं कि हरियशपारायण सुनो, पदके देवता कहते हैं कि उत्तम पर्वपर भगवत्‌की पुरी तीर्थोंको चलो, इत्यादि, धर्मसंकट डालकर ले गए और वहाँ गए तो स्त्रियोंका मेला देख पड़ा।

इंद्रीद्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥ ११ ॥

अर्थ—इंद्रियद्वार (इस उरगृहके) अनेक झरोखे हैं। वहाँ वहाँ (प्रत्येक झरोखेपर) इंद्रियदेवता थाना किये (अड्डा जमाकर) बैठे हैं ।११।

नोट—१ इन्द्रिय=वह शक्ति जिससे बाहरी विषयोंका ज्ञान प्राप्त होता है वा बाहरी वस्तुओंके भिन्न-भिन्न गुणोंका भिन्न-भिन्न रूपोंमें अनुभव होता है। इन्द्रियद्वार=शरीरके वे अवयव जिनके द्वारा यह शक्ति (इन्द्रिय) विषयोंका ज्ञान प्राप्त करती है। सांख्यशास्त्रने इन कर्म्म करनेवाले अवयवोंको भी इन्द्रिय मानकर इनके दो विभाग किए हैं—ज्ञानेन्द्रिय जिनसे केवल विषयोंके गुणोंका अनुभव होता है, दूसरी कर्मेन्द्रिय जिनके द्वारा विविध कर्म किये जाते हैं। और इनके पृथक् पृथक् देवता कल्पित किए हैं। इनके विषय भी पृथक् पृथक् हैं (भा० २। ५। ३०-३१)।

इन्द्रिय	विषय	देवता	इन्द्रिय	विषय	देवता
१ श्रवण	शब्द	दिशा	६ वाणी	भाषण	अग्नि
२ त्वचा	स्पर्श	वायु	७ पैर	गमन	यज्ञविष्णु
३ चक्षु	रूप	प्रचेता, सूर्य	८ हाथ	ग्रहण	इन्द्र
४ जिह्वा	रस	वरुण	९ गुदा	मलत्याग	मित्र, यम
५ नासिका	गन्ध	अश्विनीकुमार	१० उपस्थ	मूत्रत्याग	प्रजापति

ज्ञानेन्द्रिय पाँच हैं और पाँचही कर्मेन्द्रिय हैं और इनमेंसेभी शरीरमें कान, नेत्र, नथुने, हाथ और पैर दो दो हैं, त्वचामें अगणित छिद्र हैं। अतएव 'नाना' विशेषण दिया।

२—'करि थाना'। थाना = अड्डा, रक्षा वा पहराके लिये चौकी, जहाँसे उस केन्द्रकी रक्षा हो सके जिसमें वह थाना है। जहाँ थाना बैठता है वहाँ उस हलके भरमें उसका अधिकार होता है। अतः 'थाना करके बैठना' कहकर इनपर उन देवताओंका अधिकार जनाया।

वि. त्रि.—'बैठे करि थाना' का भाव कि वहाँसे उनको भोग मिलता था। वृत्तियोंके न उठनेसे भोग मिलना बंद हो गया है, अतः वे वृत्तियोंके उठानेके लिये अवश्य प्रयत्न करेंगे।

करु०—शरीर एक कोट है। कोटके द्वारोंपर रक्षक होते हैं। शरीरमें दश इन्द्रिय दश दरवाजे हैं। एकएक द्वारपर एकएक देवताने थाना बनाया है, सुभट रक्षक हैं। और, रोमरोमप्रति जो छिद्र हैं वही झरोखे हैं। झरोखोंपर देवता विराजमान हैं। तब 'झीनी कामना' रूपी वैरीने आकर इनको मिला लिया। मायाकी बसीठी विषयरूप वासना,बयारिको आते देख देवतोंने द्वैतरूप किवांड़े हठसे खोल दिए।

आवत देखहिं बिषय बयारी। ते * हठि देहिं कपाट उघारी ॥ १२ ॥

अर्थ—वे देवता (जब) विषयरूपी हवाका झोंका आते देखते हैं तब हठपूर्वक किंवाड़े खोल देते हैं। १२।

नोट—'विषय बयारी'। बयारि स्त्रीवाचक है और बात पुरुषवाचक अर्थात् पुल्लिंग है। यथा 'देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात। ३। ३७।' पहले पुरुषद्वारा दीपक बुझाना चाहा पर उसकी वहाँतक पहुँचभी न हुई तब स्त्रीद्वारा काम लेने लगी। इसी प्रकार पहले मोहादि पुरुषोंका नाश होनेपर ऋद्धि-

* तेहि—रा० प०।

सिद्धि आदि स्त्रियोंसे काम लिया था। अंचलवात दीपकतक न पहुँच सका, अतः अब आँधी सरीखी हवा चलाई, पर दीपक उरगृहमें है, सब इन्द्रियद्वारोंमें किंवाड़ लगे हैं, बाहरकी विषय-बयारि वहाँ कैसे पहुँचे?' इसके लिए देवताओंकी सहायता ली कि वे किंवाड़े खोल दें, बस फिर तो एकबारगी सब तरफसे झोंका पहुँचा कि दीपक बुझा, बुद्धि किस किसको रोकेगी।

कपाटका खोलना यह है कि नयन-इन्द्रियके सामने रूप विषय, श्रवणके सम्मुख शब्द, रसनाके समीप रसीले भोज्य पदार्थ, इत्यादि प्रत्येक इन्द्रियके सामने उसके विषयको लाकर खड़ा कर देते हैं। 'हठि' से जनाया कि बुद्धिका कहना नहीं मानते-सुनते क्योंकि स्वार्थपरायण हैं, यथा—'तौ मैं जाइ बैर हठि करिहउँ'। रावणने अपना स्वार्थ जान किसीकी न सुनी।

वि० त्रि०—बुद्धि, आसन और मुद्राद्वारा इन्द्रियद्वार-झरोखोंको बन्द करके उरगृहमें बैठी थी, ये हठ करके झरोखेका किवाड़ खोल देते हैं। बुद्धि मना करती ही रह जाती है, उसकी एक नहीं सुनते। ☞ भाव यह कि साधकको मधुमती भूमिकाकी प्राप्ति होती है, और वह सिद्धियोंमें आसक्त हो जाती है।

पं०—ऋद्धिसिद्धिसे विषयरसका बल इससे अधिक कहा कि यहाँ देवता संग रहते हैं जो अन्तरंग शत्रु हैं। इन्होंने विश्वामित्रादिको मोह लिया।

करु०, शेषदत्तजी—जैसे कोई राजा अपने थानापतियोंको वेतन न दे और वे दुर्भिक्षसे मरणप्राय हो रहे हों तब यदि दूसरा राजा घूस देकर इनको मिला लेता है जिससे चढ़ाई करनेपर वे फाटक खोल देते हैं इत्यादि, वैसेही यह शरीर गढ़ है, जीव इसका राजा और इन्द्रियदेवता रक्षक हैं। ज्ञान होनेपर इन्द्रियदेवताओंकी शब्दरूपादि विषयरूपी वेतन बंद हो जाती है। जब अतिझीनी विषयवासना बयारि बसीठी आकर सुरोंसे मिल विषयभोग-तलब विशेष नक्द देनेको कहती है तब वे कपाट खोल देते हैं।

वै०—इन्द्रिय द्वार हैं। दम द्वारके किवाँड़े हैं क्योंकि यही विचारपूर्वक इन्द्रियोंकी वृत्तिको रोके रहा। दमको मिटा देना, दर्शन श्रवणादिकी चाह उत्पन्न कर देना किंवाड़ेका खोल देना है। विषय-चाहमें हर्ष, संसार और उसके सुखको सचा मानना यही विषयबयारिकी ठोकर ज्ञानदीपकमें लग जाना है।

वि० टी०—'ते हठि देहिं कपाट उघारी' का भाव कि ज्ञान प्राप्त हुए जीवको तीर्थादि स्थानोंमें सौन्दर्य्य गान आदि अवसरोंपर वशवर्ती इन्द्रियोंके द्वाराही फिरसे फँस जानेका बड़ा डर रहता है।

जब सो * प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई॥ १३॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥ १४॥

अर्थ—जब वह पवनका झकोरा हृदयरूपी घरमें जाता है तभी विज्ञान दीपकको बुझा देता है वा दीपक बुझ जाता है। १३। गाँठ न छूटी और वह प्रकाशभी जाता रहा। विषयरूपी पवनसे बुद्धि व्याकुल हो गई। १४।

नोट—१ पहले 'बयारि' कहा अब भीतर जाने और दीपक बुझानेमें उसका सामर्थ्यसूचक नाम 'प्रभंजन' दिया। प्रभंजन=प्रकर्ष करके भंजन करने अर्थात् तोड़डालनेवाला। विज्ञानरूपिणी बुद्धिका सब किया कराया बना-बनाया घरही ढा देनेवाला है। 'धीरजधर्म खंभ' इससे टूटते हैं अतः 'प्रभंजन' पद दिया-(रा.प्र.)।

२ (क)—'तबहिं' अर्थात् जैसेही वह पहुँचा तैसेही तुरंत, किंचित् भी देर न लगेगी कि बुद्धि कुछ और यत्न दीपकको बचानेका कर सके। (ख) 'दीप बिज्ञान बुझाई'। भाव कि कैवल्यप्राप्तिकी ड्योढ़ीपर पहुँच इन्द्रियोंके विषयमें फँस जानेसे सब विज्ञान नष्ट हो जाता है। उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। यथा—'जोग-सिद्धिफल समय जिमि जतिहि अबिद्यानास'—(अ० २९) सोहमस्मिवृत्ति जाती रहती है।

वै०—१ 'सो प्रभंजन' अर्थात् शत्रुसेनका नाश करनेवाली विषय बयारि। २—'बुद्धि बिकल भइ०'।

* सु—(रा० प०)। सुप्रभंजन=है तो विषयबयारि विष, पर लगती है सुंदर।

बुद्धि सावधान हो ग्रन्थि छोड़नेमें लगी थी। जब वह अँधेरेमें पड़ी, विषयवासना हृदयमें भर गई, तब वह भी भ्रमित हो गई, भ्रमित होनेसे विकल हो गई। बुद्धिही विकल हुई और अन्तष्करण क्यों न विकल हुए ? इसका कारण यह है कि मन और अहंकार दोनोंके अंश विषय व्यापारमें रहते हैं तब वे क्यों व्याकुल होने लगे और बुद्धिके अंश उत्तम व्यापारमें रहते हैं, यथा जिज्ञासा पंचके —'जपोयज्ञस्तपस्त्यागः आचाराध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैवं षडंगानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः ॥' इसीसे बुद्धि विकल हुई। रहा चित्त सो बुद्धिहीके अन्तर्गत है, इसकी भी वही दशा है।

करु०—वैरीको परास्त करनेके सम्बंधसे प्रभंजन नाम दिया। प्रकर्ष करके नाश करनेवाला। झीनी विषयवासना प्रभंजन है। विज्ञानीके हृदयमें झीनी विषयवासना आई कि दीपक बुझा। ब्रह्मास्मिवृत्तिका छूटना दीपकका बुझना है।

वि० त्रि०—१ 'तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई' भाव कि पलमात्रमें दीवट कहीं गयी, दीवा कहीं गिरा, बत्ती कहीं बुझकर उड़ गई। एक पलमें अति दुरूह साधन ऐसा नष्ट हुआ कि कहीं पता नहीं। साधक दिव्य विषयोंमें लिप्त हो गया।

२ 'ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा।...'। (क) ग्रंथि छूटनेके लिये इतना परिश्रम किया गया सो हुआ नहीं। (ख) 'सो प्रकासा' अर्थात् 'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा'। वह प्रकाश तो 'सोहमस्मि' वृत्तिके आश्रय था, जब विषयके झोकोंसे वह वृत्तिहीन रह गयी तो प्रकाश कहाँसे रह जायगा ? (ग) विषय बतासा= विषयकी प्रचण्ड हवासे। अर्थात् प्रचण्ड हवाके वेगको वृत्तिजन्य ज्ञानदीप नहीं सह सकता। (घ) 'बुद्धि बिकल भइ'। इतने परिश्रमसे किये हुए प्रिय दीपके बुझनेसे तथा स्वामीके उद्धारके उपायमें भग्न-मनोरथ होनेसे एवं झोकोंके चपेटसे बुद्धिभी विकल हो जाती है, उसका साहस टूट जाता है। और कुछ सूझ नहीं पड़ता। —(शेषदत्त)।

रा० प्र०—१ भाव कि ग्रन्थि न छूट पाई, प्रकाश जाता रहा, उसपर भी अधिक विपत्ति यह पड़ गई कि बुद्धि बिकल हो गई।—'बिछुरी चकती चामकी तब फिरत नगन है'।

इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई ॥ १५ ॥
बिषय-समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी ॥ १६ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके देवताओंको ज्ञान नहीं अच्छा लगता (क्योंकि) विषय-भोगपर उनकी निरंतर आसक्ति रहती है (वे एक क्षण उसका वियोग नहीं सह सकते)। १५। विषय-समीरने बुद्धिको बावली बना दिया तब फिरसे उस ज्ञानदीपकको कौन जला सकता है ? अर्थात् जिसकी सामर्थ्य थी वह बावली हो है, अतः दुबारा यह जल नहीं सकता। भाव यह कि इस जन्ममें मोक्ष-प्राप्ति असंभव है जैसा कि आगे कहते हैं। एकबार दैवयोगसे न जाने कैसे इतना परिश्रम बन पड़ा था सो बना बनाया सब व्यर्थ हो गया तब दूसरी बार साहस कैसे हो सके ? । १६।

पं०—यदि कहो कि सूर्य्यादि तो उत्तम देवता हैं ये जीवके कृतार्थ होनेमें क्यों विघ्न करते हैं तो उसपर कहते हैं कि 'इंद्रिन्ह सुरन्ह०'। अर्थात् ये उत्तम तो हैं पर इन्द्रियके स्थानोंमें वे भी विषयरसही चाहते हैं जैसे भले पुरुषभी युवतीके निकट चपलताही करते हैं।

वि० त्रि० १—'इन्द्रिय सुरन्ह न ज्ञान सोहाई'। ज्ञान होनेसे प्राणी विषय-विमुख हो जाता है, अतएव देवताओंके भोगमें कमी आने लगती है। सृष्टिके प्रारंभमें विराट्की उत्पत्तिके बाद जब उसे क्षुधा-तृषासे युक्त किया, तब भूख प्याससे दुखी होकर इन्द्रिय-देवताओंने अपनी तृप्तिके लिए ब्रह्मदेवसे व्यष्टि शरीर रचने की प्रार्थना की। ब्रह्मदेवने ऊपर दाँतवाली गौ रची, उससे वे लोग तृप्त नहीं हुए, कहा 'नायमल मिति'(अर्थात् यह हमारे लिए यथेष्ट नहीं है)। तब ऊपर नीचे दोनों ओर दाँतवाला घोड़ा रचा। वे बोले कि इससेभी हमारा

काम नहीं चलेगा। तब मनुष्य रचा। उसे देखकर देवता प्रसन्न हुए कि इससे हमारा काम चलेगा। अतः देवता इन्द्रियोंके रूपसे यथा-स्थान अङ्गोंमें प्रवेश कर गए। अतएव ऐसे भोगसाधन (मनुष्य) का विषय-विमुख होकर ज्ञानी होना उन्हें अच्छा नहीं लगता।

२—'विषय समीर'। समीर-शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'अच्छी तरह चलनेवाला'। भाव कि विषयका अन्धड़ बन्द नहीं होता, चलाही करता है। ३—'तेहि बिधि' का भाव कि जितनी श्रद्धा, धैर्य्य और परिश्रम द्वारा, जिस विधिसे यह दीप जलाया गया था, उस विधिसे भग्न-मनोरथ होनेपर फिरसे साध्य नहीं है और अविधिसे जलाये हुये दीपमें 'सोहमस्मि' इस अखंड वृत्तिकी न दीपसिखा होगी और न आत्मा-नुभव-सुप्रकाश होगा।

दोहा—तब फिरि जीव* बिबिधि बिधि पावै संसृति क्लेस।
हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस॥
कहत कठिन समुझत कठिन साधत‡कठिन बिबेक।
होइ घुनाछर † न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥ ११८॥

अर्थ—ज्ञानविमुख होकर तब जीव अनेक प्रकारके संसारी क्लेश भोगता है। हे पक्षिराज! हरि-माया अत्यन्त दुस्तर है, तरी नहीं जासकती है। विवेक कहनेमें कठिन, समझनेमें कठिन और साधनेमें (भी) कठिन है। कदाचित् घुणाक्षरन्यायसे होभी जाय तोभी उसमें अनेक विघ्न हैं। ११८।

नोट—१ 'तब फिरि जीव···'। (क) 'फिरि' का भाव कि 'सोहमस्मि वृत्ति' से गिरने और ज्ञानकी तरफसे मुँह मुड़कर विषयमें पुनः प्रवृत्ति होनेपर। (ख) ग्रंथि छुटानेके समय जीवकी अखण्डवृत्ति 'सोहमस्मि' में थी वह कृतार्थ हो जाता। न छुटनेसे वह ज्योंका त्यों विषयी जीव रह गया। अतः 'जीव पावै कलेस' कहा। (ग)—'संसृति क्लेश' अर्थात् जन्म, जरा, मरणादि अनेक क्लेश।७६ (१) देखिये। (घ) 'अतिदुस्तर...', यह पूर्व बहुत बार दिखाया जा चुका है कि आसुरी और दैवी माया दुस्तर है, हरिमाया अतिदुस्तर है क्योंकि असुर और देवताभी इससे नहीं उबर सकते।

वि० त्रि०—१ 'तब फिरि' अर्थात् जिस भाँति सात्त्विकी श्रद्धाके हृदयमें आनेके पहले अवस्था थी वही फिर हुई, इतना बड़ा प्रयास व्यर्थ गया। भाव कि अनन्तकालसे जीव ज्ञानदीपकके उद्योगमें है। अनेक जन्ममें दीप जला और बुझा, पर ग्रन्थि नहीं छूटी, संसार ज्योंका त्यों बना रह गया। २—'विहगेश'। खगेश कहकर मायाके विघ्नका प्रकरण आरंभ किया था, यथा—'छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया', अब 'विहगेश' कहकर प्रकरण समाप्त करते हैं।

नोट—२ 'कहत कठिन०' इति। यहाँ 'ज्ञानदीपक' का उपसंहार है—

उपक्रम	उपसंहार
'सुनहु तात यह अकथ कहानी, न जाइ बखानी'	१ कहत कठिन
समुझत बनइ न	२ समुझत कठिन
तब ते जीव भयेउ संसारी। छूट न गंथि	३ तब फिरि पावै जीव कलेस
जदपि मृषा छूटत कठिनई	४ हरिमाया अति दुस्तर०
अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥	५ होइ घुनाक्षरन्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक

'कहत कठिन' कहकर समुझत और साधत क्रमशः कहनेका भाव कि प्रथम तो कोई इसे कह नहीं

* सुबिबिधि। ‡ साधन—रा० प०। † घुनाक्षर—भा० दा०। घुनाछर—का०।

सकता, यह अवर्णनीय है, पर यदि कोई कहने समझानेको समर्थ हो तो समझनेवालेका भी तो अभाव है, इसका समझमें आना कठिन है, और कोई समझनेवालेका भी मिल जाय तो इसका साधना कठिन है। भाव कि ज्ञान केवल वाक्‌मात्र है, इसके साधक देखनेमें नहीं आते। साधन क्यों कठिन है, यह विनयमें खूब कहा है तथा यहाँ श्रीमुखसे श्रीरामजीने बताया है, यथा—'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥ ४५। ३।' देखिए।

वि० टी०—'कहत कठिन समुझत कठिन०' इति। कठोपनिषद्‌में नचिकेताने यमसे जो तीन वरदान माँगे थे उनमेंसे तीसरा यह था कि आप कृपाकर यह समझाइए कि आत्मा देहसे पृथक् है वा क्या है। इस आत्मज्ञानके जाननेकी मुझे बड़ी उत्कण्ठा है। उत्तरमें यमने कहा,—'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ अ० १ बल्ली १। २१।' जिसका भाव यह है कि इस आत्मविषयपर पहिले बड़े बड़े विद्वानोंके सन्देह और वाद हो चुके हैं; वे भी पूर्ण रूपसे इसकी मीमांसा न कर सके, क्योंकि यह विषय अति सूक्ष्म होनेसे दुर्ज्ञेय है और यह भी संभव नहीं कि इसमें प्रवृत होनेसे प्रत्येक मनुष्य कृतकार्य होही जावे, अतएव हे नचिकेता! तुम और कोई वरदान माँगो।

वि० त्रि०—'कठिन बिबेक', यथा—'सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहि आवै। जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव बिपति सतावै। वि० ११६।'

नोट—बैजनाथजी और पंजाबीजीके भाव आगे दिये गये हैं।

नोट-३ 'होइ घुनाच्छरन्याय जौं' इति। घुणोंके चालनेसे कभी-कभी दैवयोगसे लकड़ीमें अक्षरोंकेसे आकार बन जाते हैं, यद्यपि घुन उस उद्देश्यसे नहीं काटते कि अक्षर बनें। इसी प्रकार जहाँ एक कार्य्य करनेमें दैवयोगसे कोई दूसरी बात अनायास हो जाय वहाँ यह न्याय कहा जाता है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि जानना, सुनना, समझना, साधना, यह सब कठिन है। यह सब यदि दैवयोगसे घुणाक्षरन्यायसे हो भी जाय तब भी विवेक होना कठिन है क्योंकि उसमें अनेक विघ्न होते हैं जिससे साधनकी रक्षा कठिन हो जाती है।

जब साधन बनगया तब क्या कठिनाई है? घुनसे दैवयोगसे अक्षर बन गया फिर न जाने वह काटता काटता उस अक्षरको काट डाले, इसी तरह 'सोहमस्मिवृत्ति' तक पहुँचनेपर यदि उसका शरीर छूट गया तो वह कैवल्यमुक्ति पा जाय, नहीं तो फिर कहीं मायामें फँस गया तो सब परिश्रम व्यर्थ गया।

करु०—ज्ञानमार्ग कहते कठिन, समुझते कठिन और उसका साधना कठिन तथा उसका विवेक कठिन है। जो कदाचित् ज्ञानके मार्गमें घुनाक्षरन्याय हो तो जीव कृतार्थ हो। घुनाक्षरन्याय अर्थात् जैसे घुन लकड़ीको चालता है कहीं कभी दैवयोगसे रकार मकार बन गया और उसी समयमें घुणका शरीर पात हो गया तो वह कृतार्थ हो गया। क्योंकि अन्तकालमें कैसे भी रामनाम आवे तो कोई भी जीव क्यों न हो कृतार्थ हो जायगा। और यदि रकार बननेपर फिर उसके आगे अपर चिह्न बन गया तो विघ्न हुआ। इसी प्रकार ज्ञानीने षट्‌भूमिका पारकर सातवींपर सोहमस्मिवृत्तिकी अखण्ड प्राप्ति की और उसी दशामें उसका शरीर पात हो गया तो वह कैवल्यको प्राप्त हो गया। पर इसी दशामें लय, विक्षेप, कषाय और रसाभास आदि अनेक विघ्न होते हैं।

पां०—'होइ घुनाच्छरन्याय जौं०'। भाव कि जैसे कदाचित् घुनसे अकस्माती अक्षर बनजाय वैसेही कदाचित् साधक इन तीनों विघ्नोंसे बच निकले तोभी आगे अनेक विघ्न हैं।

वि० त्रि०-घुणाक्षरन्याय कहकर 'अस संजोग ईस जब करई।...११७। ८।' का साफल्य दिखलाया।

बै० १—'कहत कठिन' अर्थात् जीव और ब्रह्म एकही है यह कहते नहीं बनता। 'समुझत कठिन' अर्थात् ब्रह्म मायापार सर्वज्ञ अखण्ड आनन्दरूप और जीव मायाके वश, अल्पज्ञ सदा दुःखरूप, इन दोनोंकी एकता यह समझमें नहीं आती। साधन कठिन ऐसा कि किसीके मानका नहीं। 'विवेक कठिन' अर्थात् संसार-बन्धन छुड़ाकर अपनेही बलसे आत्मरूप भिन्न कर लेना इति विवेक कठिन है। २—जब किसीकी युक्तिसे

पूरा नहीं हो सकता तो वेद पुराण वेदान्त जो ज्ञानको गाते हैं सो क्या वृथाही है ? उसपर कहते हैं कि वृथा नहीं है, ज्ञान पूरा होता है पर घुनाक्षर न्यायसे। अर्थात् जैसे काटते काटते घुनसे कोई अक्षर बन गया वैसेही साधन करते करते कभी ज्ञानभी पूरा हो जायगा परन्तु यदि देहधारी बना है तो फिरभी विघ्नबाधा तो अनेक हैं, इनसे बचेगा कैसे ? जैसे घुणसे अक्षर बनगया और कटभी गया।

वै०—यदि कहो कि 'मुक्तदशा प्राप्त होकर फिर कैसे बन्धनमें पड़ सकता है ?' तो उसका उत्तर यह है कि पूर्वभी तो वह अमल चेतन आनन्दराशि था फिर वह कैसे आत्मरूप भूलकर स्वइच्छित मायाके बन्धनमें पड़ा ? जैसे आदिमें मायाबन्धनमें पड़कर जीव बना, वैसेही अब बंधनमें पड़ जानेमें क्या आश्चर्य्य ? यावत् देह धारण किये हैं तावत् जीवन्मुक्तकोभी किसी समय कारण पाकर जीवत्व देहबुद्धि अवश्य आजायगी जैसे सनकादिने जयविजयको, कपिलदेवने सगरके पुत्रोंको, और लोमशने भुशुण्डीको क्रोधमें शाप दे दिया।

पं०—'कहत कठिन' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ यह कथनभी कठिन है, तात्पर्य्य कि हृदयके निश्चय विना यह कथन शोभा नहीं पाता। 'समुझत कठिन' अर्थात् अपने आपको आत्मा समझकर निरभिमान होना यह समझनाभी कठिन है। 'साधन'—शमदमादिक जो विवेकके साधन हैं उनका साङ्गोपाङ्ग होना कठिन है।

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा ॥ १ ॥
जो निर्बिघ्न पंथ निबहई। सो कैवल्य परम पद लहई ॥ २ ॥

अर्थ—ज्ञानमार्ग कृपाणकी धार है। हे खगेश ! इस मार्गपरसे गिरते देर नहीं लगती। १। जो मार्गको निर्विघ्न निबाह लेता है वह कैवल्य मुक्तिरूपी परमपद पाता है। २।

नोट—कृपाण द्विधारा तलवारको कहते हैं। साधारण तलवारकी ही धार बड़ी तीक्ष्ण होती है, उसपर चढ़ना महा कठिन है कि चढ़े और पैर न कटे। यह कठिनता पातिव्रत्यधर्मके निर्वाहमें भी इसी प्रकार कही गई है, यथा—'त्रिय चढ़िहहिं पतिब्रत-असिधारा। १। ६७। ६।' पातिव्रत्यको असिधारा कहा और ज्ञान-मार्गको कृपाणकी धारा। इस प्रकार ज्ञानमार्गको पातिव्रत्यसेभी कठिन जनाया। कठोपनिषद् प्रथम अध्याय तृतीयवल्लीमें भी ज्ञानको छुरेकी धार कहा है; यथा 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति। १४।' अर्थात् (श्रुति परमात्माकी प्राप्तिका महत्त्व और साधन बतलाकर अब मनुष्योंको सावधान करती हुई कहती है) उठो, (जन्म-जन्मान्तरसे अज्ञान-निद्रामें सो रहे हो। उससे) जागो, और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर ज्ञान (परमात्माका रहस्य) प्राप्त करो। (परमात्माका तत्त्व बड़ा गहन है। महापुरुषोंकी सहायता और परमात्माकी कृपाके विना) तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्गको वैसाही दुर्गम बत-लाते हैं जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है।

वि० त्रि० जी लिखते हैं कि 'कृपाणकी धारा' का भाव यह है कि ज्ञानपंथ बड़ा ही सूक्ष्म है, बस उसे तलवारकी धार ही समझिये। रास्ता क्या है, निरावलम्ब मार्गमें एक रेखा है। भूले पर चलना कितना कठिन है ? फिर उस कृपाणकी धारापरसे कोई क्या चलेगा ? गिरते देर नहीं लगती। चलते बड़ी देर लगती है। तारपर या रस्सेपर चलनेवाले समताको बनाये हुए बड़ी कठिनता और देरसे पैर रखते हैं, तनिकसा समतामें वैषम्य आया कि पतन हुआ, यहाँ तो कृपाणधारासा सूक्ष्मपथपर चलना है, पतनमें क्या देर है ? यथा—'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥'

वि० टी०—कार लिखते हैं कि भाव यह है कि जो उपाय बिगड़े तो पैर कट जाय और जो गिर पड़े तो चोट लगे, इसी प्रकार ज्ञानके मार्गका साधन न सँभला तो पागल हो जाय और जो संयम बिगड़े तो भवकूपमें पड़े।

वि० टी०, वि० त्रि० इत्यादि 'परत' का अर्थ 'गिर पड़ते' और वीर-कविजी 'पाँव पड़ते' देरी नहीं लगती अर्थात् तुरंत पैर कट जाता है—ऐसा अर्थ करते हैं। वैजनाथजी लिखते हैं कि—'ज्ञानका पन्थ कैसा

सूक्ष्म और कराल है जैसे तलवारकी धार जिसपर चलते गिर पड़ते देर नहीं लगती, शीघ्रही गिर पड़ता है। तलवार पर चलनेमें गिर पड़ने और पैर कटजानेकी शङ्का, वैसेही ज्ञानमार्गका साधन अत्यन्त कठिन है। न हो सकना यही गिरना है और साधन करनेमें चूक जाना यही पैरका कट जाना है। यहाँ 'परत' का अर्थ 'पंथ और 'धार' के सम्बंधसे जो संगत हो वही ठीक है। 'निर्बिघ्न निबर्हई' से जनाया कि इस पंथमें बड़े बिघ्न हैं जो कि ऊपर कह आए।

वि० त्रि०—'कैवल्य परमपद लहई' अर्थात निर्विशेष ब्रह्मकी स्थितिको प्राप्त होता है, यथा—'जानत तुम्हहि तुमहि होइ जाई।'

करु०—१ कृपाण अर्थात् द्विधारा तलवार। इसके चलानेमें बड़ी होशियारी खबरदारी चाहिए क्योंकि कृपाणको पट पड़ते देर नहीं लगती और यदि पट पड़ी तो वैरीने मार लिया। ऐसे ही ज्ञानमें बड़ी खबरदारी चाहिए। २—यदि कोई कहे कि 'तुरीयावस्था कैवल्यरूप ही है और तुमने तुरीयाको बत्ती कहा है, तो वह ऐसा कौन पदार्थ है जिसमें जड़की ग्रन्थि पड़ गई है और जो तुरीयाके प्रकाशसे छूटती है?', तो इसका उत्तर यह है कि जीवहीमें चारों अवस्थायें होती हैं; जाग्रत्में वह विश्वरूप है, स्वप्नमें तेजसरूप, सुषुप्तिमें प्राज्ञरूप है और तुरीयामें शुद्धस्वस्वरूप है। पर जाग्रत् अवस्थामें समयसमयपर तीनों अवस्थायें सूक्ष्मरूपसे वर्तमान होती हैं; स्वप्नमें जाग्रत् सूक्ष्मरूपसे वर्तमान है, सुषुप्तिमें स्वप्न और तुरीयामें सुषुप्ति सूक्ष्मरूपसे वर्तमान है क्योंकि तुरीया केवल ब्रह्मस्वरूप है, और शुद्ध जीवमें तुरीया वर्तमान होती है। उसमें सुषुप्ति जो कारणरूप है वह सूक्ष्मरूप तुरीयामें वर्तमान है—कुछ सम्बन्ध मानकर और कुछ जीवका धर्म मानकर। इसीसे जब जीव विज्ञानको प्राप्त हुआ तब तुरीयावस्थाकी पूर्णदशाकी प्राप्ति हुई। जब सम्पूर्ण देहादिक संसारकी गन्धका त्याग हुआ, तब भी त्यागकी किंचित सुध बनी है, इसे तुरीयाविषे सूक्ष्मकारण जानना। यह कारण बाधक नहीं है। वह कारण जीवमें इस प्रकार है जैसे भूना हुआ अन्न जो बोनेसे उगैगा नहीं। वह सूक्ष्म सुध ही आत्मामें जड़की ग्रंथि है, इस सूक्ष्म सुधको भी आत्मसंगी शुद्ध बुद्धि नहीं सह सकती। इसीको वह छुड़ाना चाहती है अर्थात् त्यागकी सुधको बिसराना चाहती है। संसारके त्यागकी सुध बिसर जाना यही ग्रन्थिका छूटना है। यहाँ तुरीयावस्थाका आगमन बत्ती है, विज्ञाननिरूपण घृत है, परम योगाग्निद्वारा उसका जलाना हुआ और आत्मानुभवज्ञान उसका प्रकाश है। ईश्वर तुरीयस्वरूप है और उसकी कृपासे जीवमें तुरीयावस्था वर्तमान होती है। उसी अवस्थाके प्रकाशमें तीन अवस्थाओंकी सूक्ष्म शुद्धिको बुद्धि छुड़ाती है, जब छूट जाय तब यह जीव तुरीयस्वरूप हो जाय, कैवल्य पद प्राप्त हो जाय।

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद ॥ ३ ॥

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं ॥ ४ ॥

अर्थ—सन्त, पुराण, निगम और आगम सब कहते हैं एवं बाजी लगाते हैं कि कैवल्य परमपद अत्यन्त दुर्लभ है। ३। वही अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति रामभजन करते हुए बरिआई इच्छा न करनेपर भी आ प्राप्त होती है। ४।

रा० प्र०—'अति दुर्लभ'=कठिन साधन करनेपर भी जिसकी प्राप्ति कठिन है।

वि० त्रि० १—त्रिदेवके अधिकारको 'पद' कहते हैं, यथा—'भरतहिं होइ न राजमद बिधिहरिहरपद पाइ।' परन्तु कैवल्यपद उससे भी बड़ा है, इस लिए परमपद कहा। २—'अति दुर्लभ' का भाव कि अन्तिम देह अर्थात ब्राह्मणकी देह सुरदुर्लभ है, यथा—'चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई। ११०। ३।' उस शरीरमें भी विरति, विवेक, ज्ञान, विज्ञानका होना मुनिदुर्लभ है, यथा—'ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना। ८४। १।' उन गुणोंके होते हुए भी, उनका फलरूप कैवल्यपद अति दुर्लभ है।●

● मा० म०—'अति दुर्लभ कैवल्य परमपद' यहाँ कहा और ज्ञानदीपकसे प्राप्तको 'कैवल्य परम पद'

३—संत पुराणादिके कहनेका भाव कि वेद, शास्त्र, पुराणके कहनेपर भी साधुओंके अनुमोदनकी अपेक्षा रहती है। क्योंकि वेद पुराण सर्वाराम्में समुद्ररूप होनेपर भी उनके वाक्यरूपी जलसे काम नहीं चलता। जब वह वेद-पुराणरूपी-समुद्रका वाक्य-जल मेघ-स्थानीय-साधुओंके मुखसे च्युत होता है तब संसारके कामका होता है, यथा—'बेद पुरान उदधि घन साधू।' अतः वेद, पुराण, शास्त्र और साधु सब एक स्वरसे कहते हैं कि कैवल्यपद अति दुर्लभ है, यही परमपुरुषार्थकी सिद्धि है।

रा० प्र०—'राम भजत०'। क्योंकि ज्ञान अज्ञान दोनोंके आधार रामजीही हैं। 'सो घर अगम जेहि प्रभु चहै देखावन दास करै तेहि बार नहीं' 'मालिक ताबे नहीं किसी के।' 'अनइच्छित' इति। क्योंकि 'काहू को पद दास न चाहत' 'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भक्ति निज देहीं'—[लं० १११ (७) देखो]। दास नाम पड़ते ही मुक्ति अनायास दासी हो जाती है,—'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।' ['कैवल्य परम पद' कहकर 'सोइ मुक्ति' कहनेसे यहाँ 'परम पद' और 'मुक्ति' पर्य्याय जनाए। 'अति दुर्लभ'—यह दुर्लभता पूरे प्रसंगभरमें दिखा आए। प्रत्येक साधन उसका अति कठिन है और वह तो सातवीं सीढ़ीपर पहुँचनेके बादकी बात है]

वै०—'अनइच्छित आवै बरियाई'। विना उसकी चाह किए वह जबरई आती है। भाव यह कि भजन करते समय प्रभुकी प्राप्तिकी आतुरीसे जहाँ विरहाग्नि प्रचण्ड पड़ी तहाँ कामादि सब विकार नष्ट हो गए। पुनः जब रूपकी माधुरी वा शील करुणादि गुणोंके स्मरणसे प्रेम उमगा तहाँ जीव अमल होकर स्वाभाविक ही आत्मरूपको प्राप्त होता है। पुनः, श्रीमुखवचन है कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति'। जब नाश ही नहीं तब स्वाभाविक ही मुक्त है—यही अनइच्छित आना है।

वि. त्रि.—'रामभजत...' इति। (क) 'राम भजत' का भाव कि साधारणतः संसारी जीव संसार को भजते हैं। संसारमें ममता होना ही संसारको भजना है, और देहमें, गेहमें, कुटुम्बमें, परिवारमें, धनमें, संपत्तिमें ममता होना ही संसारी ममता या संसारित्व है। मनसे वृत्तिरूप ममताके तागे निकलकर देह-गेह कुटुम्बादिमें लगे हुए हैं, जिनकी चौतरफा खींचतानसे मन सतत विकल रहता है, कभी विश्राम नहीं पाता। यथा 'कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो। निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिय तान्यो।' इसी दुःखसे छूटनेके लिये शास्त्रोंकी उपयोगिता है और पुरुषार्थकी प्रवृत्ति है। इस दुःखसे छूटनेके दो ही उपाय हैं। या तो ममताके तागे ही काट डाले जायँ, या ममता संसारसे तोड़कर राममें जोड़ी जाय। यथा 'की करु ममता रामसे की ममता परहेल।' ममता-तागे काटनेवाले रास्तेको ज्ञानपंथ कहते हैं; यथा 'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।' परन्तु यह मार्ग दुर्गम है; इसमें विघ्न बहुत हैं। साधन भी कठिन है। इसके अधिकारी भी बहुत कम हैं। यदि किसी भाँति ज्ञानकी प्राप्ति भी हो जाय, तो उसका टिकना विना उपासनाके संभव नहीं, उसका पतन हुए बिना नहीं रहता। यथा 'ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।' अतः दूसरा सुगम मार्ग यही है कि ममता रामसे जोड़ी जाय। इसीको भक्ति-पथ कहते हैं। इसमें ममताके तागे काटे नहीं जाते। वरं इसकी विधि यह है कि देह गेह-कुटुम्बादिमें जहाँ-जहाँ ममताके तागे लगे हैं वहाँसे हटाके सबको बँट डाला जाय, यथा 'जहँ लगि नाथ सनेह सगाई प्रीति प्रतीति निगम निज गाई। मोरे सबुइ एक तुम्ह स्वामी।', और इस भाँति बँटी हुई डोरीको भगवच्चरणोंमें बाँधे। इस भाँति ममताकी डोरी भगवच्चरणोंमें लग जानेपर मन खींचातानीसे छूटकर स्थितिको प्राप्त होता है, केवल अस्मितामात्र रह जाती है, जिसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं। इससे प्रकाश होता है और सबमें समान

कहा। इस कथन भेदसे ज्ञान और भक्तिका भेद निर्णय हो गया कि ज्ञान साधनसे कैवल्य त्रिपाद विभूतिमें प्राप्त होती है। त्रिपादविभूतिकी प्राप्तिको दुर्लभ कैवल्य मुक्ति कहते हैं और भक्ति द्वारा साकेतकी प्राप्ति होती है जिसको अतिदुर्लभ कैवल्य कहते हैं।

रूपसे ब्रह्म दिखाई पड़ने लगता है। इस तरह ममता ईश्वर प्रणिधान होनेसे ज्योतिष्मती विद्या हो गई। यह रामभजन है। (ख) 'सोइ मुकुति'—साधनकी सुगमतासे कोई सिद्धिमें त्रुटि न मान ले, अतः कहा कि 'सोइ मुक्ति' (अति दुर्लभ कैवल्य परमपद)। (ग) 'गोसाईं' का भाव कि आप भी स्वामी हैं, आप जानते हैं कि सेवककी भक्तिसे प्रसन्न होकर स्वामी उसके अभिमुख होते हैं; वैसे ही भक्तिविशेषसे श्रीरामजी अभिमुख होकर अभिधान (संकल्प) मात्रसे भक्तपर अनुग्रह करते हैं और उसके मनोरथको पूर्ण करते हैं। (घ) 'अनइच्छित' का भाव कि सामान्यतः जीव अति आर्त्त होकर, जिज्ञासु होकर, अर्थार्थी होकर अथवा ज्ञानकी स्थिरताके लिये श्रीरामजीके सम्मुख होते हैं; परन्तु ऐसे एकाङ्गी प्रीति करनेवाले निष्काम भक्त भी होते हैं जिनको भजनमें ही ऐसा आनन्द मिल गया है कि वे मुक्तिककी उपेक्षा करते हैं, ऐसे अनन्य भक्तों के लिये मुक्ति भी अनिच्छित हो जाती है। यथा 'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्बान। जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन।', 'मम गुनग्राम नामरत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह।' (ङ) 'आवै बरिआई'—राम भजनसे विघ्नोंका अभाव तो हो ही जाता है, उसके साथ साथ प्रत्येक चेतनका अधिगम (स्वरूपका दर्शन) भी होता है। भाव यह कि ममताकी डोरी श्रीराम में लगनेसे तत्पदवाच्यका दर्शन तो उसे होता ही है, साथ ही साथ उसे त्वंपदवाच्यका भी दर्शन हो जाता है; यथा 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा।' तत्पश्चात् भेदासहिष्णु भक्ति दोनों का ऐक्य कर देती है अर्थात् चित्‌जड़ ग्रन्थि छोड़ देती है। इस प्रकार मुक्ति बरिआईंसे आती है। ऐसी अवस्थामें यदि सेवक-सेव्य भाव अटल रह जाय तब तो मुक्ति रुकती है, नहीं तो बिना चाहे भी मुक्ति हो जाती है। यही मुक्तिका बलपूर्वक आना है।

नोट—'अनइच्छित आवै बरिआई' इति। 'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं।··· । लं० १११। ७।' 'सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि। कि० २६।', 'ताते मुनि हरि लीन न भएऊ। आ० ९।१२।', 'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई। आ० ३६। ८-९।'; 'सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहि खगेस ब्रह्म सुखहि सज्जन सुमति। ८८।', इत्यादिमें देखिए।

सि० ति०—ऐसा दुर्लभ कैवल्य भक्तिसे अनिच्छित कैसे आ जायगा? उत्तर—यहाँ जीवका प्रकृति-वियुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित होना और उस 'आतम अनुभव सुख सुप्रकास' से ग्रंथिनिर्मुक्ति कर अंतमें संसार-दुःखसे छूटकर कैवल्य परम पद पाना फल कहा गया है; यथा—'उभय हरहिं भव संभव खेदा।' यही फल भक्तिसे अन-इच्छित इस तरह आता है, यथा 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा। आ० ३६।' जीवका सहज स्वरूप 'ईश्वर अंस जीव···' में जो कहा गया वही है, उसीका शुद्ध रूपमें साक्षात् करनाही कैवल्य का भी उद्देश्य कहा गया है।

इसे 'मम दरसन···' की चौपाईमें श्रीरामजीने श्रीशबरीजीसे नवधा भक्ति वर्णन करनेके पीछे फल-रूपमें कहा है, यथा 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।' अतः 'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई।' क्योंकि 'मम दरसन फल····'। बस, यह प्रसंग यहीं समाप्त हो गया।

यहाँ सकल प्रकारकी भक्तिमें प्रेमा और पराको भी समझना चाहिए। अतः इससे अच्छी तरहसे श्रीरामजीके दर्शन किये हैं, इसीसे वह अपने सहज स्वरूपको प्राप्त हुई। दर्शन इस प्रकार होते हैं—

स्थूल शरीराभिमानी जीव प्रथम नवधा भक्ति सहित श्रीरामजीके दर्शन करता रहता है, इसमें इन्द्रियोंके विषय भगवान् ही रहते हैं। अतः चित्तवृत्ति भगवान्‌में ही रहती है फिर प्रेमाभक्तिके द्वारा सूक्ष्म शरीरके दोषोंको शुद्ध करता हुआ श्रीरामजीमें चित्त रखता है और बुद्धिसे उन्हींकी कृपा, दया आदि गुणोंका विचार होनेपर मन सम्मग्न इन्द्रिय-वृत्तियों सहित प्रीतिके उमंगमें निमग्न रहता है। अतः दर्शनोंमें बाधा नहीं पड़ती। पुनः पराभक्तिके दृढ़ अनुरागके प्रारंभमेंही विरहाग्निके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म वासनामय कारण शरीर भस्म होनेसे साधक तुरीयावस्थाको स्वतः प्राप्त होता है। इसी अवस्थामें वहाँ 'सोऽहमस्मि' वृत्ति कही गई

है। इस पराभक्तिमें भगवान्‌में गाढ़ स्मृति स्वतः एकरस रहती है—'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।', इससे ज्ञान प्रसंगकी मायाकृत बाधाएँ जो ग्रन्थि छोड़नेमें कही गई हैं, कुछ नहीं कर सकतीं, यथा 'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया'; अतः यह उक्त ग्रन्थियोंसे भी निर्मुक्त हो जाता है।—'तथा न ते माधव तावकाः कचित् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वपि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्ध सुप्रभो। भा०। १०। २। ३३।'

यहाँ तक ये सब कार्य केवल श्रीरामदर्शनसे हुए। अवस्थानुसार मनादि इन्द्रियोंके लिये आधाररूपमें नवधादि भक्तियाँ थीं, जिसकी ज्ञानमें त्रुटि है। दर्शन-फलको श्रुतियाँ भी कहती हैं–'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। मुंडक २। २। ८।' ग्रन्थिके कट जानेपर प्राचीन कर्मोंका विनाश हो जाता है। फिर शरीर-शरीरीरूपमें स्वस्वरूप स्थित रहनेसे क्रियमाण कर्म अहंकाररहित होते हैं और प्रारब्ध कर्मभोग देकर समाप्त हो जाता है। इस तरह तीनों करमोंके क्षय होनेसे देह रहित होनेपर मुक्त कहाता है।

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥ ५॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरिभगति बिहाई॥ ६॥

अर्थ—जैसे विना थल (गहरी भूमि) के जल रह (थम या रुक) नहीं सकता, चाहे कोई करोड़ों (कितने ही) उपाय करे। ५। इसी तरह, हे खगराज! सुनिए, मोक्ष-सुख भगवद्भक्तिको छोड़कर रह ही नहीं सकता। ६।

करु०—वह मुक्ति कैसे अनइच्छित (विना चाहे) आती है? जैसे थल विना जल रह नहीं सकता चाहे कोई कोटि भाँतिसे उपाय करे। थलमें जल अनायास आता है।

वै०—जल ऊँची भूमिपर विना गहरा स्थान पाये रह नहीं सकता वैसे ही मोक्ष सुख भक्ति छोड़ और कहीं स्थिर होकर नहीं रह सकता।

वि० त्रि०—१ (क) जल थलमें आधार-आधेय-सम्बन्ध है। जल आधेय है, थल आधार है। जलका प्रच्यवनशील स्वभाव है, अतः उसके ठहरनेके लिये थलकी आवश्यकता है। जो जिसका आधार नहीं है वह वहाँ ठहर नहीं सकता। इसका कारण ईश्वरीय नियम है। यथा 'प्रभु आज्ञा जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई।' (ख) 'रहि न सकाई'—भाव कि थलका साथ जल छोड़ नहीं सकता। जहाँ जल ही जल हो वहाँ भी अनुमान करना पड़ेगा कि आधाररूपमें थल विद्यमान है। (ग) 'कोटि भाँति कोउ...' इति। भाव कि जो कार्य सामान्य रीतिसे नहीं होता, उसके लिये उपाय किया जाता है। यथा 'तदपि एक मैं कहब उपाई। करिअ दैव जौं होइ सहाई।' अतः उपाय द्वारा, यन्त्र द्वारा चाहे जल अन्तरिक्ष में फेंका जाय अथवा ईश्वरी नियमसे मेघ द्वारा आकाश पर चढ़ जाय, पर वहाँ ठहर नहीं सकता।

२ 'मोक्ष सुख...' इति। (क) यहाँ मोक्षसुख शब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि मोक्ष होनेके साधनद्वारा मुक्तिके सान्निध्यसे मोक्षसुखका अनुभव होने लगता है। अथवा, ब्रह्मका साक्षात्कार होने पर भी प्रारब्धके प्रतिबंधक रहनेसे मुक्ति रुकी रहती है, पर मोक्षसुख नहीं रुक सकता। अतः यहाँ मुक्ति न कहकर मोक्षसुख कहा। पुनः, मोक्ष कृतक नहीं है, नित्य है, उसका आधार कहना नहीं बनता; इसीलिये मोक्ष न कहकर मोक्षसुख कहा, क्योंकि अहं-मम-रूपा अविद्या नित्य प्राप्त मोक्षसुखको आच्छादित रखनेवाली है। (ख) 'खगराई' संबोधनसे जनाया कि उड़नेवालोंमें प्रथम गणना आपकी है, आप जानते हैं कि कितना भी कोई उड़े पर विना थलके विश्राम नहीं मिल सकता। (ग) 'रहि न सकै हरिभगति बिहाई' इति। भाव कि हरिभक्ति तथा ब्रह्मसुखमें आधाराधेय भाव है; जहाँ ब्रह्मसुख है वहाँ हरिभक्ति अवश्य है। हरिभक्तिको छोड़ने पर ब्रह्मसुख निराधार हो जाता है। हरिसे नाता तोड़ने पर ब्रह्मसुखकी कोई आशा ही नहीं। यथा 'जोग

कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहि राम प्रेम परधानू।'

नोट—१ विशेष 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका। ४५। ३।' देखिए। २—वैसे ही मोक्षसुख भक्ति करनेसे अनायास आ जाता है। यहाँ भक्ति थल है, मोक्षसुख वा मुक्ति जल है।

अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥ ७॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥ ८॥

अर्थ—ऐसा विचारकर चतुर हरिभक्त मुक्तिका निरादर करके भक्ति पर लुभाये रहते हैं। ७। भक्ति करते हुए विना यत्न और परिश्रमके संसारकी मूल अविद्याका नाश होता है। ८।

नोट—१ 'अस बिचारि'—जैसा ऊपर 'हरिमाया अति दुस्तर…। ११८।' वा 'अति दुर्लभ कैवल्य परमपद' से 'रहि न सकइ हरिभगति बिहाई' तकमें कहा वैसा। २ 'मुक्ति निरादरि०', यथा—'भगतिहीन गुन सब सुख कैसे।…भजनहीन सुख कवने काजा' ८४। ४-६।' देखिए। भुशुण्डीजीने स्वयं निरादर किया। उसीपर गरुड़जीने प्रश्न किया कि 'नहिं आदरेहु भगति की नाईं' ११५ (१०) देखो। उसीका उत्तर यहाँ दे रहे हैं कि कुछ मैंनेही निरादर नहीं किया, सभी सयाने हरिभक्त मुक्तिका निरादर करते हैं। श्रीरामजीने मुक्तिके निरादरसे ही भुशुण्डीजीको 'सहज सयाना' विशेषण दिया था,—'सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना' ८५ (२), ११८ (६, १०) देखिए। सयाने भक्त निरादर करते हैं और ये तो 'सहज सयाने' हैं तब क्यों न निरादर करते। ☞ यह 'नहिं आदरेहु' का उत्तर है। [रा० शं०—जो अनइच्छित आता है उसका निरादर होता ही है,—'जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सील सनेह न कानी']

पं०—यहाँ 'सयाने' से आचार्य्य भक्त अभिप्रेत हैं। 'निरादरि' अर्थात् उसकी इच्छा नहीं करते। यदि कोई कहे कि मुक्तिका निरादर अर्थात् त्याग करते हैं तो जन्मादिके दुःखके भागी होते होंगे, उसपर कहते हैं कि ये दुःख तो अविद्यासे होते हैं और भक्ति करनेसे अविद्या तो निर्यत्न नाश हो जाती है तब भक्तको यह दुःख कहाँ?

करु०—कैवल्यकी प्राप्ति अति कठिन दिखा आए। उसकी सिद्धिभी हुई तो जीव शुष्कमुक्ति सायुज्य को प्राप्त होता है। जैसे महदाकाश मठाकाश घटाकाश तीन कहे जाते हैं पर मठ और घटके टूटनेसे आकाश एकही है, जैसे बूँद-बूँद जल समुद्रमें मिलनेसे एकही है। जैसे दर्पणकी उपाधिसे मुख दूसरा देख पड़ता है, उपाधिके दूर होनेपर मुख एकही है—ज्ञानी इसी प्रकारकी एकता जीव ब्रह्मकी मानते हैं जीवकी वासना ध्वंस होनेसे एक मानते हैं। वही स्वस्वरूपकी शुद्धता, कैवल्यरूप जीव-ब्रह्मकी एकता, ज्ञानमार्गसे अति कठिनतासे हुई है। वही शुद्ध स्वस्वरूप श्रीरामचन्द्रकी साधनभक्ति करनेसे स्वाभाविक प्राप्त होता है तब पराभक्ति प्राप्त होती है तब जीव श्रीरामचन्द्रके सामीप्य सारूप्यको प्राप्त होता है। पूर्वाचार्योंका सिद्धान्त है कि 'भक्तिद्वारा जब जीव परविभूतिको प्राप्त होता है तब परमेश्वर उसकी शुद्धता देखकर पूछते हैं कि 'को भवान्' तुम कौन हो, तब जीव हर्षपूर्वक कहता है कि 'ब्रह्मास्मि त्वदासोऽस्मि'।

वि० त्रि०—'मुक्ति निरादर…' इति। (क) निरादरका भाव कि करगत मुक्तिसे भी पीछे हटते हैं, भक्तिके आनंदमें मग्न हैं, मुक्तिकी ओर देखनेके लिये उन्हें अवसर नहीं। यथा 'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं।' (ख) 'भगति लोभाने'—भाव कि भक्तिशास्त्रमें कार्पण्य विशेषका आदर है। जैसे कृपणको धनका लोभ होता है, धनके लिये सुखका त्याग करनेका उसका ऐसा स्वभाव पड़ जाता है कि वह मुफ्तमें मिले हुए सुखको भी नहीं भोगना चाहता, दूसरेके भोगको भी नहीं देख सकता, उसी भाँति भक्तको भी भक्तिका लोभ हो जाता है, उसे स्वयंभी मोक्षकी इच्छा नहीं रहती और दूसरोंको भी यह उपदेश देता है। यथा 'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।' (ग) श्रवणादिक नवधा भक्ति वर्णाश्रमाधिकारियोंके लिये है, परन्तु आचाण्डाल मनुष्य

मात्रके लिये जिस नवधा भक्तिका उपदेश है वह शबरीके प्रसंगमें कही गई है।

'बिनु जतन प्रयासा' का भाव कि ज्ञानद्वारा अविद्यानाशमें यत्नमें परिश्रम है, इसमें परिश्रम नहीं और न भक्ति छोड़ कोई दूसरा यत्न करना पड़ता है।

पं०—'भगति करत बिनु जतन प्रयासा' का भाव कि भक्ति तो यत्न करनेसे उत्पन्न होती है पर भक्ति होने पर अविद्याके नाशके लिए अन्य यत्न नहीं करना पड़ता। भक्ति मात्रही करनी पड़ती है।

वि० त्रि०—'संसृति मूल···' इति। (क) यद्यपि यह सृष्टि मायाकी रची हुई है, पर यह हरिकी प्रेरणासे रची गई है। यह बंधका कारण नहीं है। बन्धका कारण जीवकृत सृष्टि है। यह अविद्यासे है, यही दुःखरूपा है, इसीके कारण जीव भवकूपमें पड़ा है (ख) 'अविद्या'—यह पञ्चपर्वा है, इसकी पाँच अवस्थाएँ हैं—(१) अविद्या (अनित्य, अशुचि, दुःख, और अनात्ममें नित्य, शुचि, सुख और आत्मका भान)। (२) अस्मिता (चित् शक्ति और जड़-शक्ति बुद्धिकी एकात्मता) (३) राग (सुखके जानकारकी सुखानुस्मृतिपूर्वक सुख या सुखके साधनमें तृष्णा)। (४) द्वेष (दुःखके जानकारका दुःखानुस्मृतिपूर्वक दुःख या दुःखके साधनमें जो क्रोध होता है)। (५) अभिनिवेश (मरणभय)। (ग) 'अविद्यानासा' इति। भक्तिसे पंचपर्वा अविद्याका नाश हो जाता है। यथा—'हरिसेवकहि न ब्याप अविद्या', 'जन अभिमान न राखहिं काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ।', 'जौ मोहि राम लागते मीठे। तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत् का सन करहिं बिरोध।', 'सपनेहु नहिं कालहुते डरिये।' (क०)।

भोजन करिअ तृपिति*हित लागी। जिमि सो असन पचवइ† जठरागी॥ ९॥
असि हरिभगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥१०॥

अर्थ—जैसे भोजन तृप्ति (पेट भरने, भूखको संतुष्ट वा शान्त करने) और हितके लिए किया जाता है और उस भोजनको जठराग्नि (अपने आप, बिना हमारी चेष्टा के) पचाती ही है। ९। इसी प्रकार हरि भक्ति ऐसी सुगम और सुख देनेवाली है। ऐसा कौन मूढ़ होगा जिसे वह अच्छी न लगे ?। १०।

खर्रा—तृप्ति मुख्य फल है और पचाना आनुषङ्गिक फल है जो अवश्य उपाय बिना होता ही है, इसी तरह भक्ति का मुख्य फल भगवत्में प्रेमही है और मुक्ति आनुषङ्गिक फल है, आप हो जाती ही है।

शीला—भाव कि तृप्तिके लिए सुंदर भोजन सभी करते हैं, पचनेके लिए नहीं और जब जठराग्नि उसे पचा देती है तब सुख होता है, न पचे तो दुःख हो; वैसेही श्रीरामभक्ति करनेसे बिना यत्न और परिश्रमके संसार-दुःख अविद्याका नाश होता है।

पं०—ऊपर जो कहा कि भक्ति करनेसे अविद्याका नाश बिना यत्नके हो जाता है उसीका दृष्टान्त यह देते हैं। जैसे भोजन तृप्तिके लिए किया जाता है, भोजन करनेमें यत्न करना पड़ता है पर जठराग्निमें जो भोजन परिपक होता है उसमें कुछ यत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार हरिभक्ति अल्पयत्न करनेसे सिद्ध होने वाली है और इसमें सुखभी सब हैं।

करु०—भक्ति करनेसे अविद्या कैसे नाश होती है ? जैसे सुष्ठ अन्न बनानेमें भोजन अपनेसेही करना होता है पर पचानेका काम जठराग्नि का होता है वैसेही अपनेसे जिसका भजन किया जाता है वही संसृति मूलको बिना श्रम नाश कर देता है।

वै०—बिना यत्न किए अविद्या नाश हो जाती है जैसे सुन्दर भोजन तृप्तिके लिए किया जाता है, इच्छामें कुछभी कसर नहीं रखते, पर पेटमें जो जठराग्नि है वह आपही भोजनको पचा देती है वैसेही जो भक्ति करते हैं, उरमें प्रेमसे श्रीरामरूपको बसाये हुए वाणीसे नामका स्मरण करते, मुखसे गुणगान करते, कानोंसे गुणग्राम सुनते और हाथोंसे प्रभुका कैंकर्य कर रहे हैं, उन भक्तजनोंके धन धाम स्त्री पुत्र व्यापारादि

* 'तृप्ति' † 'पचव'—(का०)

सब व्यवहार संगही बना है। पर उसका विकार उनको बाधक नहीं होने पाता। वे सब सांसारिक व्यापार करते हुए भी अविद्यामें नहीं पड़ते, कारण कि श्रीरघुनाथजी उनके रक्षक हैं, वे सब बाधायें मिटा देते हैं। जैसे ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, रुक्मांगद, जनक, विभीषण आदि ऐश्वर्य भोग करते हुए भी निर्मल बने रहे।

वि० टी०—भाव यह कि प्राणी तो भोजन करता है परन्तु उसे पचाने वाला जठराग्नि परमेश्वर है जो मनुष्योंके हृदयमें रहता है, यथा—'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ गीता १५। १४।' इसी प्रकार भक्तोंके हृदयमें भजनके प्रभावसे परमेश्वर बसते हैं, वे उनको गृहस्थादि कर्म्मोंमें लिप्त होने नहीं देते।

पां०—भोजन अघाने और मुटानेके लिए मनुष्य करता है परन्तु पेटकी अग्नि उसे पचा देती है। ऐसेही रामभक्त जो कर्म करते हैं उन्हें भक्ति पचा देती है। दुर्बलताका दूर होना तथा शरीरमें बल होना 'हित' है। जठराग्नि उदरस्थ भोजनको पचाती है। उसीसे रस, रक्त आदि सातों धातु बनकर इस शरीर-यन्त्रका पोषण करते और बल-सम्पादन करते हैं।

वीरकवि—भाव कि जैसे भोजनका पचाना जठराग्निका सहज गुण है, तैसे सांसारिक कष्टोंका नाश करना हरिभक्तिका स्वाभाविक गुण है। यह उदाहरण का स्वभावोक्ति अङ्ग है।

☞ यहाँ भोजन, तृप्ति, जठराग्नि, और उसका भोजन पचाना, क्या हैं? भक्ति भोजन है, तृप्ति सुख (मोक्षादि) है, भक्ति में जो भवहरणि शक्ति है वह जठराग्नि है, जठराग्निका अन्नको पचा देना संसृतिमूल अविद्याका नाश होना है।

सि० ति०—हरिभजन सुन्दर भोजन है। प्रेम सहित भजन करते हुए इन्द्रिय अन्तः करण सहित जीवको उससे तृप्ति हुआ करती है, यथा 'कबहूँ कपि राघव आवहिंगे। मेरे नयन चकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहिंगे। मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग अंग भिन्न-भिन्न सुख छबि निरखि-निरखि तहँ तहँ छावहिंगे। गी० सुं० १०।' इन्द्रियोंको अपना विषय ग्रहण करना चिर-अभ्यस्त होनेसे सुगम एवं सुखदायी रहता है। भक्तिहीन विषय नरक देनेवाले हैं, अविद्यात्मक हैं। और वही विषय भक्तिके रूपमें अर्थात् श्रीरामके रूप देखने एवं उनके यश सुनने आदिमें श्रीराम - प्राप्ति - रूप मोक्षके साधक होते हैं भगवत्सम्बंधी दिव्य विषयसे इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं और प्रारब्ध वृत्तियाँ भी भक्ति रूपमें परिणत होकर समाप्त होती जाती हैं। विषयानुरागरूपी विकार भस्म होता जाता है, पचता जाता है। (भक्ति संबंधी व्यवहार भी अविद्यात्मक नहीं होता) भक्तिरूपमेंही परिणत हो जाता है। इसमें जठराग्नि रूपा इष्ट कृपा है।

वि० त्रि०—'अस हरिभगति....' इति। 'अस' दार्ष्टान्तसूचक शब्द है। भाव कि भोजनकी भाँति भजनकी व्यवस्था समझ लेनी चाहिए। जिस प्रकार इन्द्रियगम्य यह शरीर है, उसी भाँति अनुभवगम्य इस शरीरमें व्याप्त सूक्ष्म या मानसिक शरीर है। असली शरीर तो यही है, इसलिये इसको अन्तःकरण कहते हैं, स्थूल शरीर तो आयतन मात्र है। जिस भाँति स्थूल शरीरका धारक, पोषक और नाशक जठराग्नि है, उसी भाँति मानसिक शरीरका सर्वस्व सुमति है, यथा—'सुमति छुधा बाढ़इ नित नई'। जिस भाँति हित मित और पथ्य भोजनके जठराग्निद्वारा परिपाकसे शरीरका धारण पोषण और बल वर्धन होता है, उसी भाँति हरिभजनके परिपाकसे मानसिक शरीरका धारण पोषण तथा परम वैराग्यका उदय होता है। यथा 'जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई।' जैसे स्वयं भोक्ताको पता नहीं चलता और उसके भीतर भोजन पककर रस-रक्त-मांसादि बनकर शरीरपुष्ट किया करता है और बल बढ़ जाता है, वैसेही भक्तको भी पता नहीं चलता कि उसका किया हुआ भजन किस भाँति मानसिक शरीरका पोषण करता हुआ वैराग्य बलको बढ़ाता चला जा रहा है। जिस भाँति अग्नि दुष्ट होकर शरीरका अपकार करती है और दुर्बलता बढ़ाती है, उसी भाँति सुमति कुमति होकर मानसिक रोग उत्पन्न करती है और विषयाशा बढ़ाती है। जैसे भोजन न मिलनेपर जठराग्नि अन्नाभिलाषा, दुर्बलता उत्पन्न कर शरीरका ही नाश कर देती है वैसेही सुमतिमें भजनकी आहुति न पड़ने

पर वैषयिक सुखाभिलाष विषयाशा उत्पन्न करके मानसिक शरीरका सत्यानाश कर देती है। जिस प्रकार किसी भाँतिका भी भोजन न मिलनेसे मृत्यु होती है, वैसेही किसी प्रकारका भी भजन न करनेसे अर्थात् संसार और ईश्वर किसीका भजन न करनेसे मानसिक शरीरका भी पतन हो जाता है। जैसे चटनी, अचार आदि उत्तेजक पदार्थोंसे न पेट भरता है और न यथोक्त लाभ होता है, बल्कि तृषा बढ़ती है, उसी भाँति कामोपभोगसे वासना बढ़ती है, शान्ति कभी नहीं होती। यथा 'सेवत विषय बिबर्ध जिमि निति निति नूतन मार।' जैसे पेटकी जलन विना भोजनके नहीं जाती, वैसेही विषयकी जलन विना भजनके नहीं मिटती'। यथा 'जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं।'

'हरि भजन' कहा क्योंकि हरिभजनमें विशेषता यह है कि इनकी भाँति प्रीति रीतिका जाननेवाला कोई नहीं है। 'सुगम' से स्वादयुक्त तथा स्वाभिलाषाकी पूर्ति युक्त जनाय। 'सुखदाई' से फल सुखमय बताया।

नोट-१ (क) 'असि हरिभगति०'-अर्थात् जैसा 'भगति करत बिनु जतन प्रयासा' से यहाँ तक चार चरणोंमें कहा। (ख) यत्न-प्रयास-रहित होनेसे सुगम और संसृति-मूल-अविद्या-नाशक होनेसे सुखदाई कहा। (ग) 'को अस मूढ़ न जाहि सुहाई'। जो 'सयाने' हैं 'चतुर' हैं, उनको तो सुहाती ही है वे तो 'मुक्ति निरादर भगति लुभाने' और भक्ति 'मनि लागि सुजतन कराहीं'; अतः सिद्ध हुआ कि जिनको नहीं सुहाती वे 'सयाने' नहीं हैं। 'मूढ़' सयानेका उलटा है। सुगम सुखदाई वस्तु छोड़कर अति कठिन दुःखदाईके पीछे दौड़ना मूर्खता है। (घ) 'भक्ति सुगम' 'ज्ञान अगम','भक्ति सुखदाई और ज्ञानमें 'प्रत्यूह अनेका' तथा 'तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस'; ज्ञानको दुर्गम और दुःखदाई कहा।

दोहा—सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु रामपद-पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥
जो चेतन कहँ जड़ करै जड़हि करै चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहिं भजहिं जीव ते धन्य॥११६॥

अर्थ—हे उरगारि! सेवक-स्वामी (अर्थात् मैं सेवक हूँ और भगवान् रामचन्द्रजी मेरे स्वामी हैं) भावके विना संसारसे तरना नहीं हो सकता—ऐसा सिद्धान्त विचारकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलका भजन करो। जो चेतनको जड़ कर देता है और जड़को चेतन, ऐसे समर्थ रघुनाथजीको जो जीव भजते हैं वे धन्य हैं। ११६।

नोट-१ जीव ईश्वरका शेष है, ईश्वर शेषी है। यथा 'यस्य आत्मा शरीरं यस्याक्षर शरीरम्।', दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः परवानस्मि काकुत्स्थत्वे वर्षशतं स्थिते आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदास्मर ममैवांशः इत्यादि।'

समस्त प्रपंच ईश्वरका शरीर है, ईश्वर शरीरी है। यथा 'यस्य पृथिवी शरीरं, जगत सर्वं शरीरं ते।' शेष शेषीका, शरीर शरीरीका दास है ही। मानसमें अन्यत्रभी कहा है—'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह', 'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक', 'सेवक हम स्वामी सियनाहू'। (पं० रामपदार्थदास वेदान्ती। रामायणांकसे)।

वि. त्रि.—सेवक सेव्य भाव...' इति। (क) लाक्षाकी भाँति चित्तकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं, एक कठिन, दूसरी द्रव। चित्त स्वभावसे ही कठिन है, पर लाक्षाकी भाँति तापक द्रव्यके योगसे कुछ देरके लिये द्रव हो जाता है और उसके अयोगसे पुनः कठिन हो जाता है। करुणा, भय, प्रेमादि उस चित्तके लिये तापक हैं। भलीभाँति द्रवीभूत चित्तमें जिस वस्तुकी छाप पड़ जाती है वह कठिनावस्था प्राप्त होनेपर भी उसमें बनी रहती है। इसी छापको संस्कार, वासना या भाव कहते हैं। यथा 'परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिख लीन्हीं।' यह भाव ही विभाव, अनुभाव, संचारीभावसे पुष्ट होकर रसत्वको

प्राप्त होता है। (ख) भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुण ही ऐसे हैं कि उनके जीवके चित्तपर चढ़ते ही चित्तकी द्रवावस्था हो ही जाती है। अतः स्वाभाविक पहली छाप जो पड़ती है वह सेवक-सेव्य भावकी होती है। श्रीरामसे संबन्ध जोड़नेका मूल सेवक-सेव्य-भाव है। इसीको तदीय कहते हैं। (ग) 'भव न तरिय'—भाव कि सेवक-सेव्य-भाव ही भवसन्तरणका असाधारण साधन है, क्योंकि हरिमाया अति दुस्तर है, उसका पार करना क्रियासाध्य है ही नहीं। अतः जो अपने बलसे तरना चाहेगा वह उसीमें बहता फिरेगा, पार नहीं पहुँच सकेगा। यथा 'भवसिंधु अगाध परे नर ते पदपंकज प्रेम न जे करते।' जो सेवक-सेव्य-भावसे भगवान् की शरण हैं, वे उनके बलसे अनायास पार पा जायँगे। (घ) 'उरगारि' का भाव कि आप सर्पोंके शत्रु हैं, अतः आपके भक्तोंपर भी सर्पोंका विष काम नहीं करता; पर अलौकिक सर्पोंका विष आपपर भी काम कर जाता है। काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको सर्प कहा है। यथा 'और सकल सुर असुर ईस सब खाए उरग छहूँ। (ङ) 'भजहु रामपदपंकज' कहा क्योंकि ये चरण ही भव पार करनेके जहाज हैं। यथा 'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्। बा० मं० श्लो० ६।'

नोट—२ (क) 'सेवक-सेव्य-भाव', यथा—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे'—आ० ११ (२१) देखो। (ख) 'अस सिद्धांत' अर्थात् 'सेवक-सेव्य-भावबिनु भव न तरिय' यह सिद्धान्त है।

वै०—'चेतन कहँ जड़ करै...' इति। जैसे श्रीनारदजी चेतन थे, सो वे ऐसे जड़ हो गए कि अपने इष्टदेव ईश्वरपर भी क्रोध कर बैठे। यथा 'फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥ देहौं श्राप...। सुनत वचन उपजा अति क्रोधा। १। १३६। २।' से दोहा १३७ तक। श्रीध्रुवजी जड़ (अबोध पाँच वर्षके बालक) थे, उनके गाल पर शंख स्पर्शके साथ भगवान्ने उनको सर्वशास्त्रोंका ज्ञान दे दिया, सब विद्या उनके हृदयमें भर दी। यथा 'स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरिर्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः। कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले। भा० ४। ९। ४। स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः। तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः। ५।' अर्थात् ध्रुवजी हाथ जोड़े हुए प्रभुके सामने खड़े थे और स्तुति करना चाहते थे पर जानते न थे कि स्तुति कैसे करें। सर्वान्तर्यामीने उनके हृदयकी जानकर कृपापूर्वक अपने वेदमय शंखको उनके गालसे छुआ दिया। शंखका स्पर्श होते ही उन्हें वेदमयी दिव्यवाणी प्राप्त हो गई, और वे अत्यन्त भक्तिभावसे धैर्यपूर्वक श्रीहरिकी स्तुति करने लगे।

रा० प०, रा० प्र०—जड़हि अर्थात् मायाको, चेतन अर्थात् जीव। 'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव' यह जड़को चेतनवत् कर देना है। चेतन जीवको कठपुतलीसा नचाते हैं और जड़ मायाको अनन्त ब्रह्माण्ड रचनेका सामर्थ्य दे देते हैं।

वि. त्रि.—२ 'जो चेतन कहँ जड़...' इति। (क) जीव स्वभावसे ही ईश्वरका अंश होनेसे 'चेतन अमल सहज सुखरासी' है। वह मायाके वश होकर कीर-मर्कटकी नाईं बँध-सा गया। मायाके रजोगुण तथा तमोगुणके तारतम्यानुसार उसमें भी जड़त्वका तारतम्य भासने लगा। इसीको चेतनका जड़ होना कहते हैं। जड़भी स्वभावसे ही चेतन है, केवल मायाका पर्दा पड़नेसे वह जड़ बना हुआ है। उस पर्देके हटनेकी देर है चेतन तो वह है ही; यथा 'माया बस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी।' वह माया ही पर्देको पलटकर कभी अपेक्षाकृत चेतन और कभी जड़ बनाकर नचा रही है और स्वयं भी प्रभुके इशारे पर नाच रही है। इस विधिसे वह मायापति जड़को चेतन और चेतनको जड़ बनाता रहा है। (ख) 'अस समर्थ'—चेतनको जड़ और जड़को चेतन बनानेवाली सामर्थ्य सब सामर्थ्योंसे बड़ी सामर्थ्य है। अतः ऐसा सामर्थ्यवाला ही सबसे अधिक समर्थ है। चित्-शक्ति तो सर्वत्र ही समान रूपसे अवस्थित है, पर चेतनके अधिक विकाससे ही ब्रह्मदेव सबसे बड़े हैं और संकोचसे ही मशक छोटा है। अतः समर्थ वही है जो चेतनके संकोच-विकासका नियमन करता हो। यथा—'मसकहिं करै बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।'

(ग) 'रघुनायकहि' का भाव कि भगवान्‌ने अवतार तो अनेक धारण किये पर जड़को चेतन करनेकी सामर्थ्य जैसी श्रीरामावतारमें दिखलाई है वैसी अन्य अवतारोंमें नहीं दिखाई है।—'जेहि पद परसि तरी रिषिनारी। दंडक कानन पावनकारी।', 'चपल किये जलजान जेहि सचिव सुमति कपि भालु।' पुनः, 'रघुनायक' शब्दसे उनकी दानशीलता और करुणा दिखाई। (घ) 'भजहिं जीव ते धन्य' इति। जो श्रीरघुनाथजीका भजन करते हैं उनका कुलमात्र धन्य माना गया तब स्वयं उनका क्या कहना! यथा 'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुनाथ परायन जेहि कुल उपज बिनीत।'

नोट—३ (क) 'अस समर्थ'। मिलान कीजिये—'मसकहि करै बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।१२१।' तथा 'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।६।३४।८।' (ख) 'ते' से 'जे' वा 'जो' का अध्याहार ऊपरसे कर लेना होगा। (जे) 'जीव' अर्थात वे स्त्री पुरुष, शूद्र अन्त्यज, मनुष्य वा पशु, ऊँच नीच, कोई भी हों वे धन्य हैं। यथा—'सो कुल धन्य उमा सुनु जगतपूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत। १२७।' न भजनेवालोंको पूर्व कह आए हैं कि 'राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही।' ९६ (२-३) देखिए।

'अस समर्थ...धन्य' में ध्वनि यह है कि जो जड़को चेतन और चेतनको जड़ बना देनेको समर्थ है वह जड़चेतनकी ग्रंथि भी खोल देनेको समर्थ है, अतः जो उसका भजन करेंगे या करते हैं उनको भजन छोड़ अन्य कोई उपायकी आवश्यकता ही नहीं, भगवान् स्वयं ही उस ग्रंथिको खोल देंगे।

वै०—'भव न तरिय' तथा 'भजहिं जीव ते धन्य'। इसीसे 'अद्वैतके आचार्य कपिलदेवजीने भी बारम्बार भक्तिकी प्रशंसा की (श्रीमद्भागवतमें) और इस कालके अद्वैताचार्य श्रीशंकराचार्यजीने कहा है कि भेदबुद्धि दूर होनेपरभी, हे नाथ! मैं तुम्हारा हूँ, तुम हमारे नहीं। यथा—'अविनयमपनय विष्णो दमयमनः शमय विषयमृगतृष्णां भूतदयां विस्तारय तारय संसार सागरतः दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदेवन्दे। सत्यपिभेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वं सामुद्रोहि तरङ्गःक्वचन समुद्रो न तारंगः॥'

पं०—'चेतन करै...'—इसका एक अर्थ सर्वशक्तिताका साधारण है। दूसरा प्रसंगानुकूल अर्थ यह है कि जो ज्ञानके अभिमानसे अपनेको चैतन्य मानते हैं उनको जड़ अर्थात् विषयलंपट कर देता है और जो अपनेको जड़ अर्थात भूला हुआ मानते हैं उनको चैतन्य करता है, मुक्ति दे देता है।

पां०—भाव यह है कि मैं जड़वत् था सो मुझे भक्तिगुणसे चैतन्य कर दिया।

'ज्ञान-भक्तिवाद'

मा० हं०—'अपनी रामायणमें तुलसीदासजीने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही श्रेष्ठ माना है और साधकबाधक प्रमाणोंसे वही मत सिद्ध किया है।...इस वादके विषमें कुछ अधिक विवरणकी आवश्यकता ज्ञात होनेके कारण यह तुलनात्मक निरूपण किया जाता है। गोसाईंजीने एक उक्त वादको दिया हुआ तुलनात्मक संक्षेप इस प्रकारसे है—'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।...' इत्यादि। अब इसीका विचार करें। वस्तुस्थिति प्रत्यक्ष यही दिख रही है कि प्रस्थानत्रयी सदृश बड़े बड़े ग्रन्थोंपर जोर लगानेवाले व्याख्याता इधर देखो तो जान मारकर कहते जाते हैं कि इस संसारमें सब पापोंकी असली जड़ केवल एक अभिमान ही है, और उसके जैसा वैरी अन्य कोई है ही नहीं। परंतु उधर वस्तुस्थिति देखो तो ये व्याख्याता स्वयं ही अभिमानसे अधिकाधिक ग्रसित होते जाते हैं। इस स्थितिको देख सहजही शंका होती है कि यह प्रस्थानत्रयी सरीखे ग्रन्थोंका दोष है, अथवा इन व्याख्याताओंका? हमारे मतसे वह व्याख्याताओंका ही दोष है। इन व्याख्याताओंकी यह ज्ञाननिर्भरता केवल ही दिखावट की है। ज्ञान तो दूर ही रहा, केवल ज्ञानकी बातें भी पचानेकी कुंजी इन्हें मालूम नहीं रहती। इसी लिए जिसे वे ज्ञान समझते हैं उसका उन्हें अपचन होकर 'अहंकार जो दुःखद डहरुआ' है इनके तमाम जोड़ोंमें भर जाता है। ऐसा होनेका कारण स्पष्ट ही है। भक्तिके अतिरिक्त अहंकार छूट नहीं सकता, और अहंकार छूटे बिना ज्ञान

जम नहीं सकता। अतः भक्तिके अभावमें ज्ञान न जमकर अहंकार ही जमता जाता है। इसी कारण इन वेदान्तियोंका ज्ञानकी बातोंका अपचन होकर उनका अहंकार जोरसे बढ़ता जाता है। पश्चात् इस अहंकारकी वृद्धिका परिणाम स्वामीजीने ऊपर बतलाया जैसा होकर उनका (वेदांतियोंका) देह सूखे काठके सदृश कड़ा बन जाता।...यदि भक्तिशून्य ज्ञानका परिणाम अभिमान बढ़ानेमें न होता तो गीताका व्याख्यान संपूर्ण करनेपर श्रीकृष्णजीने अर्जुनको खासकर चेताया न होता कि 'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन'। १८। ६७।' अर्थात् तपस्वी होनेपर भी जो अभक्त हो उसे यह कदापि न सुनाना चाहिए। भक्ति शब्दसेही भज्य-भजकभाव और भज्यकी श्रेष्ठता और भजककी कनिष्ठता व्यक्त होती है। इस श्रेष्ठता और कनिष्ठताके भावका उत्कर्ष जिस प्रमाणसे भजकमें होता जावेगा उसी प्रमाणसे उसके अहंकारका अपकर्ष होता रहेगा। भक्तिका मुख्य प्रभाव यही है। कर्म, ज्ञान, आदि साधनोंसे अहंकारपर आघात न होकर प्रत्युत उसकी वृद्धिका ही विशेष संभव रहता है। भक्ति प्रारम्भसेही अहंकारको निगलती जाती है। 'मूले कुठारः' की शक्ति भक्तिको छोड़कर अन्य कोईभी साधनोंमें नहीं पाई जाती। सभी संतोंका मत है कि अल्पायासकर (श्रम बचानेवाला) और भूरिप्रद (बहुत लाभकारक) मार्ग यह एक ही है। स्वामीजी यही मत इस प्रकारसे स्थापित करते हैं—

'छूटइ मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए॥
प्रेम भगति-जल-बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुँ कि जाई॥'

भागवतका मत भी ऐसा ही ख्यापित है और गीता भी उसीको पुष्ट करती है। 'न तथा ह्यघवान् राजन्पूयेत तप आदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणः तत्पुरुषनिषेवया। भा० ६। १। १६।', 'न साधयति मां योगो न साख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता। भा० ११। १४। २०।', 'अपि-चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः। गीता ९। ३०।'

इन प्रमाणोंसे भक्तिका अहंकारनिर्दलनपटुत्वरूप (अहंकारको निकालनेवाला) अनितरसाधारण गुण हमारी समझसे सिद्ध हो चुका। गीताजीने उपर्युक्त मतका निदर्शन कर उसमें और भी यह मत जोड़ दिया है—'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ९।३१।' 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' और 'शश्वच्छांतिं निगच्छति' से भक्तिका क्षिप्रसिद्धिप्रदायित्व (त्वरित सिद्धि पहुँचाना) और भूरिप्रदत्व सिद्ध होते हैं। फिर भी 'न मे भक्तः प्रणश्यति' का तात्पर्य यह है कि अन्य साधनोंमें जो च्युतिकी भीति है उसका भक्तिमें नामनिशान भी नहीं है। और इसी कारण अन्य योगोंमें जो हानिका संभव है वह भक्तियोगमें कदापि नहीं रह सकता। सारांश क्षिप्रसिद्धि-प्रदायित्व भूरिप्रदत्व और साधन-च्युतिहीनत्व ऐसे तीन विशेष धर्म निष्पन्न हुए। ये तीन धर्म गोसाईंजीने तीन पृथक् प्रसंगोंमें दिखलाए हैं।

अल्पायासकरत्व—'जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई। ३। १६। २।'
भूरिप्रदत्व—'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा। ११६। ८।'
साधनच्युतहीनत्व—'साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू। २। २८९। ८।'

सूत्ररूपसे चौपाईमें जो कहा है कि साधन और सिद्धि दोनोंभी रामपद प्रेम ही है अर्थात् साधन और सिद्धि एक ही हैं, इससे समझना चाहिए कि जितना कुछ साधन बन पड़ा उतनी ही सिद्धि प्राप्त हुई। इससे यही सिद्ध हुआ कि जितनी भक्ति बन जाय उतनाही वह एक अविनाशी संस्कार हो जाता है। अर्थात् साधनच्युति (साधनसे पतन) का प्रश्न शेष नहीं रह सकता। श्रीधरस्वामीजीने भी 'कैवल्य संमतपथस्त्वथ भक्तियोगः' इस भागवती श्लोककी टीकामें अपना अभिप्राय इसी प्रकारसे दिखलाया है। अवांतर संतोंके अनुसार गोसाईंजीभी भक्तिका और एक विशेष धर्म मान्य करते हैं। वह अन्यसाधननैरपेक्षत्व (केवल स्वतंत्र)

है। उसे उन्होंने इस प्रकार प्रगट किया है—'सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना ॥' इसी मतको भागवत 'केचित्केवलया भक्त्या' और योगसूत्र 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इत्यादि पुष्टि देते हैं।

☞ ज्ञान-सिद्धान्त-प्रकरण समाप्त हुआ।

'भक्ति-चिन्तामणि'

कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई ॥ १ ॥
रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर ॥ २ ॥

अर्थ—ज्ञानका सिद्धान्त मैंने समझाकर कहा (अब) भक्ति (रूपिणी) मणिकी प्रभुता सुनिए। १। हे गरुड़! श्रीरामभक्ति (रूपिणी) सुंदर चिंतामणि जिसके हृदयके भीतर बसे। २।

नोट—१ गरुड़जीका वचन है कि 'कहहु बुझाइ' 'कृपानिधि मोही। ११५। ८।', अतः भुशुण्डिजीके 'कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई' इस वाक्यसे यहाँ ज्ञान-सिद्धान्तका उपसंहार जनाया। 'सकल कहहु ११५। ११।' के सकलमेंसे एकको यहाँ तक कहा, अब आगे भक्तिको चिन्ता-मणिके रूपक द्वारा वर्णन करते हैं। 'सुनहु' से दूसरे प्रसंगका आरंभ जनाया।

करु०—'बुझाई' में एक भाव यह भी ध्वनिसे निकलता है कि मैंने वह सब कहा जिस प्रकार ज्ञान (दीपक) बुझ गया।

वि० त्रि०—'कहेउँ ज्ञान सिद्धांत···प्रभुताई' इति। (क) ज्ञानका सिद्धान्त कहा पर भक्तिकी प्रभुता कहते हैं। भाव कि सिद्धान्त तो दोनोंका एकही है, यथा 'भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।' अतः भक्तिका सिद्धान्त पृथक् नहीं लिखते, केवल प्रभुतामें भेद है उसीका कथन करते हैं। (ख) 'बुझाई' का भाव कि वह सिद्धान्त न तो कहते बने न समझते; अतः दृष्टान्त दे-देकर इस ज्ञान दीपक प्रसंगमें समझाकर कह दिया। (ग) 'बुझाई कहेउँ' कहकर ज्ञानप्रकरणकी समाप्ति कही। (घ) 'भगति मनि'—मणि कहनेका भाव कि ममताके तागोंके संसारसे छूटकर भगवच्चरणोंमें लग जानेसे मन खींचातानीसे बचकर स्थिर हो जाता है, तब उसकी दशा अभिजात मणिकीसी हो जाती है। जिस भाँति स्फटिकमणि अपने उपाश्रयके रंगसे रँग जाती है, जवाकुसुमके सन्निधानसे लाल प्रतीत होने लगती है, इसी भाँति ग्रहीता पुरुषके आलंबनसे उसीके रंगमें रँग जाती है, इसीको तत्स्थतदञ्जनता सम्पत्ति कहते हैं। ममताके भगवच्चरणोंमें बँधनेसे मनभी भगवान्‌के रंगमें रँग जाता है। इसी लिये भक्तिको मणि कहा। (ङ) प्रभुताई=करने, न करने और अन्यथा करनेका सामर्थ्य।

वै०—'सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई'। प्रभुताई=ऐश्वर्य्य। वह यह कि ज्ञानदीपक सबाध्य है, स्वरूपतः सामान्य है और भक्ति मणि अबाध्य, विशेष स्वरूपतः अखण्ड, अजर, अमूल्य और सदा एकरस प्रकाशमान है। अब भक्तिमणिकी जाति, स्वरूपतादि सब गुण कहते हैं।

रा० शं०—चिन्तामणि चिन्तित वा वाञ्छित पदार्थकी देनेवाली है इसीसे गुण तथा स्वरूपसे सुन्दर कहा।

वि० त्रि०—'राम भगति चिंतामनि···' इति। (क) भक्ति व्यर्थ नहीं जाती चाहे जिस भाँतिकी हो। जो जिसको भजता है उसीको प्राप्त होता है। भजनीयमें जितना गुणोत्कर्ष होता है, भक्तिकी महिमा भी उतनीही बढ़ती है। श्रीराम ब्रह्म हैं, अतः रामभक्तिमें उत्कर्षताकी पराकाष्ठा है। (ख) मणिके चार गुण हैं—जाति, शुचिता, अमूल्यता और सुन्दरता। यथा 'मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती।' यहाँ चिन्तामणि कहकर दिव्य जाति बतलाई। और वह अमूल्य तो है ही। 'असन बसन सब बस्तु बिबिध बिधि मनिमहँ बस जैसे। दोहावली।', जिसमें सब कुछ बसे उसका मूल्य क्या? इसी भाँति रामभक्ति चिन्तामणिमें सब शक्ति है। वह आर्त का संकट हरती, अर्थार्थीको अणिमादि देती, जिज्ञासुको गूढ़ गतिका

ज्ञान प्रदान करती और ज्ञानीके ज्ञानको अचल करती है। अन्य देवताओंकी भक्ति मणि है पर रामभक्ति सब कुछ देती है इससे चिन्तामणि है। (ग) 'सुंदर'—भाव कि मणिसे पुरुषकी शोभा होती है, वैसेही रामभक्तिको हृदयमें धारण करनेसे पुरुषकी शोभा होती है। यथा 'सोह सैल गिरिजा गृह आए। जिमि जन रामभगति के पाए।'

वै०—'बसै' का भाव कि हृदयमें श्रीरामानुराग सदा स्थिर होकर बना रहे। [भक्ति अव्यभिचारिणी होनी चाहिए, यह जनाया। वि० त्रि०)]

वि० त्रि०—'गरुड़' का भाव कि आप स्वयं भगवान् गरुड़ध्वजको पीठपर चढ़ाये घूमते हैं, सो आपको भी मोह हो गया। अतः शारीरिक भजन यथेष्ट नहीं है। भक्तिको हृदयके भीतर स्थान देनेसे फिर मोह नहीं होता। 'उर अंतर' का भाव कि बाह्यलिङ्ग-धारण अकिञ्चित्कर है। इन शब्दोंसे रामभक्तिकी अलौकिक सुंदरता कही। मणि उरके ऊपर शोभा देती है और रामभक्ति भीतर बसकर शोभा देती है।

परम-प्रकास-रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती ॥ ३ ॥

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥ ४ ॥

अर्थ—दिन रात वह परमप्रकाश रूप रहता है। उसको दीपक, घी या बत्ती कुछ भी न चाहिए। ३। मोहरूपी दरिद्र पास नहीं आता, न लोभ रूपी पवन उसे कभी बुझाता है। ४।

नोट—१ (क) 'परम प्रकास'। ज्ञानदीपकको 'तेज राशि' और उसकी शिखाको 'परम प्रचंड' कहा था, उसीकी जोड़में यहाँ 'परम प्रकास रूप' कहा। ['परम' से 'सहज विना यत्नका' भी जनाया-रा० प्र०]। (ख) 'दिन राती' का भाव कि दीपक तथा साधारण मणियोंका प्रकाश सूर्य्यके प्रकाशमें लय हो जाता है, रातहीमें उनका प्रकाश होता है, दिनमें नहीं। और, भक्ति-चिन्तामणिका प्रकाश दिनरात सदा एकरस बना रहता है।

वै०-१ 'परम प्रकास रूप०'। भाव यह कि भक्त हृदयमें रघुनाथजीका रूप बसाये हुये हैं इसीसे उस रूपका प्रकाश सहजही हृदयमें फैला हुआ है। यथा 'भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू। २। २९५। ७।' वहाँ सब बातोंका ज्ञान हृदयमें बना रहता है इसीसे वहाँ समता, दीवट, शानघृत, आदि कुछ न चाहिये। प्रभुकी माधुरी देख सब इन्द्रियोंकी वृत्ति तथा मन चित्तादि सब बटुरकर आपही चकोरवत् आसक्त रहेंगे किसीके थिर करनेकी जरूरत न रह जायगी।—आ० १२ देखो। यह प्रकाश गुण है। २—मोहको दरिद्र कहा, दारिद्र्य भारी दुःख है वैसेही मोहकृत अज्ञता दुःख है।

वि० त्रि०—'परम प्रकासरूप'—मणिकल्प चित्तमें जैसा उपाश्रयका प्रकाश होता है, वैसाही प्रकाश आता है। श्रीरामजी परमतत्व होनेके कारण परम प्रकाशमय हैं, यथा 'जोगिनि परमतत्त्वमय भासा। सात सुद्ध इव परम प्रकासा।' अतएव उनमें लगा हुआ चित्त भी परमप्रकाशरूप हो जाता है। इसी लिए राम भक्तिको परमप्रकाशमय कहा। 'दिन राती'—मणि रातको तो उजेला करतीही है, दिनको सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे और भी चमकने लगती है। वैसेही रामभक्ति मोहतमका नाश करती हुई तो शोभित होती ही है; भगवत्-साक्षात्कारके समय और भी देदीप्यमान हो उठती है, क्योंकि वही उसके अत्यंत उत्कर्षका समय है, यथा 'सुनि प्रभु बचन मगन सब भये। को हम कहाँ बिसरि तन गये।'

नोट—२ 'नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती'। ज्ञानके रूपकमें विज्ञानमयरूपी दीपक, शानरूपीघृत और तुरीयारूपी रूईकी बत्तीकी आवश्यकता कही, उनके एकत्र करनेपर तब आत्मानुभव सुखरूपी प्रकाश प्राप्त हुआ और यहाँ उनकी सहायताकी आवश्यकता ही नहीं। यह भक्ति चिन्तामणि सहजही परम प्रकाश रूप है, उसको ज्ञान विज्ञान की अपेक्षा नहीं। यथा 'सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना।' ये कुछ न चाहिये, क्योंकि ज्ञानका दीपक बाह्यान्तर उपायसे सिद्ध हुआ है और मणिरूप भक्ति निरुपाय सिद्ध

है, केवल उपायशून्य शरणागतिसे परमेश्वरकी कृपासे भक्तिमें स्वयं प्रकाश निरुपाधि है । (करु०)]

नोट—३ 'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा' । (क) चिन्तामणि दरिद्रताका नाशक है, जिसके पास चिन्तामणि है उसे तो मनोरथ करतेही अर्थ धर्म काम प्राप्त होते हैं तब वहाँ दारिद्र्य कैसे आ सके ? (ख) ज्ञानके प्रसंगमें 'मोह आदि तम मिटै' कहकर जनाया कि वहाँ मोह था सो कुछ देरके लिए सिमिटकर दीपकके तले आ गया और यहाँ 'नहिं आवा' से भक्तिकी उत्कृष्टता दिखाई कि मोह पासही नहीं आता, मिटानेकी तब बात ही क्या ? वहाँ अविद्याके अंचलवातसे तथा विषय-समीरसे दीपक बुझ जाता है, यहाँ बात पास आनेपर भी नहीं बुझा सकता ।

करु०—ज्ञान-पुरुष और माया-स्त्री दोनोंको मोहरूपी दारिद्र्यसे सम्बन्ध रहा है और 'ज्ञान विषे भीनी लोभ-वासनारूप पवन' उलझ गया है और भक्ति चिन्तामणि विषे (के सम्बन्धमें) मोहका कारणही नहीं है, इसे लोभ-पवन बुझा नहीं सकता क्योंकि जो कुछ यहाँ आता है वह रामार्पण होनेसे निर्विघ्न है ।

पं०—अर्थात् भक्तिके प्रभावसे मलिन संकल्प उपजनेही नहीं पाते ।

रा० प्र०—'और मोह तम दरिद्र है प्रकाश लक्ष्मी' यह लोकोक्ति है ।

वै०—ज्ञान-दीपकमें अनेक भाँतिके देहसुखको लोभवासनादि पवन बुझा देती है । वह लोभरूप वात वा बयारि इस मणिके प्रकाशको नहीं बुझा सकती । अर्थात् जब संसारके सारे व्यवहारमें भक्ति अमल बनी रहती है, वहाँ लोभ भी बाधक नहीं होता, क्योंकि भक्त तो सभी व्यापार रघुनाथजीका ही मानते हैं, लोभ भी श्रीरामजीके ही हेतु है, भक्तको उससे क्या वास्ता ?

पं० श्रीकान्तशरण—मोह देहाभिमानको कहते हैं, इसमें दरिद्रता यह है कि शरीर-पोषणके लिये संसार भरकी वस्तुओंसे भी मनोरथ-पूर्त्ति नहीं हो सकती । कुछ न कुछ कमी रूपी दरिद्रता रहती है । वह मोह भक्ति-मणिके पास भी नहीं आता, क्योंकि भक्तिके द्वारा भक्तके इन्द्रिय अन्तःकरणको अहर्निशि दिव्य सुख मिला करता है, जैसे चिन्तामणिसे अर्थ, धर्म, काम प्राप्त होते रहते हैं । इन्द्रियोंको जब दिव्य भोग मिलता है तब वे प्राकृत विषयोंका लोभ क्यों करेंगी । यथा 'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं । विषय भोग बस करइ कि तिन्हहीं । २ । ८४ ।'

वि० त्रि०—'मोह दरिद्र···' इति । (क) मोह दरिद्र है क्योंकि उसके भाग्यमें 'मुनिजनधन' (राम) नहीं है । इसीसे वह चोरी करता है; यथा 'मत्सर मान मोह मद चोरा ।' मदादि शलभ होनेके कारण चोरीमें सहायक होते हैं, अतः इनकी भी चोरोंमें गणना है । उजालेमें चोरी नहीं करते बनता, इस लिये वे दीपकको बुझा देते हैं । (ख) 'निकट नहिं आवा' भाव कि जितनी ममताकी वृत्तियाँ हैं वे तो एकीभूत होकर श्रीराम-पदमें लग गईं, और ममताकी वृत्तियोंको ही संसारमें लगाकर मोह अपना अधिकार जमाता है । अतः अब उसे निकट जानेके लिए मार्ग ही नहीं रह गया । (ग) 'लोभ बात' से तात्पर्य विषयसमीरसे है । सगुण-ब्रह्म श्रीराममें यावत्-विषय दिव्यातिदिव्यरूपमें वर्तमान हैं, अतः उनमें लगी हुई वृत्ति तुच्छ विषयोंकी ओर नहीं दौड़ सकती । यथा 'देव देखि तव बालक दोऊ । अब न आँखि तर आवत कोऊ ।', 'रामु काम सत कोटि सुभग तन । ६१ । ७ ।' से 'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै । ९२ ।' तक । (घ) 'नहिं ताहि बुझावा'—भाव कि रामरंगमें रँगे हुए मनपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता । यथा 'सुनु सठ भेद होइ मन ताके । श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके ।', 'सूर स्याम की कारी कमरिया चढ़ै न दूजौ रंग ।'

प० प० प्र०—'परम प्रकासरूप···' इति । भक्ति चिन्तामणि सहज ही परमप्रकाशरूप है, वह अन्य साधन सापेक्ष नहीं है—'सो सुतंत्र अवलंब न आना', 'भक्ति सुतंत्र सकल गुन खानी' । श्रीरामजीके संबंधमें कहा है कि 'सहज प्रकासरूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना । १ । ११६ । ६ ।' और भक्ति सहज परम प्रकाशरूप है । इससे सिद्ध हुआ कि भक्ति भगवान्से भी श्रेष्ठ है । नामवन्दना प्रसंगमें नामको रामसे श्रेष्ठ बता आये हैं । अयोध्याकांडमें 'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी' से गुरुकी श्रेष्ठता कही है और आगे

'राम तें अधिक राम कर दासा' से रामभक्तको श्रेष्ठ कहा है। इस तरह रामनाम, रामभक्ति, रामभक्त और गुरु चारोंको श्रीरामजीसे श्रेष्ठ सिद्ध किया, कारण कि श्रीरामजी इन चारोंके वशमें रहते हैं—'भगति अवसहि बस करी'।

'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा' इति। 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला' है, अतः जब मूलही नहीं तब अंकुर, तरु, शाखा, पल्लव, फल आदि कब पैदा होंगे। सभी दुःखसुखादि द्वन्द्वोंका अभाव हो जायगा।

प्रबल * अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥ ५॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसै भगति जाके उर माहीं॥ ६॥

अर्थ—अविद्याका प्रबल अंधकार मिट जाता है। समस्त (मदादि) पतंगसमुदाय हार बैठता है। ५। कामादि दुष्ट उसके निकट नहीं जाते कि जिसके हृदयमें भक्ति बसती है। ६।

नोट—१ ☞ मोहदरिद्रके साथ निकट नहिं 'आवा' कहा और कामादिके साथ 'निकट नहिं जाहीं' कहा। इस भेदमें क्या भाव है? मिलान कीजिए—'अति खल जे बिषई बक कागा। एहिं सर निकट न जाहिं अभागा॥ संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हियँ हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥ १। ३८। ३-५।'

नोट—२ 'प्रबल अविद्या तम···' इति। (क) ज्ञानदीपकमें अविद्याके परिवारका नाश कहा था। यथा 'प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा। ११८। ३।' और भक्ति-चिन्तामणिसे स्वयं अविद्याका नाश कहा, यह विशेषता है। [भक्तोंके अविद्यात्मक भाव 'मैं' 'मोर' प्रभुको अर्पित रहते हैं, यथा 'मम नाथ! यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव। आलवंदार स्तोत्र ५६।' जब वह अविद्या ही नहीं रह गई तब उसका परिवार कहाँसे आवेगा। (सि० ति०)। प्रबल अर्थात् जो किसीके मिटाये नहीं मिट सकता। अविद्या-तम अर्थात् देहव्यवहारमें ममत्व, उसे अपना मानना इत्यादि प्रबल अविद्यातम सहजही मिट जाता है; भाव कि यावत् संपत्ति है वह सब रघुनाथजी की है, यह बुद्धि हो जाती है। यही प्रकाश है। (वै०)। पुनः, 'प्रबल' का भाव कि तम तो नित्य ही मिटा करता है, पर यह अविद्या-तम बड़ा प्रबल है, यह अनादिकालसे आज तक चला आ रहा है, अगणित उपाय जन्मजन्मान्तरसे करते चले आये हैं पर यह न मिटा। यह अविद्यातम अभिमान है, यथा 'त्यागहु तम अभिमान'। श्रीरामपदारविन्दके आश्रित होनेसे वे इसको मिटा देते हैं। यथा 'ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी।' (वि० त्रि०)]

(ख) 'सकल सलभ'। ज्ञानदीपक प्रसंगमें 'मदादिक' को शलभ कहा। यहाँ नाम न देकर उन्हींको यहाँभी शलभ सूचित किया। वहाँ दीपकका जलना कहा, अतः उसमें पतंगोंका जलना कहा और यहाँ 'मणि' कहा अतः यहाँ शलभका जलना न कहा वरन् 'हारहिं' कहा। ['हारहि' से यह भी जनाया कि फिर वे कभी पास आने और उसे बुझानेका प्रयत्न एवं साहस भी नहीं करते। नारद, गरुड़ और भुशुण्डीमें अविद्यामाया नहीं है, विद्या माया थी। (प० प० प्र०)। 'हारहिं सकल सलभ०' अर्थात् मणिकी ओर उद्यत नहीं हो पाते। भाव कि भक्तिका प्रभाव यह है कि मलिन संकल्प उपजने नहीं पाते। (पं०)। पुनः भाव कि जैसे मणिदीप शलभ को जला नहीं सकता, पर स्वयं बुझता भी नहीं, शलभ समुदाय जोर लगाकर हार जाते हैं, वैसेही भक्ति मद मानको नष्ट नहीं कर सकती, यथा 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।', पर मद-मानादि उसका अपकार भी नहीं कर सकते। यथा 'मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहु ओरा।' (वि० त्रि०)] कामादि खल हैं। ये अकारणही मुनियोंके मनमेंभी विकार उत्पन्न कर देते हैं, यथा—'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ। ३। ३८।' कामादि अर्थात् काम और क्रोध 'निकट नहिं जाहीं' तब हानि क्या पहुँचा सकते हैं। [भक्तोंकी समस्त कामनायें तथा

* 'अचल'—(रा० प्र०)। रा० प्र०-कार लिखते हैं कि 'प्रबल' पाठमें जीवका अविद्या तम आवेगी।

इन्द्रियाँ भगवान्मेंही लगी रहती हैं। वे समस्त सुखकारी पदार्थोंका भी दास्य-भावसे प्रसाद सेवन करते हैं, विषयभोगकी इच्छासे नहीं। यथा 'कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया··· । भा० ९ । ४ । २० ।' अतः दूसरी (विषय)कामना वहाँ कहाँसे आ सके। (वै०)। पुनः भाव कि विषयका ध्यान करनेसे उसका संग होता है और संग होनेसे काम होता है। भक्त अनवरत अपने प्रभुके ध्यानमें रहता है, उन्हींमें उसका चित्त लगा रहता है, अन्य विषयोंकी ओर उसका ध्यानही नहीं आकर्षित होता और बिना ध्यानके संग नहीं होता और बिना संगके कामकी उत्पत्ति ही नहीं होती; अतः काम सदा दूरही रहता है। क्रोधकी उत्पत्ति तो कामके भी बाद होती है अतः वह और भी दूर है। इसीसे कहा कि 'निकट नहीं जा सकते।' 'उर माहीं' का भाव 'बसै गरुड़ जाके उर अंतर' उपक्रममें लिखा गया है। (वि. त्रि.)]

पं०, रा० प्र०—'खल कामादि' चोर हैं, यथा—'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा।··· तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा॥ अति करहिं उपद्रव नाथा। वि० १२५।' चोरोंको चाँदनी नहीं भाती,—'चोरहि चाँदनि राति न भावा।' अतः इनका निकट न जाना कहा। चोर प्रकाशसे डरते हैं वैसे ही भक्तिकी महिमा देखकर कामादिक निराश हो जाते हैं।

गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥ ७॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥ ८॥

अर्थ—विष-अमृतके समान और शत्रु मित्र हो जाता है। उस मणिके बिना कोई सुख नहीं पाता। ७। भारी मानस रोग, जिनके वश होकर सब जीव दुःखी रहते हैं, उसको नहीं व्यापते। ८।

नोट—१ 'गरल सुधा सम०' कहकर जनाया कि जिसके हृदयमें भक्ति है उसपर श्रीरघुनाथजी कृपादृष्टि रखते हैं, यथा—'गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सित लाई॥ गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही। सुं० ५। २-३।'

वि. त्रि.—ब्रह्मसृष्टिमें गुण-अवगुण मिला हुआ है। यहाँ विषमें अमृत और अमृतमें विष है, शुद्ध विष या शुद्ध अमृत कोई पदार्थ नहीं है। अतः सुखबुद्धिसे ग्रहण किये हुए पदार्थमें भी दुःख मिलता है। यही जगत्का नियम है। परन्तु जिसके हृदयमें भक्ति बसी है, वहाँ यह नियम अन्यथा हो जाता है। उसके लिये विष भी अमृतके समान हो जाता है। उसकी भावना दृढ़ होनेके कारण वस्तुविशेष अपने हानिकारक गुणको प्रकट करनेमें असमर्थ हो जाती है। यथा 'पापी है बाप बड़े परिताप ते आपनी ओरते खोरि न लाई। भूरि दई विष मूरि भई प्रह्लाद सुधाई सुधाकी मलाई।' 'अरि हित होई'—भाव कि चाहे वह बुराई ही करे, पर उससे भक्तका उपकार ही होता है। यथा 'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिले राम तुम्ह समन बिषादा।' 'गरल सुधा सम' कहकर जड़का गुण-परिवर्तन और 'अरि हित होई' से चेतनमें भी गुणोंका परिवर्तन कहा। भक्तिकी दृढ़भावनासे चेतन-शक्ति जाग उठती है, उसके सामने जड़-शक्ति की कुछ नहीं चलती। यथा 'काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ, पितु काल कराल बिलोकि न भागे। राम कहाँ? सब ठाउँ में, खंभ में? हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे।'...

पां०, वै०—चिन्तामणिका गुण है कि जो धारण करे उसे विष बाधा नहीं करती और कैसा भी शत्रु क्यों न हो सम्मुख आते ही शत्रुता छोड़ देता है। भक्तिमणिका प्रभाव कि लोमशशाप विषवत् था सो अमृत सम हो गया, वे शत्रु हो गए थे सो मित्र हो गए।

पं०—चिन्तामणि धारण करनेवालेको रोग नहीं होता। भक्ति-चिन्तामणिवालेको मानस-रोग नहीं होते।

सि. ति.—इन्द्रिय विषय ही विष हैं; यथा 'नर तन पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं।' इन्द्रियों के विषय भगवानको ही बनाना भक्ति है, वे ही विषय भक्तिरूपमें अमृत होकर जन्म-मरणके नाशक होते हैं। इन्द्रियोंके साथ मन ही विषयी होनेसे जीवका शत्रु है और वही भक्तिनिष्ठ हो

जाने से मित्र हो जाता है; यथा 'आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। गीता ६। ५।'

रा० प्र०—भाव कि अहंकार जो विषरूप है सो दास बन जाता है और कामादिक शत्रु भक्ति-वैराग्य-रूप हो जाते हैं। अहंकार और विष दोनोंका स्थान सिर है।

नोट—२ 'तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई' इति। श्रीरामजी आनंदसिंधु सुखराशि हैं, उस आनंद सिंधुके एक सीकरसे त्रिलोकीका सुपास होता है, अतः उन सुखराशिकी भक्तिके बिना सुख कहाँ? यथा 'सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाय पिराने। सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने॥ यह दीनता दूरि करिबे को अमित जतन उर आने। तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने। वि० २३५।','ऐसी मूढ़ता या मन की। परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की॥ धूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की। नहिं तहँ सीतलता न बारि पुनि हानि होति लोचन की॥...'।

३ 'ब्यापहिं मानसरोग न भारी।...' इति। (क) मानस रोगोंका विस्तृत वर्णन बखाने स्वयं गरुड़जीके प्रश्न पर आगे किया है। इनको 'भारी' कहा, क्योंकि ये असाध्य हैं, किसी चिकित्सासे नहीं जाते। यथा—'एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि। १२१।' मोह समस्त मानस-रोगोंका मूल है, यथा 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। १२१। २६।' जब वह 'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा' तब उसके कार्य कब व्याप सकते हैं। (ख) 'जिन्ह के बस सब जीव दुखारी', यथा 'जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा। १२१। २८।', 'पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि। १२१।' न व्यापना कहकर जनाया कि उसको सहज ही समाधि लग जाती है। [(ग) 'मानसरोग नहीं व्यापते' का भाव कि वे भोगरूप हो जाते हैं। ये विष हैं सो अमृत हो जाते हैं, जैसे शोधी संखिया। उस मणिके पास रहनेसे भारी रोग नहीं व्यापते जैसे बेलकी जड़से सर्प पास नहीं आते]।

रामभगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥ ९॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥१०॥

अर्थ—श्रीरामभक्तिरूपी मणि जिसके हृदयमें बसती है उसको (जाग्रत्‌की कौन कहे) स्वप्नमें भी लेश-मात्र दुःख नहीं होता। ९। संसारमें वही लोग चतुरोंमें श्रेष्ठ हैं जो मणिके लिए पूर्ण यत्न करते कराते हैं।१०।

वि. त्रि.—'रामभगति मनि उर बस...' इति। (क) 'रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर।' कहकर भक्तिमणिका कर्तृत्ववर्णन प्रारम्भ किया, फिर 'बसै भगति जाके उर माहीं' से भक्ति मणिकी अन्यथा कर्तृत्वशक्तिका निरूपण आरम्भ किया, अब 'रामभगति मनि उर बस जाके' से अकर्तृत्व शक्तिका वर्णन करते हैं। 'उर बस जाके' का भाव यह है कि करने अथवा अन्यथा करनेसे भक्तिमें कोई विकार नहीं आता, क्योंकि स्वयं भक्ति कुछ करने नहीं जाती, उसके हृदयमें अवस्थान करने मात्रसे सब कुछ हो जाता है। सब कुछ करके भी नहीं करना यही अलेपवाद है। (ख) 'दुख लवलेस न'—कर्तृत्वा-भिमान होनेसे ही कर्मफल भोगना पड़ता है। भक्तिमणिके प्रभावसे कर्तृत्वाभिमान निःशेष हो जाता है, क्योंकि भक्त सर्वात्मना भगवान्‌पर निर्भर है, उसने अपनी स्थितिको परमेश्वरके अर्पण कर रक्खा है, उसकी दृढ़ धारणा होती है कि परमेश्वर ही सबका प्रेरक है और जीव उसके हाथकी कठपुतली है। यथा 'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं।', 'नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत।' (ग) 'सपनेहु'—भाव कि जाग्रतके संस्कारानुसार ही स्वप्न होता है। भक्तको उपर्युक्त धारणा ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्नमें भी उसे कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अतः स्वप्नमें भी दुःखकी संभावना नहीं रह जाती।

रा० शं०—तीन प्रकारके चतुर उत्तरोत्तर यहाँतक दिखाये गए।—१ विज्ञानी मुनि जो भक्तिकी याचना करते हैं, मोक्षसुख प्राप्त कर चुके हैं। २ 'हरिभक्त सयाने' जो मुक्तिका निरादर करते हैं और भक्तिमें लुब्ध हैं। ३ चतुरशिरोमणि—जो मुक्तिका न निरादर ही करें न आदर, उसमें उदासीनभाव है, उसके

लिए अपना किञ्चित् भी समय नहीं देते केवल भक्तिके लिए यत्न करते।

नोट—'सुजतन कराहीं' इति। भाव कि तनमनधनसे इसीमें लगे हैं। इससे उसको परम अलभ्य जनाया। क्या यत्न करते हैं, कैसे वह प्राप्त होती है, यह आगे कहते हैं। मणि पर्वत आदिकी खानिमें होती है, यत्नसे मिलती है, इसीसे भक्तिमणिकी प्राप्तिके लिए 'सुयत्न' करना कहा। ☞ जो भक्ति करते हैं, जो भक्तिकी याचना करते हैं वे सब चतुर, सयाने वा प्रवीण हैं। यथा—'सुनु बायस तैं सहज सयाना।...सब सुख खानि भगति तैं माँगी।', 'रामहिं भजहिं ते चतुर नर' और 'चतुरसिरोमनि०'।

वि० त्रि०—'चतुरसिरोमनि ते...' इति। (क) जिसमें अल्पायाससे महान फल हो, ऐसा उपाय करनेवाले ही चतुर हैं। अतः आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चतुर ठहरे, क्योंकि 'चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा।' परन्तु फलकी महत्तापर भी जिसका ध्यान गया हो वह चतुरशिरोमणि है। पुनः, मोहान्धकारमें पड़े रहनेवाले मूढ़ हैं, निरूपास्ति ज्ञानी भी हठी हैं, साधन भक्तिके सहित सिद्धिलाभ करनेवाले चतुर हैं और फलस्वरूपा भक्ति चिन्तामणिके लिये यत्न करनेवाले चतुर शिरोमणि हैं। (ख) 'जग माहीं'—भाव कि संसारमें ऐसे प्राणी सुदुर्लभ हैं, जिनके लिये भक्ति ही साधन और फल सिद्धि है, जो प्रेमसे प्रेमको ही चाहते हैं। यथा 'परौ नरक फल चारि सिसु नीच डाकिनी खाए। तुलसी रामसनेह को जो फल सो जरि जाउ।' (ग) 'सुजतन'—दत्तचित्त होकर सावधानी के साथ शास्त्रीय प्रयत्न करना ही सुयत्न है। यथा 'श्रुति संमत हरि-भगतिपथ संजुत ज्ञान बिबेक।' जो अशास्त्रीय प्रयत्न करते हैं उनको न सिद्धि होती है न परागतिकी प्राप्ति।

नोट—☞ यहाँ तक भक्तिमणिकी प्रभुता कही।

(भक्तिमणिकी प्राप्तिके उपाय)

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥ ११॥
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हत-भाग्य देहिं भटमेरे॥ १२॥

अर्थ—यद्यपि वह मणि जगत्‌में प्रगट है तो भी विना रामकृपाके उसे कोई नहीं पाता। ११। इसकी प्राप्तिके सुगम उपाय हैं पर भाग्य फूटे हुए मनुष्य उनको ठुकरा देते हैं। १२।

नोट—१ (क) 'सो मनि' अर्थात् जिसकी प्रभुता ऊपर 'राम भगति चिंतामनि सुंदर। चौ० २।' से 'दुख लवलेस न सपनेहु ताके। चौ० ६।' तक कह आए वह भक्तिचिन्तामणि।

रा० शं०—'सो मनि जदपि प्रगट...' इति। ऊपर जो कहा कि 'चतुर सिरोमनि...मनि लागि सुजतन कराहीं', चतुरशिरोमणि सुयत्न करते ही रहते हैं, इस कथनसे भक्तिमणि अगम जान पड़ी, अतः कहते हैं कि वह 'प्रगट' है, पर रामकृपासे मिलती है और उपाय भी कठिन नहीं; जैसे अन्धेके पैरमें कोई बहुमूल्य वस्तु लगे और वह उसे कंकड़ पत्थर जानकर न उठावे वरन् ठुकरा दे वैसे ही अभागा मनुष्य इस प्रगट मणिको नहीं ग्रहण करता।

वै०—'प्रगट जग अहई' अर्थात् गुप्त नहीं है, पुराणादि द्वारा सभी सुनते हैं। प्रगट है, तब मिलती क्यों नहीं, क्या कारण है? उसपर कहते हैं कि भक्तिमणि पानेके तो उपाय सुगम हैं, उसके साधन अगम नहीं हैं—['सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी'—आ० १६ (५) देखो। और प्रभुकी कृपा तो एकरस सभी जीवोंपर है पर न मिलनेका कारण यह है कि हतभाग्य (भवभंजन-पद-बिमुख-अभागी) मनुष्य उसका मिलन संयोग पाकरभी उसे ठुकरा देते हैं]

वि. त्रि.—(क) 'प्रगट जग अहई'—भाव कि उस शाश्वत जगद्गुरु रामने सृष्टिके प्रारम्भमें ही वेदशास्त्रोंका उपदेश कर रक्खा है और उपदेश परम्परासे जगत्‌में उसका प्रचार बराबर होता आ रहा है; यथा 'जगद्गुरुं च शाश्वतम्। तुरीयमेव केवलं।', 'निगम निज बानी' उसी वेदशास्त्रमें भक्ति भरी पड़ी है। (ख) 'रामकृपा बिनु'—करुणासागर श्रीरामकी अहैतुकी कृपासे ही जीवको कभी मनुष्य शरीर

मिल जाता है और मनुष्य-शरीर ही भवसागर सन्तरणके लिये नौका स्वरूप है। ऐसा शरीर पाकर उनका अनुशासन मानना चाहिए। अनुशासन माननेवाला ही उनको प्रिय है, उसी पर उनकी कृपा होती है। यथा 'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई।' वेदशास्त्र उनका अनुशासन है। अतः वेदशास्त्रानुगामी पर उनकी कृपा होती है। (ग) 'नहिं कोउ लहई'—भाव कि अशास्त्रीय पुरुषार्थसे भक्ति चिन्तामणिकी प्राप्ति नहीं, चाहे पुरुषार्थ करनेवाला कैसा ही पराक्रमी क्यों न हो। यथा—'जो जेहि कला कुसल ता कहँ सोइ सुखद सदा हितकारी। सफरी सनमुख जल प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी॥ जिमि सर्करा मिलै सिकता महँ बल तें न कोउ बिलगावै। अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै।' (विनय)। शास्त्रीय पुरुषार्थसे भगवत्कृपा होती है, उससे भगवत् प्रभुताका ज्ञान होता है, इससे विश्वास, विश्वाससे प्रीति और प्रीतिसे दृढ़ भक्ति होती है। यथा 'रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई। जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।'

रा० प०—'प्रगट जग अहई'। भाव कि सकल जगत्के पदार्थ ही भक्तिमणिरूप हैं परन्तु ऐसी समझ दुर्लभ है। जगत् रामका विहार है यह किसीही किसीने लख पाया। रामकृपा बिना दिखाई नहीं पड़ता। 'रामकृपा बिनु सुलभ न सोई।'

नोट—'सुगम उपाय'—भाव कि इसमें जप तप यज्ञ उपवास आदि कठिन साधन कोई नहीं हैं। यथा 'कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा।...। ४६। १।' इत्यादि। ज्ञानके उपाय दुर्गम हैं।

नोट—'भटभेरा'—इसके तीन अर्थ हिन्दी-शब्दसागरमें हैं। १—दो वीरोंका सामना, भिड़ंत। २—धक्का, टक्कर, ठोकर, यथा—'कबहुँक हौं संगति सुभाउ तें जाउँ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो। वि० १४३।' ३—आकस्मिक मिलन।—यहाँ पर दूसरा अर्थ संगत है। वीरकविजीका मत है कि यह मुठभेरका विपर्यय है। मुठभेर सामनेको कहते हैं और भटभेर पीछेको वा धक्का देकर किसी वस्तुको पीछे हटानेका बोधक है।

खर्रा—'देहिं भटभेरे'—धक्का देकर उस उपायको दूर कर देते हैं।

करु०—'देहिं भटभेरे'। भाव कि जब किसी सुयोगसे सत्संग भजनका मुहूर्त्त प्राप्त हुआ तब अभाग्यसे कोई विघ्न प्राप्त हो गया, यही भटभेरा है।

पं०—भटभेरे देते हैं, अर्थात् भीतों (दीवारों) से माथा फोड़ते फिरते हैं। भाव कि सत्संग नहीं करते और तीर्थाटनादि कष्ट करते हैं।

रा० प्र०—'भटभेरा' = आड़, रुकावट। कोई कोई कहते हैं कि वस्तुकी प्राप्ति होनेपर उसको न पहिचानना 'भटभेरा' है, यथा—'गली अँधेरी साँकरी भौ भटभेरो आनि'

वि० त्रि०—'देहिं भटभेरे' काभाव कि जो भवभंजन रामके चरणोंसे विमुख हैं। वे उनके अनुशासन वेदशास्त्रपर क्यों श्रद्धा करने लगे। अतः वे मन गढ़न्त पथकी कल्पना करेंगे और अन्तमें सत्यमार्गसे परिभ्रष्ट होकर दुःख पावेंगे। ऐसे लोग अपनेहीको हानि नहीं पहुँचाते बल्कि दूसरोंको भी पथभ्रष्ट करते हैं। यथा 'साखी सब्दी दोहरा कहि कहनी उपखान। भ ति निरूपहिं कलि भगत निंदहिं बेद पुरान।'

पावन पर्बत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥ १३॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥ १४॥
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति-मनि सब सुख-खानी॥१५॥

अर्थ—वेद पुराण पवित्र पर्वत हैं। नाना प्रकारकी रामकथाएँ उन उन पर्वतोंकी सुंदर खानें हैं। १३। सज्जन इन खानोंके भेदी हैं, सज्जनोंकी सुंदर बुद्धि खोदनेवाली कुदाल है। हे गरुड़! ज्ञान और

वैराग्य नेत्र हैं। १४। जो प्राणी भाव सहित खोजे वह सब सुखोंकी खानि भक्तिरूपी मणि पावे। १५।

नोट—१ भक्तिको मणि कहते आ रहे हैं। मणिकी प्राप्तिका उपाय मणिका साङ्गोपाङ्गरूपक बाँधकर कह रहे हैं। मणि पर्वतोंकी खानोंमें होती है। जो खानोंके भेदी हैं वेही जानते हैं कि अमुकअमुक स्थानोंपर खानि हैं। जाननेपरभी खोदनेके लिए कुदाल चाहिए जिससे पर्वत खोदकर खानोंमेंसे वे मणिको प्राप्त करें। खोदकर मणिभी मिली तबभी परखनेवाली आँखें चाहिएँ, नहीं तो उत्तम मणि हाथ न लगेगा। इसी प्रकार भक्ति वेदपुराणोंकी रामकथारूपी खानोंमें गुप्त है। पहले तो यही जानना कठिन है कि ये कथायें कहाँ-कहाँ हैं, इसका मर्म सन्त जानते हैं, उनका संग करनेसे वे बतायेंगे। यहभी जान गए कि अमुक अमुक स्थानोंपर रामकथा है फिरभी बिना सुमतिके उनतक पहुँचना कठिन है। सुंदर बुद्धिसे उन कथाओंको ढूँढ़कर ज्ञानवान् और वैराग्यवान् होकर भावपूर्वक उन कथाओंकी परखकर उसमेंसे श्रीरामभक्ति चिन्तामणि प्राप्त कर ले। तात्पर्य्य यह है कि भक्तिके लिए संतोंका संग बहुत जरूरी है, साथही इसके सुमति, ज्ञान और वैराग्ययुक्तभी होना चाहिये। इसीसे भगवान श्रीरामचन्द्रजीने शबरीजीसे भक्तिके साधनमें सत्संगकोही प्रथम कहा है, यथा—'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा'। उसके पश्चात् 'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा'। वही क्रम यहाँ भुशुण्डिजीने भी दिया है।

२ (क)—'पावन पर्वत'। सब पर्वत पावन नहीं होते, वेद पुराण पावन हैं; अतः इनको पावन पर्वतकी उपमा दी। पावन पर्वतोंके दर्शनादिसे पाप नष्ट होते हैं। गोस्वामीजीने मुख्य प्रधान सात पर्वत गिनाये हैं। यथा 'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुर बासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिं तेते॥ बिंधि मुदित मन सुख न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई। २। १३८।' वेद पुराणोंमें अनेक प्रकारकी रामकथाओंकी खानें हैं जिनके श्रवण कीर्तनसे पाप नष्ट होते हैं। अतः वेदपुराणोंको पावन पर्वत कहा। कथाओंके भेदसे नाना प्रकारकी खानें मानी गईं। यथा 'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं। तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम बिचित्र प्रबंध बनाई। (ख) खानि कहनेका भाव कि जितनी मणियाँ संसारमें हैं वे सब खानसेही निकली हैं और जो संसारमें आवेंगी वे खानसे ही आवेंगी। इसी भाँति जितनी रामकथाएँ प्रचलित हैं वे वेदपुराणसेही निकली हैं, और जो प्रचलित होंगी उनका भी उद्गमस्थान वेद-पुराणही होगा। जिस भाँति पत्थरोंसे खान ढकी रहती है, उसी भाँति त्रिवर्गकी कथाओंसे रामकथा छिपी हुई है। (वि० त्रि०)। रामकथाके सम्बन्धसे खानिको 'रुचिर' कहा। (ग) 'सुमति' का भाव कि कुतर्कबुद्धि न हो, नहीं तो रामकथारूपी सुंदर खानोंकी प्राप्ति न होगी। यथा—'हरिहरपदरति मति न कुतर्की। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की॥ रामभगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी'। [सुमतिका भाव कि मन, चित्त और अहंकार एकत्र हों; यही सुमति है। (वै०)। 'कुदारी' एक वचनके कहनेसेही यह बात निकलती है कि मर्मीने ऐसा ठीक पता बतलाया कि अकेला आदमी कुदालसे खोदकर खानमेंसे मणि निकाल ले। सुमतिको कुदाल कहा क्योंकि सुमतिसेही रामकथा ढूँढ़ निकाली जा सकती है, कुमति त्रिवर्गमेंही फँसकर रह जायगी, त्रिवर्गके पत्थरोंको हटाना उसके सामर्थ्यके बाहरकी बात है, उसे हित अनहितकी पहिचान नहीं है। (वि० त्रि०)] (घ) 'ज्ञान बिराग'—नेत्र दो होते हैं अतः ज्ञान और वैराग्य दोको उपमा दी। ये दोनों परस्पर एक दूसरेके सहायक हैं, दोनोंका साथ है,—'ज्ञान कि होइ बिराग बिन'। [कुदाल हुई, खान खोदी गई, उससे मट्टी भरे मणि निकले। उनके पहिचाननेके लिये नेत्र चाहिये सो यहाँ ज्ञान और वैराग्य दोनों नेत्र हैं (वै०)। बिना ज्ञान वैराग्यके वह कथा किसी साधारण राजकुमारकी इति वृत्ति मालूम पड़ती है। वि.त्रि)]

बालकाण्डके प्रारंभमें श्रीगुरुपदनखमणिगणज्योतिके स्मरणसे हृदयके विमल नेत्रों, ज्ञान वैराग्यका, खुलना, दिव्यदृष्टि होना और उससे रामचरित मणिमाणिक्यका सूझना कहा है। मिलान कीजिये—'श्रीगुरु-पदनख-मनिगन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हिय होती॥ दलन मोहतम सोसुप्रकासू। बड़े भाग उर आवहि जासू॥ उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के। सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक। १। १। ५-८।'

उपर्युक्त उद्धरणमें गुरु, गुरुपदनखज्योति और दिव्य दृष्टिवाले निर्मल नेत्र कहे, वही यहाँ सज्जन, सुमति और ज्ञानवैराग्य हैं। वहाँ रामचरित मणिमाणिक्य वेदपुराणपर्वताकर में हैं और यहाँ रामचरितही वेदपुराणोंकी खानें हैं, वेदपुराण पर्वत हैं और भक्ति मणिमाणिक्य है। यह भेद है। (प्र. सं.)। गुरुचरणोपासक अनुभवी लोगही इसके मर्मी हैं, त्रिवर्गकी कथाएँ उनकी दृष्टिपर आवरण नहीं कर सकतीं, वे खानको दिव्य दृष्टिसे देखते हैं। वे कथाका स्थल भी बतला देते हैं और वह विधि भी बतला देते हैं जिससे कथा तक पहुँच हो सके। (वि० त्रि०)।

३ 'भाव सहित खोजै···' इति। भाव सहित खोजनेको कहा क्योंकि भगवान् 'भाववस्य' हैं, 'भाव गाहक' हैं; दोहा ९२ देखो। ऊपर कहा है कि 'रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहहीं'। जब भावसहित खोज होगी तब प्रभु कृपा कर देंगे और वह मिल जायगी। यही बात अन्तमें कविने कही है—'रामचरनरति जो चहै··· भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवनपुट पान। १२८।' (ख) 'जो प्रानी' अर्थात् ऊँचनीच इत्यादि कोई भी हो। इससे भक्तिका सबको अधिकार कहा। (ग) 'सब सुखखानि',—'सब सुखखानि भगति तैं माँगी। ८५। ३।' देखो।

रा० प्र०—१ पहले वेदपुराणादिमें खोजना कहा। इनमें सगुण निर्गुण भाँतिभाँतिकी लीलाएँ मिलेंगी। निगमागमकी वाणी गंभीर होती है, अतः सुंदर बुद्धिसे उनमेंसे अर्थ निकाले। अपनी बुद्धि ज्ञान जहाँ न चले वहाँ मर्मी सन्तोंकी बुद्धिसे काम ले। इस प्रकार रामभक्ति प्राप्त होगी। २-'भाव सहित खोजै०'। भावानुसारही अनेक शास्त्र और रसादिक होते हैं।—[खर्रा—यहाँ, खोजना=बिचारना]।

करु०—एक मर्मी तो ऐसे होते हैं कि स्वयं खोदकर मणिको निकाल लेते हैं, दूसरे वे हैं जो खानि बताकर मजदूरसे खोदवाते हैं। वैसेही जो स्वयं प्रवीण शास्त्रवेत्ता सन्त हैं वे आपही वेदपुराणका विषय जानते हैं। जहाँ भक्तिमणि है वहाँसे सुमतिद्वारा बाँचकर (पढ़ समझकर) उसे निकाल लेते हैं। और, जो संत प्रवीण हैं पर शास्त्रादि नहीं पढ़े हैं वे किसी पंडितसे वेदपुराणमें खानि बताकर अर्थात् पढ़वाकर भक्तिमणि निकाल लेते हैं। और जो ज्ञान वैराग्यनेत्र-हीन हैं, अर्थात् जहाँ श्रोतावक्ता दोनों अंधे हैं, वहाँ कंकड़पत्थरही हाथ लगता है।

वि० त्रि०—'भाव सहित···' इति। खोजनेवालेको मणिका संस्कार होना चाहिए, उसे इस बातका परिज्ञान होना चाहिए कि मणि कैसी होती है। इसी तरह भक्ति चिन्तामणिके खोजनेवालेको यह संस्कार होना चाहिए कि भक्ति कैसी होती है। वेद-पुराणोंमें मर्मीके बतलानेके अनुसार रामकथाकी प्राप्ति होनेपर उसमें भक्तिको ढूँढ़े तो उसे अवश्य भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्ति होगी। यथा—'रामचरनरति जो चहै···'।

प० प० प्र०—'पाव भगति मनि' इति। इस प्रसंगमें अभी तक 'मणि' शब्दका प्रयोग प्रत्यक्ष आठ बार किया गया। 'बसइ भगति जाके उर माहीं।१२०।६।' में उसका अध्याहार है। इस प्रकार नौ बार मणि (भक्ति चिन्तामणि) शब्दका प्रयोग करके यह सूचित किया कि यह मणि '९' अंकके समान अविकारी है, सबसे श्रेष्ठ है। इससे नवधा भक्ति (जो शबरीजीसे कही है) उसकी तरफ अंगुलि-निर्देश करनेका हेतु है।

सत्संगकी महिमा

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥ १६॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदनतरु हरि संत समीरा॥ १७॥

अर्थ—हे प्रभो! मेरे मनमें ऐसा विश्वास है कि श्रीरामजीके दास श्रीरामजीसे भी बढ़कर हैं।१६। (क्या विशेषता है सो बताते हैं) रामचन्द्रजी समुद्र हैं तो धीरबुद्धि सज्जन मेघ हैं। भगवान् रामचन्द्रजी चंदनके वृक्ष हैं तो संत पवन हैं। १७।

नोट—१ ☞ इसी प्रकार बालकांडमें मानसमुखबंद ३६ (३-४) में वेदपुराणको समुद्र और

संतोंको मेघ कहा है। यथा—'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥ बरषहिं रामसुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥' इत्यादि। जो भाव वहाँ कहे गए हैं। उनमेंसे बहुतसे यहाँभी प्रसंगानुकूल हैं।

वि० त्रि०—(क) 'मोरे मन' इति। भाव कि श्रुतिसम्मत सर्वमान्य सिद्धान्त तो यही है कि श्रीराम समान कोई नहीं है, बड़ा कहाँसे होगा। पर शास्त्र संस्कृतहृदय साधुका अनुभवभी प्रमाण है। यथा 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना', 'मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते'। इसी तरह भुशुण्डीजीभी अपने मनका विश्वास कहते हैं। (ख) 'प्रभु' का भाव कि आप श्रीरामजीके दास हैं, मैं आपको उनसे अधिक समझता हूँ। अतः श्रोता होनेपर भी आप हमारे प्रभु हैं। (ग) 'अस बिस्वासा'—भाव कि महात्माओंका विश्वास अक्षयवटकी तरह अटल होता है, वह सदा अविकृत रहता है। महात्मा भुशुण्डीजी अपना वह विश्वास कहते हैं। (घ) 'राम कर दासा'—दास और सेवकमें कुछ भेद है। सेवा करनेवाला सेवक है, सेवाधर्म बड़ा कठिन है। इसमें स्वामीके मनमें अपना मन मिला देना होता है। अपने धर्मके सामने चारों फलका परित्याग करना पड़ता है, अपने हितके लिये स्वामीके मनमें क्षोभ आजानेसे सेवा-धर्म बिगड़ता है, स्वामीके कार्यके लिये प्राण उत्सर्जन कर देनेमें सेवकका भाग्य है, फिर भी यदि वह चाहे तो सेवा छोड़ सकता है। पर दास ऐसा नहीं कर सकता, वह अपनेको स्वामीके हाथ बेंच देता है, स्वामीका उसपर कृपा, कोप, वध और बंधका अधिकार होता है, उसे स्वामीकीही गति है, दूसरेकी आशा भी नहीं है—'जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।' इसी भावसे यहाँ 'दास' कहा।

नोट—२ 'राम ते अधिक०' यह कहकर दो दृष्टान्त देकर आधिक्य दिखाते हैं। (क) 'राम सिंधु घन सज्जन धीरा'। समुद्र अगाध है, एक जगह स्थित है और सबको प्राप्त नहीं है। प्राप्तभी हो तो उसका खारी जल पान करने योग्य नहीं। मेघ सिंधुमेंसे मीठा-मीठा जल निकाल लेते हैं (खारा वहीं पड़ा रहता है) और सर्वत्र उसकी वर्षा करते फिरते हैं। इसी प्रकार सज्जन रामसुयश श्रेष्ठ मधुर मङ्गलकारी जलको प्राप्त करके उसे सर्वत्र बरसाकर सुलभ कर देते हैं, जो चाहे प्राप्त कर ले।—यहाँ साधारणतया इतनेही में उपमा है। भाव कि सिन्धु सबको प्राप्त होना कठिन है, मेघ उसे सर्वत्र पहुँचा देते हैं, वैसेही श्रीरामजीकी प्राप्ति कठिन है, पर सज्जन द्वारा वे सबको सुलभ हो जाते हैं।

सिंधुमें खारा और मीठा जल क्या है? निर्गुण और सगुण ये दोनों स्वरूप रामजीके हैं, यथा—'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने', 'राम सरूप सिंधु समुहानी'। सगुणयश मीठा जल है अर्थात् राम-भक्ति और राम सुयश उसमें गंगा सरयू आदिका मीठा जल है। यथा—'रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥...राम सरूप सिंधु समुहानी'। तथा—'बरषहिं राम सुजस बर बारी', 'लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करै मल हानी॥ इ०'। निर्गुन खारा जल है। वह भक्तको नहीं भाता, यथा—'निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥...भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥' इत्यादि, 'निर्गुन मत नहिं मोहिं सोहाई।'

वि० त्रि०—जगत्‌में जो कुछ सरसता है, नदी, तालाब, कूपादि जितने जलाशय हैं, उनके साक्षात् या परम्परासे बादलही कारण हैं। ऐसा करनेमें मेघोंका कोई स्वार्थ नहीं है, पर जगत्‌का कल्याण मेघोंसेही होता है। इसी भाँति परहितचिन्तक विद्वान् सज्जनोंमेंही यह सामर्थ्य है कि उस गुणसिंधुके दुराधर्ष गुणोंसे लोकोपयोगी अंशको पृथक् करके जगत्‌को प्रेमानन्दसे आप्लावित कर दें। जगत्‌में जो कुछ गुण या आनन्द का लेश है वह इन्हीं महात्माओंके साक्षात् या परम्पराकृत कृपाका फल है। ऐसा करनेमें इनका कोई स्वार्थ नहीं है, वे पूर्णकाम हैं, पर जड़ जीवोंका कल्याण इन्हींसे होता है। यथा 'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'

नोट—३ 'चंदनतरु हरि संत समीरा'। मलयगिरिपर एक चन्दनका प्रधान वृक्ष है। विषैले सर्प उसकी जड़ोंसे लिपटे रहते हैं। वहाँ पहुँचना मनुष्यके गतिके बाहर है। पवन द्वारा उसकी सुगंध जहाँ तक पहुँचती

है वहाँ तकके कडुवेसे कडुवे वृत्तभी चन्दनके समान सुगंधयुक्त हो जाते हैं। वेभी चन्दनही माने जाते हैं— 'कंकोल निंब कुटजा अपि चन्दनास्युः' इति भर्तृहरे। वैसेही श्रीरामजी चन्दन हैं। उनकी सुगंध संतोंके द्वारा सर्वत्र फैलती है। दृष्टान्त इतनेमें ही है। [पुनः, वे सबको चन्दनवत् माननीय कर देते हैं। नींबादिका आकार वही रहता है पर लकड़ीमें जैसे चन्दनकी सुगंध आजाती है वैसेही प्राणियोंमें श्रीरामभक्तिरूपी सुगंध आ जाती है।

वि० त्रि०—'चंदनतरु···' इति। संत हरिसुयशकी वर्षा करके जगत्को हरा भरा कर देते हैं। प्रेम का बिरवा इन्हींकी कृपासे वर्धित होकर वृत्तरूपमें परिणत होता है, गुणग्रामके स्मरणसे अनुराग बढ़ता है, यथा 'सुमिरि सुमिरि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।' पर मेघ अपना गुण अथवा समुद्रका गुण। किसीको दे नहीं सकते और संत ऐसा करते हैं। अतः मेघके दृष्टान्तसे पूरा काम नहीं चला, इस लिये दूसरा दृष्टान्त देना पड़ा। पवनकी गति सर्वत्र है। यह सामर्थ्य गन्धवाहकमें ही है कि चन्दनके गन्धको लेकर अन्य वृत्तोंके सारमें बसा दे। इसी भाँति यह शक्ति संतमें ही है कि हरिका भाव लेकर मनुष्योंके अन्तः करणको सदाके लिये भगवद्भावसे भावित कर दें, अर्थात् फलरूपा भक्ति प्रदान कर सकें। यदि पापियोंके हृदयमें संतवाणी काम नहीं करती तो इसमें सन्तका कोई दोष नहीं, चन्दनकी वायुभी बाँसको सुगंधित करनेमें असमर्थ है। ☞यहाँ संत और हरिकी उपमा जड़ पदार्थोंसे देकर जनाया कि ये जड़की भाँति परोपकारका कार्य स्वार्थहीन तथा दुःख सुखसे रहित होकर करते हैं।

पं०—चन्दनके समीप रहकरभी बिना पवन लगे वृत्त चन्दन नहीं होते; ऐसेही अवतारोंके दर्शन होते हुए भी बिना सत्संगके उनके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता।

वै०—भाव कि पूर्व कहा कि बिना रघुनाथजीकी कृपाके भक्ति नहीं मिल सकती, उनकी कृपासे मिलती है और अब बताते हैं कि राम भक्तोंकी कृपासे वही भक्ति बहुत सहजमें मिल सकती है। श्रीरघुनाथजीका मिलना दुर्घट है और सन्त सर्वत्र सुलभ हैं और थोड़ीही सेवासे कृपा करते हैं।—['बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी' ४५ (५) देखो]

करु०—पूर्व जिसको सामान्य कहा उसीको अब विशेष कहते हैं। यह व्यंजना है। मेघोंहीसे जगतका प्रतिपालन होता है पर मेघ समुद्रही से जल लेते हैं वैसेही साधु श्रीरामचन्द्रके गुण स्वभाव लेकर सब जीवोंको उपदेश कर कल्याण करते हैं, जैसे समीर चन्दनकी सुगन्ध लेकर अनेक तरु को चन्दन कर देता है वैसेही सन्त अनेक जीवोंको हरिकी सारूप्यमुक्ति प्राप्त करा देते हैं।

नं० प०—श्रीरामजी समुद्र हैं अर्थात् जलसे पूर्ण हैं, पर समुद्र स्वयं उजलसे किसीका उपकार नहीं करते और उसी समुद्रसे लेकर मेघ सब जीवोंका हित करते हैं। वैसे श्रीरामजी रामनामके ऐश्वर्यसे पूर्ण हैं परन्तु श्रीरामनामके ऐश्वर्यको संत प्रचार करके संसारका हित करते हैं। चन्दनका वृत्त सुगंधसे पूर्ण है पर वह किसी वृत्तको अपने सदृश नहीं करता, पवनही उस चन्दनकी सुगन्ध लेकर अन्य वृत्तोंको चन्दन कर देता है। इसी तरह भगवान् भक्तिसे पूर्ण हैं, सन्त पवनरूप हैं। ये भगवान्की भक्ति दूसरे मनुष्योंमें प्रवेश कराके उस मनुष्यको भगवानके सदृश कर देते हैं। यथा 'बालमीक भे ब्रह्म समाना'।

सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥ १८॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा॥ १९॥

अर्थ—सब (साधनों) का फल सुंदर रामभक्ति है। सो बिना सन्तके उसे किसीने नहीं पाया। १८। ऐसा बिचारकर जो कोई भी सत्संग करे, हे गरुड़ ! उसे रामभक्ति सुलभ है। १९।

नोट—१ 'सब कर फल०'। यहाँ अर्थमें 'साधन' शब्दका अध्याहार कर लेना होगा। पूर्व सबको गिना आए हैं, यथा—'जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना॥ सब कर फल रघुपति पद

प्रेमा ।' ६५ (५-६) तथा, 'जप तप नियम जोग निज धर्मा ।...सब साधन कर यह फल सुंदर । ४९ (१-४) देखिए। पुनश्च यथा—'तीर्थाटन साधन समुदाई । जोग बिराग ज्ञान निपुनाई ।। नाना कर्म धर्म व्रत दाना । संजम दम जप तप मख नाना ।। भूत दया द्विज गुर सेवकाई । बिद्या बिनय बिवेक बड़ाई ।। जहँ लगि साधन बेद बखानी । सब कर फल हरि भगति भवानी । १२६ । ४-७ ।' अतः यहाँ 'सब' से वे सब जना दिए। हरिभक्तिको फल कहकर साधनोंको वृक्ष जनाया। वृक्षमें फल लगते हैं। [भाव कि कर्म-ज्ञानादि अंकुर बढ़े, पर फल हरिभक्ति ही है। 'सुहाई' क्योंकि प्रभुकी प्रिया है और सुखद है। (रा. प्र.)] सुहाई अर्थात् निष्काम। कामनाका रहना भक्तिकी शोभा नहीं है। देखिए श्रीनृसिंह भगवान्के कहनेपर कि वर माँगो श्रीप्रह्लादजीने क्या कहा है—'यस्ते आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । भा० ७ । १० । ४ । आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः। ...यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ । कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् । ७ ।' अर्थात् जो सेवक आपसे कामनापूर्त्तिकी इच्छा रखता है, वह तो सेवक नहीं कोरा व्यापारी है। स्वामीसे कामना पूर्तिकी इच्छा रखनेवाला सेवक सेवक नहीं है। यदि आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामनाओंका अंकुर उत्पन्न न हो।

२—पूर्व कहा कि 'रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई' और यहाँ कहते हैं कि 'सो बिनु संत न काहू पाई'। इनमें विरोध नहीं है। रामकृपा जब होती है तब संत मिलते हैं, यह उनकी कृपाका चिह्न है, और संतके मिलनेपर उनसे भक्तिकी प्राप्ति होती है। यथा 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही। ६९ । ७ ।', 'जब द्रवइ दीनदयालु राघव साधु संगति पाइए। बि. १३६ ।', 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता। ५ । ७ । ४ ।' [सुमति संतके हिस्सेकी वस्तु है। सुमतिमें रमण करनेवाले संत ही होते हैं, इसीलिये 'सुमति' को संत-तिय कहा है, यथा 'संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।' और सुमति के बिना भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। इस लिये संत ही भक्ति प्राप्त कर सकते हैं। (वि. त्रि.)]

३—'अस बिचारि'—जैसा कि ऊपर 'राम तें अधिक राम कर दासा' से 'सो बिनु संत न काहू पाई' तक ५ चरणोंमें कहा है। विना सन्तके भक्ति मिल नहीं सकती अतः सत्संग करना निश्चय किया। ४५ (५) देखिए।

वि. त्रि.—'बिहंगा' इति। यहाँ भुशुंडीजी अपने सब श्रोताओंका ध्यान आकर्शित करते हैं, इसलिये संबोधनमें एकवचन 'बिहंगू' का प्रयोग न करके बहुवचन 'बिहंगा' शब्दका प्रयोग करते हैं। क्योंकि विहंगयोनिमें कोई साधन नहीं हो सकता, पर सत्संग तो पक्षी भी कर सकते हैं। यथा 'आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा। ५७ । ७ ।', 'साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी।' अथवा यह विहंगमार्गी ज्ञानियोंका सम्बोधन है, यथा 'सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जे तेहि ताला'।

'राम भगति तेहि सुलभ'—भाव कि रामभक्ति अति दुर्लभ है। यथा 'नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। ५४ । १ ।' से 'सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मदमाया।' तक। सत्संगसे ऐसी दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है।

दोहा—ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़हिं* भगति मधुरता जाहि ।।
बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि ।।१२०।।

* काढिए—(का०)। काढइ—(गौड़जी)।

अर्थ—'ब्रह्म' क्षीरसागर, ज्ञान मन्दराचल और सन्त देवता हैं, जो उस समुद्रको मथकर कथारूपी अमृत निकाल लेते हैं जिसमें भक्ति ही मिठास है। जो वैराग्यरूपी ढाल (से अपनी रक्षा करते हुए) और ज्ञानरूपी तलवारसे मद-लोभ-मोह-रूपी शत्रुओंको मारकर जय प्राप्त करती है वह हरिभक्ति ही है।† हे खगेश! विचार देखिए। १२०।

नोट—१ ब्रह्मके अनेक अर्थोंमेंसे यहाँ 'वेद' अर्थ अधिक संगत है। यथा—'बेद पुरान उदधि घन साधू'। ऊपर 'राम सिंधु घन सज्जन धीरा' में श्रीरामको सिंधुसे रूपक दिया है, अतः ब्रह्मसे 'राम' स्वरूपका भी अर्थ लोग करते हैं। २—क्षीरसमुद्रको देवताओंने अमृतके लिए मथा था जिसे पीकर वे अमर और बलवान् होकर राक्षस और दैत्य दनुजादि शत्रुओंसे जीते। वैसे ही वेदसमुद्रको संत लोग अपने ज्ञान द्वारा मथकर उसमेंसे मधुरभक्तिमय रामकथारूपी अमृत निकालकर मदमोहलोभादि शत्रुओंपर जय प्राप्त करते हैं। ३ 'बिरति चर्म०'—धर्मरथमें भी विरतिको चर्म कहा है—लं० ७६ (७) में देखो।

वै०—१ भाव यह कि सज्जन अपने बलसे कामादिकोंसे नहीं जीत सकते हैं। इसीसे कथा-अमृतहेतु कामादि शत्रुओंको मिलाये रहते हैं। कथा श्रवण करतेमें जब रामयशरूप अमृत प्राप्त हुआ तब उसे राम-कृपासे पान कर प्रेमानन्द स्वाद पाकर भक्तजन बलिष्ठ हुए तब वैराग्य-ढाल और ज्ञान-खड्गसे मदादि शत्रुओंको मारकर स्वाभाविक ही जय पाकर अकण्टक होते हैं। तात्पर्य कि हरियश-श्रवण-कीर्त्तन भक्ति बल पाकर सन्त मोहादि शत्रुओंको सहज ही जीत लेते हैं।

२—अगाध और अपारतादि धर्म लेकर ब्रह्मको पयोनिधि कहा, गुरुता धर्म लेकर ज्ञानको मंदरपर्वत कहा कि जो तलतक पहुँच जाय, अपारसे मथ काढ़ना धर्म लिया। पयोनिधि वासुकीरूपी रज्जुद्वारा मथा गया था, यहाँ विशेषता यह है कि विना रज्जुके ही मथकर काढ़ लिया। संतको सुर कहा। 'सुर' शब्दसे ही आर्थिक उनके विरोधी असुरभी आ गए'।—[रा० शं०—यहाँ विशेषता यह है कि केवल देवता ही मथने-वाले हैं] 'काढ़हि' पाठका 'संत' के साथ अन्वय होगा।

'बिरतिचर्म०' इति। मद बुद्धि आदिको मतवाला करता है, लोभ आशाडोरसे बंदरकी तरह नचाता है। मोह मायिक दलका नायक है—इन रिपुओंको जिस सहायसे मारकर जय पाइए वही हरिभक्ति है।

वि० त्रि०—(क) जिस तरह समुद्रका मंथन मन्दराचलसे ही संभव था, उसी भाँति वेद-समुद्रका मन्थन ज्ञानसे ही हो सकता है। जिन्होंने अपनी असंस्कृत बुद्धिसे ही मंथन किया, उन्हें तो वेद गँवारोंका गीत ही मालूम होगा। वेदसमुद्रके मन्थनमें केवल देवस्थानीय सन्त ही समर्थ हैं, असुरस्थानीय खलोंका इसमें उपयोग नहीं होता, क्योंकि ज्ञान-मंदरको घुमानेकी शक्ति केवल संतोंमें है, खल तो उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते। (ख) 'कथा सुधा' इति। भाव कि रामकथा वेदोंका सार है। जैसे ब्रह्मका रामरूपमें अवतार हुआ, वैसे ही ब्रह्मयश वेदका रामायणरूपमें अवतार हुआ, यथा 'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।' (ग) 'भगति मधुरता'—रामकथामें रामस्वभाव वर्णित होता है और रामस्वभावके परिज्ञानमें ही मिठास है, उसी मिठासका नाम भक्ति है। यथा 'उमा राम सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥', 'राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।'

नोट—'देखु बिचारि'—भाव कि देखिए भक्तिका कैसा बड़ा प्रभाव और बल है, यह कैसी अलभ्य वस्तु है। ११४ (१६) में जो कहा था कि 'रामभगति महिमा अति भारी' वही बात यहाँ भी दृढ़ कर रहे हैं। वहाँ पर कहा था कि 'मुनिदुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप। ११४।', वैसेही यहाँ प्रभुता दिखाते हैं।—'देखु०'। 'देखु बिचारि' का भाव कि विना विचारे न देख पड़ेगा, यह बड़ी सूक्ष्म बात है। ज्ञान॰

† १ पं०—'हरिभक्तिरूपी विजयकी बधाई पाई', इस बातको विचारकर देख कि भगवद्भक्ति सबोंका सार है। २ वीर—यह परंपरितरूपक है। अभेदत्वसे पूर्ण है।

दीपक और भक्ति चिन्तामणिका मिलान—

ज्ञानदीपक		भक्तिचिन्तामणि
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा	१	परम प्रकासरूप दिन राती
यहाँ विज्ञान दीपक, ज्ञानघृत, तुरीया तूलकी बत्तीकी जरूरत	२	नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती
प्रबल अविद्या कर परिवारा (मिटै)	३	प्रबल अविद्यातम मिटि जाई (कारण)
मोह आदि तम मिटइ अपारा	४	'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा' 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं'
जातहि जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ	५	हारहिं सकल सलभ समुदाई
रिद्धिसिद्धि प्रेरै बहु भाई। बुद्धिहि लोभ देखावहिं आई।	६	लोभ बात नहिं
कल बल छल करि जाइ समीपा। अंचलबात बुझावहिं दीपा		ताहि बुझावा

वि० त्रि०—'बिरति चर्म असि ज्ञान...' इति। (क) शत्रुबधकी सिद्धिके लिये दो बातोंकी आवश्यकता पड़ती है, पहले अपनी रक्षाकी और दूसरे शत्रुपर प्रहार करने की। जबतक शत्रुके प्रहारको रोकनेका साधन अपने पास न हो, युद्धकी चर्चा चलाना ही व्यर्थ है। और वधका असाधारण कारण शस्त्र है। संक्षेपमें ढाल तलवारसे दोनों काम निकलते हैं। यहाँ वैराग्य ढाल है, ज्ञान तलवार है। विषयमें रति होनेसे ही कामक्रोधादिका बल चलता है और वे कल्याणका नाश करनेमें समर्थ होते हैं। यदि विषयमें रति न हो तो कामादिका कुछ बल नहीं चल सकता। अतः वैराग्यको ढाल कहा। सबमें ब्रह्मको समान देखनेसे शत्रु-मित्र-बुद्धि ही नहीं रह जाती, अतः साध्याभावसे साधनरूप कामादि मर जाते हैं। इसलिये ज्ञानको तलवार कहा। (ख) 'मद लोभ मोह रिपु'—रिपु कहनेसे काम, क्रोध और मात्सर्यको भी ग्रहण किया। अकारण अपकार करनेसे, कल्याण मार्गके बाधक होनेसे ये सब शत्रु माने गए हैं। यथा 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही। ७०। ८।' से 'मच्छर काहि कलंक न लावा। ७१। ३।' तक। (ग) 'मारि'—विना इनको मारे कल्याणपथमें सिद्धि नहीं मिल सकती; अतः इनके वधके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं। कथामृतका पान करनेसे ऐसा बल (परम वैराग्य) बढ़ता है कि मनुष्य अकेलेही सब शत्रुओंका वधकरनेमें समर्थ होता है।

वि० त्रि०—'जय पाइअ...' इति। (क) शरीर दो राजाओंका देश है, अपने अधिकारके लिये दोनोंमें नित्य लड़ाई रहती है। एक ओर मोह राजा है, कामादि जिसके सहायक हैं। दूसरी ओर विवेक राजा है, वैराग्यादि इसके सहायक हैं। यह लड़ाई अनादि कालसे चली आती है। कभी एक बीस पड़ता है तो कभी दूसरा। इसी द्वन्द्वमें पड़कर यहाँकी प्रजा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राणादि अति पीड़ित हो रहे हैं। जब कथामृतपानसे विवेकादिका बल बढ़ता है, तब मोहादि मार डाले जाते हैं। विवेक राजाकी जीत होती है, अकण्टक राज्य स्थापित होता है और फिर राजा साहब रामचरणाश्रित होकर आनंदसे राज्य करते हैं। यथा 'जीति मोह महिपालदल सहित विवेक भुआल। करत अकंटक राज्य पुर सुख संपदा सुकाल।...'। (ख) 'सो हरि भगति'—भाव कि कामादिके मारे जानेपर जो जीत मिली, जिस उत्कर्षकी प्राप्ति हुई, वही 'भक्ति' है। इतनी बड़ी लड़ाईके बाद फल यह हुआ कि संसारकी ओरसे मन हटकर श्रीराममें लगा, विवेकका साम्राज्य स्थिर हो गया, वैराग्य मन्त्री हुआ, स्नेह वन साम्राज्य हुआ, यम नियम भट हुए, चित्त राजधानी हुआ। शान्ति सुमति रानियाँ हुईं। यथा 'सचिव बिराग बिवेक नरेसू। बिपिन सोहावन पावन देसू॥ भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदरि रानी॥ सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ।' अब सांसारिक राज्य आदिसे संबंध नहीं रह गया। (ग) 'खगेस' का भाव कि आपकी अव्याहत गति है, सभी साम्राज्य आपके देखे हुए हैं, पर कोईभी इस भक्तिसाम्राज्यके अंशकी भी तुलना नहीं कर सकता। (घ) 'देखु बिचारि'—भाव कि मेरे कहने पर ही न रह जाइए। विना संसारसे मन हटे और रामपदमें लगे सुख नहीं, और यही भक्ति है।

नोट—मिलान कीजिए—'रहूगणत्वमपिह्यध्वनोऽस्य संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः। असज्जितात्मा

हरिसेवया शितज्ञानासिमादाय तरातिपारम्। भा० ५। १३। २०।' श्रीजड़भरतजी रहूगण महाराजसे कह रहे हैं कि तुम भी इस संसार-वनमें भटक रहे हो, अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य अर्थात् राज्य आदिको छोड़ कर समस्त प्राणियोंके सुहृद हो जाओ, सब प्रकारका संग (आसक्ति) छोड़कर भगवत् सेवासे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप खड्ग लेकर इस मार्गको पार कर लो।

☞ 'ज्ञानहिं भक्तिहि अंतर केता' का उत्तर यहाँ समाप्त हुआ।

चौथा प्रसंग—'सप्त प्रश्न और उनके उत्तर'

पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ। जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ॥ १॥
नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी॥ २॥
प्रथमहि कहहु नाथ मतिधीरा। सब ते दुर्लभ कवन सरीरा॥ ३॥
बड़ दुख कवन कवन सुख भारी। सोउ संछेपहि कहहु बिचारी॥ ४॥

अर्थ—(पाँचवें प्रश्नका उत्तर समाप्त होनेपर) पक्षिराज गरुड़जी फिर प्रेमपूर्वक बोले—हे कृपालु! यदि मुझपर आपका प्रेम है। १। तो, हे नाथ! मुझे अपना खास सेवक जानकर मेरे सात प्रश्नोंका उत्तर बखानकर कहिए। २। हे नाथ! हे धीरबुद्धि! पहले तो यह कहिए कि सबसे दुर्लभ (कठिनतासे प्राप्त होने-वाला) शरीर कौन सा है? (३) और यह भी विचारकर संक्षेपसे ही कहिए कि सबसे बड़ा दुःख कौन है और कौन सुख सबसे भारी बड़ा है। ४।

नोट—१ (क) ज्ञान-भक्ति-भेद-प्रकरणका उपक्रम 'एक बात प्रभु पूछौं तोही। ११५। ८।' है और उपसंहार 'देखु खगेस बिचारि। १२०।', 'पुनि सप्रेम बोलेउ' है। उत्तरका उपक्रम 'भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा। ११५। १३।' है और उपसंहार 'जय पाइय सो हरि भगति०' है। (ख) 'पुनि', 'जौं कृपाल०', 'निज सेवक जानी' और 'मतिधीर' के भाव पूर्व आ चुके हैं। इसी तरह पार्वतीजीने प्रश्न किया है। यथा 'जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी। तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। १। १०८। १-२।' 'जौं कृपाल' और 'निज सेवक जानी' में 'जानिय सत्य मोहि निज दासी' का भाव भी आ जाता है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीका मत है कि यहाँ गिरिजाजीके अन्तिम प्रश्न, 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई।' के उत्तरका सूत्रपात करते हैं।' पर औरोंका ऐसा मत नहीं है।

वि. त्रि.—१ (क) 'खगराऊ' का भाव कि भुशुंडिजीने खगेशको विचारपूर्वक देखनेको कहा था। यथा 'जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि।' गरुड़के विचार करने पर सात शंकाएँ और खड़ी हो गईं। ये खगराऊ हैं, युद्ध तथा जयकी क्रियासे भली भाँति परिचित हैं, युद्धमें सिद्धि निश्चित नहीं रहती, तनिकसा छिद्र होनेसे महान् अनर्थ हो जाता है, अतः अत्युत्तम साधन अभ्रान्त जानकारीके लिये प्रश्न करते हैं। (ख) 'सप्रेम बोलेउ'—पहले मृदु वाणी बोले थे; यथा 'बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी।' अब सप्रेम बोले। इससे जनाया कि भुशुंडीजीके अमृतमय उपदेशसे प्रेम बढ़ता ही जाता है। (ग) 'कृपाल'—भाव कि गुरुकृपा बिना कुछ नहीं हो सकता, सो कृपाल गुरु भाग्यसे मिल गए हैं। अतः प्रश्न करते समय 'कृपाल' शब्द द्वारा ही संबोधन करते हैं। (घ) 'भाऊ' से यहाँ कृपा-भाव अभिप्रेत है।

२ 'नाथ मोहि निज सेवक...' इति। (क) देखिए भुशुंडिजी और गरुड़जी परस्पर एक दूसरेको 'नाथ संबोधन कर रहे हैं। यथा 'नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर।', तथा यहाँ 'नाथ...'। इससे सूचित हुआ कि दोनोंको परस्पर विनयसे वर्णनातीत सुखका अनुभव होता है। यथा 'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं।' (भरद्वाज-प्रभु-मिलन)।

नोट—२ 'सप्त प्रश्न मम०' इति। कुछ तिलककारोंने यहाँ ८ प्रश्न गिनकर 'अष्ट प्रश्न' पाठ रक्खा

है। पर प्राचीन पोथियोंमें 'सप्त' ही पाठ मिलता है। वस्तुतः प्रश्नके रीतिसे सातही प्रश्न होते हैं। १ सब ते दुर्लभ कवन सरीरा, २ बड़ दुख कवन, ३ कवन सुख भारी, ४ संत-असंत-मर्म तुम्ह जानहु। तिन्हकर सहज स्वभाव बखानहु'—यहाँ 'मर्म' शब्द इसको एकही प्रश्न क़ायम करता है, इसका उत्तर भी मिलानके ढंगपर एकसाथ है। ५ कवन पुन्य बिशाल (है सो) कहहु, ६ कहहु कवन अघ परमकराल है, ७ मानसरोग कहहु। रा० प्र०-कार लिखते हैं कि 'कोई कोई सन्त-असन्त-स्वभावको एक प्रश्न मानते हैं जिसमें सातकी गिनती ठीक हो जाय। पर सप्त प्रश्नमें मानसरोगवाला प्रश्न न गिनना चाहिए वह सप्तसे पृथक् है, यथा—'मानसरोग कहहु समुझाई।'

वि. त्रि.—३ 'मम सप्त प्रश्न' का भाव कि १ भोगायतन, २ अनुकूल वेदनीय भोग, ३ प्रतिकूल वेदनीय भोग, ४ भोक्ता, ५ अनुकूल भोगका कारण, ६ प्रतिकूल भोगका कारण और ७ भोक्ताकी अस्वस्थताके कारणविषयक प्रश्न हैं, इन्हीं सात प्रश्नोंमें साध्य, साधन और साधक विषयक सब बातें आगईं।

वि. त्रि.—४ (क) 'मति धीरा'—जो प्रभुके प्रभावको जाने वह मतिधीर है, यथा 'प्रभु प्रभाव जानत मति धीरा।' और आपसे बढ़कर इसका जानकार कौन होगा ? (ख) 'प्रथमहि कहहु'—भाव कि पहले भोगायतन (शरीर) का ही वर्णन होना चाहिए। देहाध्याससे ही संसार है। अतः जिस देहमें संसार-दुःखसे निवृत्तिका साधन जितना ही अधिक हो उतना ही वह उत्तम है, सो पहिले उसीको कहिए।

नोट—३ 'सब ते दुर्लभ कवन सरीरा' इस प्रश्नका हेतु यह है कि ये अगणित शरीर धारण कर चुके हैं और सबका इनको बोध शिवकृपासे बना रहा। अतः ये ठीक कह सकेंगे, क्योंकि स्वयं अनुभव कर चुके हैं—'कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं', 'त्रिजग देव नर जो तनु धरउँ', 'सुधि मोहिं नाथ जन्म बहु केरी। सिव प्रसाद मति मोह न घेरी। ९६। १०।' दुःख और सुखभी सब जानते हैं जैसा उनके 'देखेउँ करि सब कर्म गोसाईं। सुखी न भयेउँ अबहिं की नाईं। ९६। ६।' से स्पष्ट है, अतः यह प्रश्न हुआ।

वि. त्रि—५ (क) 'बड़ दुख', 'सुखभारी'—भाव कि भगवानके मुखसे सुन चुके हैं कि जो मनुष्य उन्हें नहीं भजता और दिनपर दिन विषयरत होकर मन्द होता चला जाता है, वह परलोकमें दुःख उठाता है; यथा 'सो परत्र दुख पावई...'। सुखको भी भगवान्ने कहा है—'जौ परलोक इहाँ सुख चहहू।' पर यह नहीं बताया कि बड़ा दुःख कौन है और भारी सुख कौन है, न किसीने उनसे पूछा ही। (ख) 'बिचारी' अर्थात् अनेक जन्मोंके अनुभूत सुख-दुःखोंको मिलान करके मनमें ठीक करके। (ग) 'संछेपहि'—क्योंकि दुःख सुख सबके अनुभूत पदार्थ हैं अतः विस्तारकी आवश्यकता नहीं।

संत असंत मरम तुम्ह जानहु। तिन्ह कर सहज सुभाव बखानहु॥ ५॥
कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला। कहहु कवन अघ परम कराला॥ ६॥
मानसरोग कहहु समुझाई। तुम्ह सर्वज्ञ कृपा अधिकाई॥ ७॥

अर्थ—आप संत और असंतका मर्म जानते हैं। उनका सहज (बनावटी नहीं वरन् जैसा जन्मके साथ उत्पन्न होता है) स्वभाव बखानकर कहिए। ५। (फिर) कहिए कि कौन पुण्य श्रुतिमें बहुत बड़ा माना गया है और कौन पाप परम विकराल है। ६। मानसरोग क्या हैं ? इन्हें समझाकर कहिए। आप सब कुछ जाननेवाले हैं और मुझपर आपकी तथा भगवान्की आपपर विशेष कृपा है।

वि. त्रि.—१ 'संत असंत मरम...' इति। (क) भगवान्ने नारदजीसे सन्तोंके गुण कहे और भरतजीसे सन्त और असन्त दोनोंके गुण कहे। दोनोंके गुणोंका पारावार नहीं है, यथा 'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा।' अतः इनका मर्म जाननेसे काम चलेगा, क्योंकि साधारण जीव अपेक्षाकृत संत भी हैं असंतभी हैं, मर्म जान लेनेसे दोनोंके गुणोंकी पहचान हो जावेगी। कल्याणार्थी

को उनके त्याग और ग्रहणमें बड़ा सुभीता होगा। (ख) 'तुम्ह जानहु'—भाव कि तुम असंत भी रह चुके हो, यथा 'मैं खल मल संकुल...'। (ग) 'बखानहु'—भाव कि इन्हींके बखानसे संपूर्ण वेद-शास्त्रके सारका बखान है, जितने उपादेय गुण हैं वे सब संतमें हैं और जितने हेय गुण हैं वे सब असन्तमें हैं। अतः इनके लिये बखान करनेकी प्रार्थना है।

नोट—१ (क) "मरम तुम्ह जानहु"। कैसे जाना कि ये जानते हैं? इससे कि विप्र गुरुके विषयमें कहा है कि 'परम साधु परमारथविंदक' और शिवजीने उपदेश दिया था कि 'जानेसु संत अनंत समाना' अतएव जानना सिद्ध है। दूसरे वरदान है कि सब कुछ जानोगे। यथा—'जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा। ८५। ८।', 'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं। ११४। ४।' (ख)—'सहज स्वभाव' वह है जो सब कालमें सदा स्वाभाविक ही बना रहता है।

२ (क) 'श्रुति बिदित पूछा क्योंकि श्रीभुशुंडीजीने श्रुतिका नाम बारम्बार लिया है—'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई', 'बेद पुरान संतमत भाषौं', इत्यादि। (प्र० सं०)। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंमें श्रुति-विदित पुण्योपार्जनकी आवश्यकता बताई है। यथा 'जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा। सो तृन हरित चरै जन गाई।', 'प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती।' दोनों मार्गोंमें भक्तिकी सुलभता दिखलाई, फिर भक्तिकी प्राप्तिमें सुलभता सत्संगद्वारा कही, पर संतका संग बिना पुण्यपुंजके होता नहीं; अतः पुण्यपुंजोपार्जनके लिये श्रुतिविदित विशाल पुण्य पूछते हैं। (वि० त्रि०)। (ख) 'अघ परम कराला' इति। पाप करनेवालेको धर्मबुद्धि ही नहीं होती, वह पुण्य करेगा ही नहीं। यथा 'पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं कटि पट नहि पेट अघाहीं॥···हमरे धर्मबुद्धि कस काऊ।' अतः उसका मन भजनमें नहीं लगता। यथा 'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।' अतः परम कराल पापका जान लेना आवश्यक समझकर उसे पूछा। परम कराल वह है जिससे कोई बच न सके। (वि० त्रि०)।

३ 'तुम्ह सर्बग्य कृपा' इति। प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देंगे यह समझकर प्रश्न किया क्योंकि इनपर (श्रीरघुनाथजीकी) बड़ी कृपा है और ये वरद्वारा सर्वज्ञ हैं, सब जानते हैं।

वि० त्रि०—'मानसरोग...' इति। (क) भुशुंडीजीने कहा था कि 'व्यापहिं मानसरोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी। १२०। ८।' अतः यह जान लेना आवश्यक हुआ; क्योंकि रोग तो एक-दो कभी-कभी किसीको होते हैं, सब रोग सदा सबको रहें, यह अद्भुत बात है। (ख) 'कहहु समुझाई'—भाव कि मलका कुपित होना ही सब रोगोंका कारण है। शरीरमें जो वात, पित्त, कफ हैं ये ही विकृत होकर अनेक विकार उत्पन्न कर देते हैं। वात पित्तका प्रकोप कुपथ्यसे हो सकता है। रोगोंके लिए चिकित्सा-शास्त्र बना है। वैद्य दवा देते हैं, रोग उपशमित होता है। इत्यादि। ये सब बातें मनमें कैसे होती हैं, यह समझमें नहीं आता, अतः इन्हें समझाकर कहिए। (ग) 'कृपा अधिकाई' इति। भाव कि संसारमें कृपाके लिये कारण होता है। यथा 'अवसि काज मैं करिहउँ तोरा। मन तन बचन भगत तैं मोरा।' कारण रहित कृपा दो ही के होती है—भगवान्‌को और उनके सेवकको। यथा 'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।' इसलिये 'कृपा अधिकाई' कहा।

पं०—रोगका स्वरूप समझा होता है तो अपनेमें उनको लखकर उपाय करना सुगम होता है और मानस-रोग तो सूक्ष्म रोग हैं इसलिए बिना विस्तारसे समझाये इनका स्वरूप समझमें न आयेगा। यदि कहें कि हम क्या जानें तो इसी पर कहते हैं कि आप सर्वज्ञ हैं और बड़े कृपालु हैं, कृपा करके कहिए।

(सप्त प्रश्नोंके उत्तर)

तात सुनहु सादर अति प्रीती। मैं संछेप कहौं यह नीती॥ ८॥

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही* ॥ ९ ॥
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी† ॥१०॥

शब्दार्थ—नीति=लोककल्याणके लिए निश्चित ठहराया हुआ आचार व्यवहार। स्वर्ग—लोकोत्तर पुण्य भोगनेके लिये जो लोक हैं उन्हें स्वर्ग कहते हैं। नरकोंके ऊपर सात पाताल हैं, आठवीं पृथ्वी है। इसके ऊपर ध्रुवतक ग्रह-नक्षत्रोंसे युक्त अन्तरिक्ष लोक है। इसके ऊपर स्वर्ग है। इसके पाँच भेद हैं—माहेन्द्रलोक, प्राजापत्य (महर्लोक), जन, तप और सत्य लोक। 'पिछले तीन ब्रह्मलोकके अन्तर्गत हैं। यहाँतक सम्प्रज्ञात समाधिवालोंकी गति है। अपवर्ग—असम्प्रज्ञातसमाधिवाले (अर्थात् विदेहलय और प्रकृतिलय) मोक्षपदमें स्थित हैं। अपवर्ग=मोक्ष।

अर्थ—श्रीभुशुंडीजी बोले—हे तात! अत्यन्त आदर और प्रेमसे सुनो, मैं यह नीति संक्षेपसे बड़े प्रेमसे कहता हूँ। ८। मनुष्य-शरीरके समान कोई शरीर नहीं है। चर अचर सभी जीव इसकी याचना करते हैं। ९। यह शरीर नरक, स्वर्ग तथा मोक्षकी सीढ़ी है और ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और कल्याणका देनेवाला है। १०।

वि० त्रि०—१ 'तात सुनहु सादर...' इति। (क) प्रश्न हुआ था 'जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ।' ऐसे कहकर। अतः 'तात' सम्बोधन करके शिष्यके प्रति आदर और प्रीति दिखलाते हुए उत्तर दिया जा रहा है। (ख) 'सादर अति प्रीती' इति। अति प्रीतिसे सुननेसे ही गम्भीर विषयके निरूपणका धारण हो सकता है और आदरके साथ सुननेसे ही सिद्धिकी प्राप्ति होती है। यथा 'सुनहु तात मन मति चित लाई', 'सादर सुनहिं ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान।' जहाँ कार्यप्रणाली कही जाती है, वहाँ सादर सुननेके लिये अनुरोध किया जाता है। सादर सुननेका अभिप्राय उस शिक्षाको कार्यमें परिणत करनेका है। यथा 'तात बचन मम सुनु अति आदर। ६। ६। ७।' और जहाँ केवल समझानेके लिये विषयनिरूपण किया जाता है, वहाँ सावधान होकर सुननेको कहते हैं। यथा 'सुनहु सो सावधान हरिजाना।' (ग) 'यह नीती'—भाव कि ये प्रश्न कार्यप्रणाली जाननेके लिये हैं अतः इनके उत्तरको 'नीति' कहा। महात्मा लोग नीतिसे कभी विचलित नहीं होते; यथा 'संयम नियम नीति नहिं डोलहिं।' अतः कार्यसिद्धिके लिये नीति स्थिर करनेमें ही पंडिताई है, इसलिये रामभक्तिको हृदयमें छा लेनेकी नीतिकी ओर इङ्गित करते हैं। (घ) 'संछेप कहउँ'—भाव कि यह विस्तारसे कहने योग्य है पर मैं तुम्हारे कथनानुसार संक्षेपमें कहता हूँ। इसे आदर और प्रीतिके साथ सुननेसे ही यथावत् धारण कर सकोगे।

पं०—'यह नीती' का भाव कि सादर प्रेमपूर्वक सुनना यह श्रोताकी नीति है और वक्ताकी यह नीति है कि अल्प अक्षरोंमें सब सार कह दे।

रा० प्र०—आदरसे कहना और प्रीतिसे सुनना तथा संक्षेपसे कहना यह नीति है जिससे बुद्धिमें ज्ञान और धारणा प्राप्त हो।

नोट—'नरतन सम नहिं...'—४४ (४-७) देखिए। 'जीव चराचर जाँचत'—चरकी याचना तो कहते बनती है। स्थावरकी याचना कैसे? हमारे शास्त्र बताते हैं कि स्थावर भी अन्तः संज्ञ होते हैं, भीतर से उन्हें ज्ञान रहता है, पर वाणीकी कृपा नहीं होनेसे प्रकाशित नहीं कर सकते। यथा 'सीता कर बिलाप सुनि भारी। भए चराचर जीव दुखारी।'

वि० टी०—श्रीमत् शंकराचार्यजीने भी इसीकी पुष्टिमें यों कहा है—'दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रह हेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥' अर्थात् जन्म, मोक्षकी इच्छा और महात्माओंका सत्संग ये तीनों दुर्लभ हैं। जो ईश्वरकी कृपा हो तो ही ये मिलते हैं। भाव यह है कि यद्यपि यहाँ तीन बातें दुर्लभ कही गई हैं तथापि उन तीनोंका आदि कारण मनुष्य-शरीर ही है।

* जेही। † सुष—(रा. गु. द्वि.)।

रा० शं०—'नहि कवनिउ देही' अर्थात् यह सबसे श्रेष्ठ है, यह कहकर फिर श्रेष्ठताका प्रमाण देते हैं कि 'चराचर जाचत तेही'। और फिर याचनाका कारण कहते हैं कि यह 'नरक' आदिकी सीढ़ी है।

पं०—पापसे नरक, पुण्यसे स्वर्ग और भजनसे मुक्ति होती है। ज्ञानादिभी इसीमें प्राप्त होते हैं।

रा. प्र.—'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी' ये तीनों इसीमें सधते हैं अन्य योनियोंमें केवल उदरका यत्न ही बनता है। अमर (देव) तनसे मोक्षादि असम्भव हैं।

करु०—'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।०'। मनुष्यही तनमें ज्ञानादि दृढ़ हो सकते हैं देवता-तनमें नहीं, इसका कारण यह है कि देवतनमें देवता विषयासक्त रहते हैं, यथा—'इंद्रिय सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई।।' निसेनीका भाव कि कर्मक्षेत्र नरतन ही है। जब देवतनका यह हाल है तब और किसीका कहना ही क्या ? (दिव्य तनका यह हाल है तब अदिव्यकी बात ही क्या ? नर शरीर छोड़ अन्य सब शरीर भोग-शरीर-मात्र हैं)।

वि. त्रि.—(क) 'निसेनी' इति। भाव कि जैसे सीढ़ी लगाकर लोग ऊँचे चढ़ जाते हैं और नीचे भी उतर जाते हैं, वैसे ही नरदेहसे चाहे नरकमें उतर जाय, चाहे स्वर्गपर चढ़ जाय और चाहे मोक्षको प्राप्त हो। इसके लिये प्रारब्ध नहीं है, प्रारब्ध सांसारिक सुख-दुःखोंके लिये है। सीढ़ी पाकर भी यदि कोई इच्छा-पूर्वक नरकमें उतरना चाहे तो शास्त्र और गुरु उसको मना तो करते हैं पर उसके साथ बलात्कार नहीं कर सकते। मरनेपर स्वर्ग, नरक वा मोक्ष मिलता है। (ख) 'ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी'—जीते जी ज्ञानादि को देनेवाला है। ज्ञानसे आत्मसुख मिलता है, वैराग्यमें अभय सुख है और भक्तिसे परमात्मसुख प्राप्त होता है। (त्रिपाठीजी 'सुभ' को 'भगति' का विशेषण मानते हैं)।

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंदमंदतर ॥ ११ ॥
काचु किरिच बदले ते* लेहीं। कर ते डारि परसमनि देहीं ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—किरिच=टुकड़ा।

अर्थ—वह (मनुष्य) शरीर धारण करके जो मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करते किन्तु विषयोंमें अनुरक्त हो जाते हैं अर्थात् विषयभोगमें लग जाते हैं, उसमें प्रेम करने लगते हैं, वे मन्द ही नहीं वरन् अत्यन्त मंद (नीच) वा मन्दोंमें भी मन्दतर हैं। ११। (नरशरीरसे भजन न कर विषय भोगमें लिप्त होना कैसा है सो कहते हैं कि) वे पारसमणिको हाथसे फेंक देते हैं और उसके बदलेमें वे काँचका टुकड़ा (उठा) लेते हैं।१२।

नोट—१ 'मंद मंदतर।' नरशरीर पाकर जो भजन नहीं करते वे मंद हैं और जो भजन न करके उसके बदले विषयरत होते हैं वे मंदतर (महामन्द) हैं। अर्थात् वे मन्द ही थे और ये उन मन्दोंमेंभी अत्यन्त मन्द हैं। प्र० स्वामीजी अर्थ करते हैं कि—'वे मंदबुद्धि 'पशु बिनु पूँछ बिषाण' तो हैं ही, पर दिन प्रतिदिन 'मंदतर होहिं', 'अधिकाधिक मंद जड़, मूढ़ होते जाते हैं और तिर्यक् योनि, स्थावर पाषाणादि बनते हैं।'

वि० त्रि० अर्थ करते हैं कि 'उस शरीरको धारण करके जो मनुष्य विषयरत होकर मन्द होते जाते हैं, हरिको नहीं भजते वे।..' 'मंद मंदतर' का भाव कि वह तो सुखप्राप्तिकी इच्छासे सुखाभासके पीछे महान् कष्ट झेलता हुआ और भी घोर विपत्तिमें उलझता हुआ चला जाता है। विषय-सेवनसे उसकी बुद्धि और भी दिन दिन मलिन होती चली जाती है, उसका लौटना असम्भव होता चला जाता है। अन्तमें उतरते-उतरते वह कहाँतक जायगा इसका ठिकाना नहीं।

२—'काचु किरिच०'। मंद मंदतर कहकर अब मंदतरत्वको दृष्टांत देकर दिखाते हैं। मंद=निर्बुद्धि, अज्ञान, कुबुद्धि। भजन और पारसमणि, विषय और 'काच किरिच' परस्पर उपमेय उपमान हैं। नरतन

* जिमि—(का०)।

पाकर रामपद-विमुख होना पारसका फेंक देना है। विषयमें मन देना काँचके टुकड़ेका उठा लेना है। [रा० प्र०—किरिच=लोहेका मल जिसे मंडूर कहते हैं। पारसके साहचर्यसे लोहेका ही अर्थ ठीक बनता है।]

३—'काँचकी किरिच एक तो किसी कामकी नहीं उसपर फिर हाथमें गड़ जानेका भय होता है। उसकी झूठी चमक देख उठा लेते हैं। और जिसके स्पर्शमात्रसे लोहा सोना हो जाता है ऐसी सब धनकी मूल पारसमणिको फेंक देते हैं'। (वै०)। इसी तरह विषयमें सुखके सदृश सुखाभासमात्र होता है, सुख उसमें है ही नहीं, और यदि वह गड़ गया तो महान दुःखका कारण होता है। (वि. त्रि.)।

वि० त्रि०—'कर ते डारि...' इति। भाव कि जिन्हें पारसका प्रभाव नहीं मालूम है, जो उसका मूल्य कुछ नहीं समझते, वे कोई भी वस्तु बदलेमें मिलनेकी आशासे उसे पहले ही फेंक देते हैं। उन्हें यह डर बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि देर होनेसे सौदा बिगड़ जाय। इस तरह उनके हाथमें आया हुआ पारस व्यर्थ हाथसे निकल जाता है। इसी भाँति भजन अपने हाथकी चीज है, इसके लिये कहीं बाहर दौड़-धूप नहीं करना है। भजनके लिये केवल अन्तर्मुख होनेकी आवश्यकता है, इसी लिये 'हाथमें' होना कहा। पारस अमूल्य है, वैसे ही भजन अमूल्य है।

मिलान कीजिए और देखिए—'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई। नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं। ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई। ४४।'

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत मिलन सम सुख जग नाहीं ॥ १३ ॥
पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया ॥ १४ ॥
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी ॥ १५ ॥

अर्थ—संसारमें दरिद्रके समान दूसरा दुःख नहीं है। संतसमागमके समान संसारमें कोई भी सुख नहीं है। १३। हे खगराज! वचन, मन और कर्मसे परोपकार करना सन्तोंका सहज स्वभाव है। १४। सन्त पराये हितके लिये दुःख सहते हैं और भाग्यहीन असंत पराये दुःखके लिये दुःख सहते हैं अर्थात् दूसरोंको दुःख पहुँचे चाहे उसके लिये स्वयं दुःख भोगना पड़े, तथा अभागी असन्त दूसरोंके दुःखके कारण होते हैं। १५।

नोट—१ 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं'। भाव कि दुःख तो बहुत हैं पर इसके समान दूसरा दुःख नहीं। दरिद्र=निर्धनता। किसीने कहा है कि 'कष्टं निर्धनिकस्य जीवितमहो दारैरपि त्यज्यते' अर्थात् स्त्री तक त्याग देती है इससे निर्धनिकका कष्ट क्या और होगा? भुशुंडिजी इस दुःखको स्वयं भोग चुके हैं। यथा—'परेउ दुकाल बिपत्ति बस तब मैं गएउँ बिदेस ॥१०४॥ गएउँ उजैनी सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी ॥' अतः इसका अनुभव इनको खूब है। मिलान कीजिए—'अहो नु कष्टं सततं प्रवासस्ततोऽतिकष्टः परगेहवासः। कष्टाधिकानीचजनस्य सेवा ततोऽतिकष्टा धनहीनता च ॥'; 'वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयं पत्र फलांबुभोजनम्। तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं न बंधुमध्ये धनहीनजीवनम् ।'', 'दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं संरोचते न दारिद्र्यम्। अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनंतकं दुःखम् ॥' (सु० र० भा० दरिद्रनिन्दा)।

वि० त्रि०—संसारमें छोटीसी छोटी सुविधाके लिये मूल्य चाहिए। दरिद्रको अर्थाभाव है, अतः जीवनधारणानुकूल व्यापार चलानेके लिये उसे साधन नहीं है। अतः उससे बढ़कर दुःखी कोई नहीं है। पर ऐसे दरिद्र भी परम सुखी देखे गए हैं। यथा 'तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहिं संदेहा।' दरिद्रमें और उनमें भेद इतना ही है कि दरिद्र विषयरत है और वे विषयविमुख विरागरत हैं, मोहके हाथके बाहर हैं। अतः वास्तवमें तो दरिद्र मोह है, यथा 'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा'। मोहयुक्त धनी भी कौड़ी-कौड़ीके लिये तड़फड़ाते देखे गये हैं और वैराग्यवान तो धन-धान्यसे भरे घरको सदासे लात मारते आये हैं। जहाँ जिस परिमाणमें मोह है वहाँ उस परिमाणमें दुःख है।

वै०—१ 'दरिद्र सम दुख जग नाहीं'। जाड़ा लगनेपर वस्त्र नहीं, भूख लगनेपर भोजन नहीं,—यह दुःख होनेपर सब दुःख भूल जाते हैं, बुद्धि नष्ट हो जाती है। यथा—'वासुदेव जराकष्टं कष्टं निर्धनजीवनम्। पुत्र-शोक महाकष्टं कष्टात्कष्टतरं क्षुधा'।

२—संत मिलन सम सुख जग नाहीं', क्योंकि और सुखोंमें वासना नहीं जाती, दूसरे वे सब अंतमें दुखदाई हैं, उनमें भलाई नहीं है और संतसंग निर्वासिक सुख है, एकरस भीतर बाहर परिपूर्ण है और अन्तमें भलाई है। 'स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई। ४४। (१)' देखो।

रा० शं०—'संत मिलन सम सुख कछु नाहीं'। यह भुशुंडिजीका स्वयं अनुभव है। एक ही परम-साधुके मिलनेसे वे इस उत्तम सुखको पहुँचे।

प. प. प्र.—दुःख और सुख विरोधी हैं। अतः दुःख और सुखके कारणभी परस्पर विरोधी होने चाहिए। दरिद्रका अर्थ 'धनका अभाव' लेनेसे ऐसा विरोध नहीं रहता है। मनुजी, सत्यकेतु आदि बड़े-बड़े राजा सर्वस्वत्याग करके जानबूझकर लौकिक दृष्ट्या दरिद्र नहीं बने। भरतजी कहते हैं—'सोक समाज राज केहि लेखे।' 'यथाऽमिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि खे खगैः। तथा सर्वत्र वित्तवान्।' अतः दरिद्रका अर्थ ज्ञानका दरिद्र, अज्ञान, मोह है। मोह सभी दुःखोंकी जड़ है। विना धनके मनुष्य भी सुखी हो सकता है और मानवेतर जीवोंको धनकी आवश्यकता ही नहीं।—'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा'। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी कह गए हैं कि 'अज्ञान दारिद्र्य माझें (मेरा) सरेना (नहीं मिटता है)।' संत और अज्ञान विरोधी हैं, जैसे सुख और दुःख विरोधी हैं।

वि० त्रि०—'संत मिलन सम...' इति। संसार सुखके लिये पागल है, पर संसारमें पूर्ण कुछ भी नहीं, सब कुछ आपेक्षिक है, परिच्छिन्न है। यहाँ सुख भी परिच्छिन्न है। परिच्छिन्नसे तृप्ति नहीं होती। अतः जाने या विना जाने संसार अपरिच्छिन्न सुखको ढूँढ़ रहा है। सुखसागर राम ही सबके हृदयाराम हैं। वे ही सबके अभीष्टतम हैं। सन्तोंका मिलना श्रीरामके मिलनेका नियत पूर्वरूप है; यथा 'जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा।' सन्त भगवान्‌के प्रिय हैं, अतः उनके समान हैं। अतः उनका मिलना हृदयाराम रामके मिलनेके समान है। यथा 'कंचनको मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठसिला पहिचानत॥ तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रगट राम की देहा।' अल्पमें सुख नहीं, जो भूमा है उसीमें सुख है। संसारके सुखोंमें कोई ऐसा नहीं जो सन्तसमागम-सुखके समान हो,—'मुख देखत पातक हरैं परसत कर्म बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत, पूरब भाग मिलाहिं। वै० सं०।'—क्योंकि यह सुख भूमा है। संतसमागमसुखमें मनुष्य संसार भूल जाता है और वही सुख भगवत्प्राप्तिका कारण होकर नित्य हो जाता है। इसीसे कहा कि 'संत मिलन सम सुख कछु नाहीं।'

करु०—पूर्व कहा कि सन्तोषसे सुख होता है, यथा 'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।' और यहाँ कहते हैं कि सन्त-मिलनके समान सुख नहीं। भाव यह है कि सन्त मिलने पर सन्तोषरूपी परम धन देकर असन्तोषरूपी दारिद्र्यको दूर कर देते हैं, इसीसे तब मनुष्य सुखी हो जाता है।—'असन्तोषो दरिद्रस्यात्सन्तोषः परमं धनम्।'

वि० त्रि०—१ (क) 'पर उपकार···' इति। जो अपना उपकार न कर सका वह पराया उपकार नहीं कर सकता। सब किसीमें परोपकार करनेकी पात्रता नहीं होती। जिन्हें अपना कोई स्वार्थ नहीं है, जो पूर्णकाम हैं, वे ही परोपकार कर सकते हैं। (ख) 'बचन मन काया'—मन, वाणी और कर्मका एक रंग होना संतका लक्षण है। मन, वाणी और कर्ममें भेद पड़ना कुटिलता है। यथा 'सरल बरन भाषा सरल सरल अर्थमय बानि। तुलसी सरलै संत जन ताहि परी पहिचानि। वै० सं०। तन करि मन करि बचन करि काहू दूषत नाहिं। तुलसी ऐसे संतजन रामरूप जग माहिं। वै० सं० २३।' (ग) 'संत सहज सुभाउ'—भाव कि संत पैदा होते हैं, संत बनाये नहीं जाते। जो गर्भज्ञानी हैं, जो पूर्णकाम हैं, किसी प्रारब्धके शेष रहनेके कारण जिनका जन्म

हुआ है, वेही मनसा वाचा कर्मणा परोपकार करनेकी योग्यता रखते हैं और वेही संत है। जो पहले द्रोही रह चुके हैं और पीछेसे सत्संग द्वारा जिनकी बुद्धि सुधर गई और परोपकाररत हुए, वे 'संत समान' हैं, संत नहीं हैं। यथा 'जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही। तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।'

२ (क) 'संत सहहिं दुख…' इति। जो इस जगत्में आया है, उसे दुःख भोगनाही पड़ता है, प्रारब्ध किसीके हटाये नहीं हटता। अतः दुःख संतको भी भोगना पड़ता है। पर संत और असन्तके हृदयमें भेद है। सन्तका हृदय इतना कोमल होता है कि वह पराया दुःख देख नहीं सकता, अतः दुःख उठाकर वह उसका प्रतिकार करता है, यथा 'संत हृदय नवनीत समाना।…पर दुख द्रवैं सुसंत पुनीता।' अतः दूसरेके लिये दुःख उठानेमें उनके दुःखका भोग पूरा हो जाता है। (ख) 'पर दुख हेतु…' इति। भाव कि असन्तोंका हृदय इतना कठोर होता है कि उन्हें दूसरेके दुःखमें आनन्दानुभव होता है। अतः वे दूसरेको दुःख देनेमें दुःख उठाते हैं। इस भाँति उनके दुःख सुखका भोग हो जाता है और परलोकके लिये दुःख-भार भी खूब लद जाता है। अपने स्वार्थकी ओर देखनेवाले संत असंत दोनों नहीं होते और अपने-अपने कर्तव्य-पालनमें दोनों ऐसे दृढ़ होते हैं कि लोकमें उसकी उपमा नहीं है। यथा 'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा।'

वै०—'पर दुख हेतु असंत अभागी'। अभागीका भाव कि पाप करते करते पूर्वका भाग्य नष्ट हो गया, असत्कर्मोंकी सहायता पाकर अभाग्य प्रचंड है, अपना प्रयोजनरहित परहानिमें तत्पर होने तथा आदि अन्तमें दुःख भोगनेसे अभागी कहा। यथा—'एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये। सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुष राक्षसाः परहितं स्वार्थाय विघ्नन्ति ये। ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥' इति भर्तृहरिः।

भूर्जतरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला॥ १६॥
सन इव खल परबंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥ १७॥

शब्दार्थ—भूर्जतरु = भोजपत्रका वृक्ष। यह हिमालयपर १४००० फुटकी ऊँचाई तक होता है, इसकी छाल कागज़के समान पतली होती है और कई परतोंमें होती है। यह छाल प्राचीनकालमें ग्रन्थ और लेख आदि लिखनेमें बहुत काम आती थी; और अब तान्त्रिक लोग इसे बहुत पवित्र मानते और इसपर प्रायः यंत्र-मंत्रादि लिखा करते हैं। छालका उपयोग छाते बनाने, छत छाने और पहननेके काममें भी होता है। इसपर मंत्र, यंत्र गोरोचन, केसर, रक्तचन्दन आदिसे कार्यानुसार विविध लेखनियोंसे लिखकर ग्रह, भूतपिशाच, रोग, अल्पमृत्यु, अभिचार आदिकृत पीड़ासे मानव जीव मुक्त हो सकता है। यमनोत्तरीकी तरफ इसका प्रयोग पत्तलके स्थानपर भी किया जाता है।

अर्थ—दयावान् संत भोजपत्रके समान सदा परायेकी भलाईके लिये भारी विपत्ति सहते रहते हैं। १६। खल सनके समान दूसरोंको बाँधते हैं (उनके बंधनके लिए) अपनी खाल खिंचवाकर विपत्ति सहकर मर जाते हैं। १७।

नोट १ (क)—सन्त और खल, बिपत्ति तो ये दोनों ही सहते हैं, सन्त 'निति सह बिपति बिसाला' और खलभी 'खाल कढ़ाइ बिपति सह'। पर भेद यह है कि एक कृपाल है, सब जीवोंपर उसके चित्तमें दया है अतः वह परायेके हितके लिए दयावश भारी-भारी संकट सहकर परोपकार करता है; दूसरा पराया हित देख नहीं सकता—'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति', इससे वह ईर्ष्याडाहवश परहित-हानिमें तत्पर रहता है, अपने प्राणभी देकर दूसरेके हितकी हानि करना चाहता है,—'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे', 'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं'—बा० ४ (२, ७) में जो भाव है वे यहाँ भी हैं। (ख) सन्तके विषयमें

'विशाल' विपत्ति सहना और खलके सम्बन्धमें विपत्ति सहना कहा, पर खलका मरना कहा और सन्तका मरना न कहा। भाव यह कि सन्त विशाल विपत्ति नित्यही सहते हैं तो भी परहितके लिए होनेसे मरते नहीं और यदि उसमें शरीर छूट भी गया तो उनका यश चिरकालतक बना रहता है। यथा 'परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही।' और खलके मरनेपर उसका नामभी कोई नहीं लेता। (ग) सन्तको भोजपत्रकी उपमा दी क्योंकि भोजपत्र उत्तम कार्य्योंमें लगता है, इसपर पवित्र यंत्र-मंत्र लिखे जाते हैं जिससे दूसरोंका कल्याण होता है, इसी तरह सन्त-शरीरसे दूसरोंका कल्याण होता है। (घ) भोजपत्र अपनी खाल खिंचाकर परोपकार करता है और खल पर-अपकार करनेके लिए अपनी खाल खिंचाता है। इसके खालकी रस्सी बनती है जो दूसरोंका बंधन करती है। (ङ) कृपाल, यथा—'दया लागि कोमलचित संता'। 'नित' पाठका अर्थ नित्य और 'निति' का अर्थ 'लिये' होगा।

करु०—भोजपत्र परहितके लिए अपना बकला दे डालता है और खल अपनी खाल निकलवाकर पर-बन्धन करता है।

वै०—१ भोजपत्रकी गादि (गोंद) गुग्गुल है जो धूपमें पड़ती है। २—'सन इव०'। सनईका वृक्ष काटकर पहले पानीमें सड़ाया जाता है फिर उसकी त्वचा निकालकर उसे पटक-पटक-कर पानीमें धोते हैं फिर रेशा-रेशा अलग कर काता बटा ऐंठा जाता है, इत्यादि। सरितामें पड़कर स्वयं सड़ जाता है और जो उस जलको पिये वह मरे। इसी तरह खल अनेक महान् कष्ट सहकर भी पर-अपकार करते हैं, और अपना शरीर भी छोड़ देते हैं।—'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं'। खलको चाहे कोई जलमें डुबाये, खाल खींचे, मारे और खाल खींचकर प्राण ले, पर उस खालसे भी यदि किसीको दुःख पहुँच सके तो उसे इस दुर्गतिके साथ मरना भी स्वीकार है।

वि० त्रि०—१ 'भूर्जतरू सम…' इति। (क) आगे दोहा १२५ (६) में कहा है 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी।' वहाँ चार अचेतन पदार्थोंके साथ सन्तोंका उल्लेख यह बात दिखलानेके लिये है कि परहितका कार्य करनेके लिये इनका भी व्यवहार अचेतनवत ही है, ये सुख-दुःखको नहीं गिनते। बिटपमें फल दूसरोंके लिये लगते हैं, वृक्ष स्वयं एक फलभी नहीं खाता, नदी अमृत-सा जल लेकर दूसरोंके लिये बहती है, पर्वतकी सम्पत्ति भी दूसरोंके लिये है, पर्वतको उसका उपभोग कुछ भी नहीं है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि इन सबोंमें भोजवृक्ष दानवीर है; उसकी छाल लोगोंके काम आती है। उसीपर पुस्तकें लिखी जाती हैं, यन्त्र लिखे जाते हैं, पुड़िया बाँधनेके काममें भी आती है। इसकी समता सन्तोंसे दी जा सकती है। (ख) 'नित सह' से जनाया कि वे परहितके लिये विपत्ति सहनेमें कभी दुःखसे ऊबते नहीं। उनका शरीर सर्वसाधारणकी संपत्ति हो जाती है। (ग) 'बिपति बिसाला'—भाव कि खाल कढ़ाना सब विपत्तियोंसे भारी है, जिसे भोज वृक्ष नित्य सहा करते हैं। इसी भाँति संत परहितके लिये भारीसे भारी विपत्ति सहते हैं।

२ 'सन इव…' इति। (क) 'सन इव' से जनाया कि खल भी पर-अपकारके लिये जड़ीभूत रहते हैं, अपने सुख-दुःखका ध्यान उन्हें भी नहीं रहता, उन्हें भी शत्रु-मित्रका बिभेद नहीं रहता। यथा 'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति। (ख) सनसे जीवगण बाँधे जाते हैं, वह अन्य किसी काममें नहीं आता। पटुएकी भी रस्सी बनती है पर वह कमजोर होता है और पटुआ अन्य काममें भी आता है, अतः उससे कुछ उपकार भी होता है, इसलिये पटुआ न कहकर सन कहा। जितने दुःख हैं उन सबका मूल परबंधन (परवशता) है, यदि परबंधन न हो तो कोई दुःखही नहीं हो सकता। इसलिये और कोई दुःख देना न कहकर पर-बंधन लिखा।

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥ १८॥
पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिमउपल बिलाहीं॥ १९॥

शब्दार्थ—अहि = सर्प। हिमउपल = ओले, यथा—'जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे'। कृषि=खेती।

अर्थ—हे सर्पशत्रु! सुनिये। खल बिना स्वारथके ही सर्प और मूसाके समान दूसरोंका अपकार करते हैं। १८। परायी सम्पदाको नाश करके (स्वयं ऐसे) नष्ट हो जाते हैं जैसे ओले खेतीका नाश करके आपभी नहीं रह जाते (गल जाते हैं)। १९।

नोट—'अहि मूषक' दो दृष्टान्त देकर दो बातें कहीं, सर्प प्राण लेता है और मूसा धनधान्यको हानि पहुँचाता है, और खलमें ये दोनों अवगुण एक ठौरही स्थित हैं। पुनः, 'बिनु स्वारथ पर अपकारी' अर्थात् परहितहानिसे अपना स्वार्थ बनता हो तो पराया काज लोग बिगड़ जाने देते हैं; इसीसे यहाँ 'बिनु स्वारथ' पद दिया अर्थात् दूसरेको हानि पहुँचानेमें इनका कोई स्वार्थ निकलता हो सो बात नहीं है। इसी तरह सर्प दूसरेको डस लेता है तो वह मर जाता है पर सर्पको इससे क्या लाभ हुआ, कुछ नहीं। इसी तरह मूसा कपड़े, कागज पुस्तकें काट डालता है, इससे उसे क्या लाभ हुआ, उसका क्या स्वार्थ सिद्ध हुआ? कुछ भी तो नहीं; क्योंकि वह खानेकी वस्तु तो है नहीं। † २—'जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं' इति। 'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।' बा० ४ (७) देखो। सन्त-असन्तका मिलान—

	सन्त	खल
१ स्वभाव	परउपकार बचन मन काया	खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।
२ कार्य	संत सहहिं दुख परहित लागी	परदुख हेतु असंत अभागी
३ दोनों वृक्षरूप	भूर्जतरु सम संत कृपाला।	सन इव खल परबंधन करई।
	परहित निति सह बिपति बिसाला।	खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई।
४ दोनों का	संतउदय संतत सुखकारी।	दुष्ट उदय जग आरत हेतू।
उदय	बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी	जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू

वि० त्रि०—१ 'अहि मूषक इव' इति। निस्स्वार्थ उपकार करनेका उदाहरण चेतन जीवोंमें नहीं मिला, इसलिये उसका उदाहरण नहीं दिया। पर बिना स्वार्थके अपकार करनेवालोंका उदाहरण है, अतः कहते हैं कि 'अहि मूषक इव'। सर्प और मूषक तो हानि करके बच जाते हैं, पर सबकी हानि करनेवाला खल तो बच नहीं सकता, इसलिये आगे कहते हैं कि 'पर संपदा…'।

२ 'पर संपदा…'—परायी संपदाके नाशका कारण है कि वे परायी संपदाको देख नहीं सकते। उसे देखकर उनके हृदयमें इतनी चोट पहुँचती है कि उसका नाश किये बिना उन्हें चैन नहीं, चाहे उनका इसमें मरणही क्यों न होजाय। ओले गिरनेके पूर्व घन घमण्डका गर्जन, बिजलीकी चमक आदि होती है, वैसेही खलोंको परसंपदा देख बड़ा दर्प होता है, वे गरजते तड़पते और चमकते हैं जिससे संसार भयभीत होजाता है। पर-संपदाका नाश करनेके समयही उनका अधपतन होता है और पीछे वे गल गलकर मर जाते हैं।

प० प० प्र०—दूसरोंका अपकार करनेवालोंके दो दृष्टान्त दिये। 'अहि मूषक' का दृष्टान्त उन खलोंके लिये है जो अपने विनाशको बचाते हुए दूसरोंका अपकार करते हैं। साथही इस दृष्टान्तसे यह भी जनाया कि ये आपसमें भी वैरीके समान व्यवहार करते हैं जैसे अहि और मूषक। दूसरा दृष्टान्त उन खलोंके लिये है जो अहि मूषकसे भी अधिक दुष्ट हैं। ये दूसरोंका विनाश करनेके लिये अपने नाशकी परवा भी नहीं करते।

दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥ २०॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्वसुखद जिमि इंदु तमारी॥ २१॥

† 'परिशुद्धामपि वृत्तिसमाश्रितो दुर्जनः परान्व्यथते। पवनाशिनोऽपि भुजगाः परोपतापं न मुञ्चन्ति॥ १॥' बहुनिष्कपटद्रोही बहुधान्योपघातकः। रन्ध्रान्वेषी च सर्वत्र दूषको मूषको यथा॥ २॥ नौश्च दुर्जनजिह्वा च प्रतिकूलविसर्पिणी। परप्रतारणा यैव दारुणा केन निर्मिता॥ ३॥ सु० र० भा०॥

शब्दार्थ—उदय = अर्थ सुखसमृद्धि (दुष्ट और संतके पक्षमें)। = क्षितिजमें प्रकट होना (ग्रहके पक्षमें)। तमारी = अंधकारका शत्रु = सूर्य।

अर्थ—दुष्टका उदय (उन्नति) जगत्को दुःखका हेतु (कारण) होता है जैसा कि नीच ग्रह केतु प्रसिद्धही है। २०। सन्तोंका उदय सदा सुखका करनेवाला है जैसे चन्द्रमा और सूर्यका उदय संसारको सुखद है। २१।

नोट—१ दोनों अर्धालियोंमें उदाहरण अलंकार है। 'दुष्ट उदय जग आरत हेतू।०', 'उदय केतु सम हित सब ही के' ४ (६) देखिये।●

वि० त्रि०—'दुष्ट उदय...' इति। (क) 'उदय' का भाव कि पूर्व जितनी बातें कही हैं वे साधारण अवस्थाकी बातें हैं, पर जब दुष्टका उदय होता है तब तो संसारपर बड़ी मुसीबत आ जाती है। जब-जब संसारपर मुसीबत आई है, तब तब उसका कारण दुष्टका उदय ही हुआ है। दुष्टकी जब उन्नति होगी तब वह अपनी प्रभुताका उपयोग संसारभरको दुःख देनेमें करेगा। [(ख) 'आरति हेतू' कहकर जनाया कि संसार उससे आर्त होकर त्राहि त्राहि करने लगता है] (ग) 'अधम ग्रह केतू'—पीड़ा करनेवालेको ही ग्रह कहते हैं। जो पिण्ड आकाशमें घूमते दिखाई पड़ते हैं, वे सभी ग्रह हैं। वे सभी पीड़ा देनेवाले हैं पर व्यक्तिविशेषको समयविशेषमें ही पीड़ा देते हैं, और लोगोंके लिये सुखकर भी होते हैं। इनमें केतु विचित्र है। सब ग्रह पूर्वमें उदय होते हैं पर केतु पश्चिममें उदय होते हैं। इनकी संख्या भी बहुत है। आचार्योंने आकाशमंडलको सत्ताईस भागोंमें विभक्त किया है, यथा—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि। अतः ग्रहोंका उदय किसी न किसी नक्षत्रपर ही होता है और तदनुसार उनका शुभाशुभ फल भी होता है; पर केतु चाहे जिस नक्षत्रपर उदय हों खोटा ही फल देंगे। देश-विशेषके पालक पर ही नक्षत्रविशेषमें उदित होकर चोट करते हैं, अतः देशके देशपर आफ़त ढहाते हैं। इसलिये केतुको 'अधम ग्रह' कहा। ये प्रसिद्ध है, इनकी चाल सब ग्रहोंसे निराली है, ये उलटा ही चलते हैं, इसीसे इनकी उपमा खलसे दी। ये भी उलटा ही चलते हैं। यथा 'चलहिं कुपंथ बेदमग छाँड़े।'

नोट—२ (क) 'संत उदय संतत०'। यहाँ 'संतत' पद देकर सूचित किया कि इनका उदय सदा रहता है और दुष्टोंका उदय कुछ देरके ही लिए होता है। यथा 'बिफल होहिं रावन सर कैसें। खल के सकल मनोरथ जैसें। ६०। ६।', 'बिफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसा के। ६१। ४।' जैसे सूर्य चन्द्र सदा रहते हैं और केतुका उदय कभी भूले भटके। पर दुष्ट थोड़े ही उदयमें बहुत कुछ हानि पहुँचा देते हैं। (ख) सूर्य और चन्द्र जगत्का हित करते हैं, अंधकारको दूरकर प्राणियोंको सुख देते हैं, अन्न जल औषध वनस्पति इत्यादि देकर जगत्का पालन पोषण करते हैं, इत्यादि सुख देनेकी अनेक बातें पूर्व लिखी जा चुकी हैं। 'जगहित हेतु बिमल बिधुपूषन। १। २०। ७।' देखिए। पुनः, सूर्य और चन्द्र दोनोंको कहकर दिनरात वा निरन्तर सुखदायक जनाया। सूर्य दिनहीमें सुख देता है और चन्द्र रात ही में, सन्त दिनरात दोनोंमें। पुनः, सूर्य सबको सुखद नहीं, और न चन्द्र सबको सुखद; अतः दोनोंकी उपमा देकर सन्तका सबको सुखद होना जनाया। पुनः भाव कि चन्द्र शरदातपको हरता है और सन्त त्रितापको हरते हैं। सूर्यके प्रकाशसे अंधकार दूर होता है और सन्त ज्ञानका प्रकाश देकर संशय-मोहतमको दूर करते हैं। इत्यादि।

वि० त्रि०—(क) 'संतत' का भाव कि दुष्टके उदयके समय भी सन्तका उदय रहता है और उनके अस्तके समय भी। दुष्टका उदय संसारके लिये रोग है, अधिक दिन ठहर जाय तो संसारका नाश हो जाय। इसीलिये प्रबल दुष्टके उदय होनेपर उसके नाशके लिये अवतार होता है। यथा 'दससीस बिनासन बीस भुजा। कृत दूरि महामहि भूरि रुजा॥' (ख) 'इंदुतमारी' कहकर यह भी जनाया कि सन्तोंकी संख्या

● यथा मयूरचित्रे—'यस्य दिग्भ्युदयं केतुस्तामभियोजयत्। यतोयतः शिखीयाति राजागच्छेत्ततस्ततः॥'

दुष्टोंकी अपेक्षा बहुत कम होती है. पर उनके बिना संसारका काम नहीं चलता। पुनः यह कि सन्त चन्द्रके समान प्रियदर्शन होते हैं, उनके दर्शनसे पाप-ताप दूर होता है, परंतु उनमें ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश अहर्निश बना रहता है।

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर-निंदा सम अघ न गिरीसा† ॥२२॥
हर-गुर-निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तनु सोई ॥२३॥
द्विज-निंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमै बायस सरीर धरि ॥२४॥

अर्थ—श्रुतिमें अहिंसा परमधर्म कहा गया है। परनिन्दाके समान पाप-पर्वतराज नहीं है अर्थात् ऐसा भारी पाप दूसरा नहीं है। २२। हर और गुरुकी निन्दा करनेवाला मेंढक होता है। एक हजार जन्म वही (दादुर) शरीर पाता है। २३। ब्राह्मणकी निन्दा करनेवाला अनेक नरक भोगकर फिर संसारमें कौव्वे का शरीर धारण कर जन्म लेता है। २४।

रा० शं०—गरुड़का प्रश्न था 'कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला', वैसा ही उत्तर है 'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा'।

वि० त्रि०—(क) 'परम धरम'—सात्विकी श्रद्धायुक्त दृढ़ विश्वासके साथ तथा निर्मल मनसे वेदोदित शुभ धर्माचरण करनेसे जिस धर्मका उदय साधकके हृदयमें होता है उसे परम धर्म कहते हैं। (ख) 'अहिंसा'—सर्वथा सर्वदा प्राणीमात्रसे द्रोह न करनेको अहिंसा कहते हैं। यह सब यम नियमोंका मूल है। जाति, देश, काल और समयमें भी यदि इसमें व्यभिचार न हो तो यह महाव्रत हो जाता है। जैसे मछुवाहेका मछली छोड़कर और कहीं हिंसा न करना जातिकृत व्यभिचार है। तीर्थमें न मारना देश-कृत व्यभिचार है। चतुर्दशी आदि पुण्यतिथिको न मारना कालकृत व्यभिचार है। उपर्युक्त तीनों प्रकार से हिंसा यदि छूट गई फिर भी देव-विप्र अतिरिक्त और किसीके लिये हिंसा न करना समयकृत व्यभिचार है। सब भूमिमें सब विषयोंमें सर्वथा व्यभिचार न होना ही सार्वभौम अहिंसा है। यही महाव्रत है। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कृता, कारिता और अनुमोदिता। स्वयं करना कृता, दूसरेसे करवाना कारिता और करते हुएका अनुमोदन करना अनुमोदिता हिंसा कहलाती है। इनमेंसे एक-एकके तीन-तीन भेद हैं। चर्ममांसके लोभसे की हुई लोभपूर्वक, अपकारीके साथ की हुई क्रोधपूर्वक और धर्मदृष्टिसे की हुई मोह-पूर्वक हिंसा है। इनमेंसे भी एक-एकके मृदु, मध्य, तीव्र भेदसे तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार हिंसाके सत्ताईस भेद हुए। ये स्थूल भेद हैं। सूक्ष्म भेदकी संख्या नहीं है। (ग) 'पर निंदा...'—सच्चे दोषकथनको परिवाद और झूठे दोष कथनको निन्दा कहते हैं। पराये दोषका कहना ही बड़ा भारी पाप है, ऐसे पापीको चुगल-खोर कहते हैं, यथा 'पिसुन पराय पाप कहि देहीं।' झूठ बोलना सब पापोंसे बड़ा माना गया है। अवीचि नामका सबसे नीचेका नरक झूठोंके ही लिये है। अतः निंदामें दोनों ही आ गए। निन्दा करनेसे किसीकी कीर्तिमयी देहका भेदन होगा, यदि यह सम्भावित हुआ तो उससे उसको कोटि मरणके तुल्य दारुण दाह होगा, अतः तीव्र हिंसा भी हुई। (घ) 'अघ न गिरीसा'—असत्य पर्वतके समान भारी पाप है, अन्य पाप इसके सामने घुँघुचीके तुल्य हैं। यथा 'नहिं असत्य सम पातकपुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।' वही असत्य जब परदोषकथनसे प्रगुणीकृत हुआ तो वह पर्वतराज (सुमेरु) के तुल्य हो गया। अतः पर-निन्दा पापोंमें सुमेरु है, कोई महापाप अतिपाप इसके तुल्य नहीं।

सि. ति.—जो अपनी ओरसे बनाकर किसीपर दोषारोपण किया जाता है, उसे अपवाद एवं निन्दा कहते हैं। यथा 'अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनबास। लं० ३०।' इसी पर कहा है—'जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा।' इसमें रावणने श्रीरामजीपर झूठा ही दोषारोपण किया था। जो दोष जिसमें

† गरीसा—पाठान्तर।

हो उसका कहा जाना परिवाद है। यह किसीके सुधारके लिये दूषित नहीं है। पर उसके दुखानेके उद्देश्यसे कहना यह भी पाप है। गुरुजनोंका परिवाद भी कहना मना है। वाल्मीकीयमें दोनों एक साथ कहे गये हैं; यथा 'बहूनां स्त्री सहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम्। परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते। २। १२। २७।' अर्थात् हजारों स्त्रियाँ और हजारों उपजीवी हैं, पर श्रीरामजीके संबंधमें कोई भी परिवाद (सकारण दोष कथन) या अपवाद (अकारण दोषकथन) नहीं सुना गया है—यह राजा दशरथने कहा है।

नोट—१ पापको पहाड़ कहा है, यथा—'पाप पहार प्रगट भइ सोई।' इसके सदृश दूसरा पाप नहीं अर्थात् यह पापोंका राजा है, अतः इस पापको 'गिरीश' पर्वतराज कहा। अर्थात् यह महापाप है—(पं०)। विशेष 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।०। ४१। १-२।', 'धरम कि दया सरिस हरिजाना' में देखिए। पुनश्च यथा—'अहिंसा परमोधर्मः अहिंसा परमं तपः। निन्दा च परमोऽधर्मः हिंसा च परमं अघम्'।

वि. त्रि.—२ (क) 'दादुर होई...' इति। मनुष्य-शरीर पाकर मनुष्योचित कार्य न किया, उसकी निन्दासे हरि, हर, गुरुकी कोई क्षति नहीं हुई, पर वह व्यर्थका टर्र टर्र करता रह गया, अतः दूसरे जन्ममें मनुष्ययोनि छीन ली गई और व्यर्थकी टर्र-टर्र करनेसे मेंढकयोनि उसे मिली। यहाँ 'सहस्र' शब्द अनन्तताका द्योतक है। उसने अनन्तकी निंदा की है, यथा 'जानेसु संत अनंत समाना।' अतः उसे अनन्तकालतक मनुष्य-योनिकी प्राप्ति न होगी। (ख) 'पाव तनु सोई'—मेंढकमें यह विशेषता है कि उसे वही शरीर पुनः पुनः मिलता रहता है। गर्मीके दिनोंमें ये सूखकर मिट्टीमें मिले रहते हैं; जहाँ वर्षाका पहला जल गिरा कि ये उसी सूखी देहसे फिर पैदा हो गए।

नोट—२ 'द्विजनिंदक...' इति। द्विजनिंदाका घोर परिणाम दिखाया कि सब नरक भोगनेपर भी वह पापमुक्त न हुआ। जन्म हुआ तो चाण्डालपक्षीका। जिस मुँहसे निन्दा की उससे विष्ठा खावे। हरि-गुरुनिंदासे द्विजनिंदाको अधिक जनाया क्योंकि उसका परिणाम केवल यह दिया कि जिस जिह्वासे उसने निंदा की वह जिह्वाही निकाल ली गई, जिह्वाहीन तन उसको मिला और इसमें उस जिह्वासे मलिन वस्तु खाना पड़ती है। [एक गुरु-अपमानसे ही भुशुंडीजीको सहस्र तन धरना पड़े थे। 'द्विजनिंदक'—लोमशजीसे वादविवाद मात्रसे 'वायस' होना पड़ा था। (रा० शं० श०)]

वि० त्रि०—३ 'द्विजनिंदक...' इति। (क) भाव कि पूर्वजन्मके कर्मोंके विपाकसे जाति, आयु और भोग प्राप्त होता है। शुभाशुभ कर्मोंके उत्कर्ष और अपकर्षके तारतम्यानुसार जाति, आयु और भोगमें तारतम्य होता है। अपने उत्कर्षके लिये प्रयत्न न करके, द्विजशरीर प्राप्त करनेकी चेष्टा न करके, जो ईर्ष्यावश द्विजकी निन्दा किया करते हैं वे द्विजनिन्दक हैं। कर्ममार्गके दो साधन हैं—ब्राह्मण और गौ। ब्राह्मणमें मंत्र और गौमें गव्य निहित है। भैंस-बकरीमें भी दूध होता है, क्षत्रिय-वैश्यमें भी मंत्र है, पर वे यज्ञ-यागादिके कामके नहीं हैं। अतः गौ ब्राह्मणकी निन्दा प्रकारान्तरसे वेदमार्गकी ही निन्दा हुई। बहुनरक अर्थात् बहुत प्रकारके नरक। (ख) 'नरक भोग करि जग जनमै' इति। भाव कि नरक भोगनेके लिये यातना शरीर मिलता है, जो लोकोत्तर पीड़ा सहनके समय टिक सके। यथा 'जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु। २। १४६।' नरकभोग समाप्त होनेपर वह यातना शरीर नष्ट हो जाता है। और, उसी नरकभोगके संस्कारानुकूल उसे संसारमें जन्म लेना पड़ता है। जिस भाँति पात्रमेंसे घी निकाल लेने पर भी उस पात्रमें घीका संस्कार रहता है, उसी प्रकार पुण्यपापका भोग समाप्त होनेपर भी उनका संस्कार रह जाता है। उसी संस्कारोचित योनिमें फिर जन्म होता है। (ग) 'बायस सरीर धरि'—भाव कि द्विजनिन्दकों को अपना बड़ा भारी पक्ष रहता है, उसके आगे वे वेद-शास्त्रका अनादर करते हैं और स्वयं नवीन धर्म-शास्त्रकर्ता बननेका दावा कर बैठते हैं, सत्य वचनपर विश्वास नहीं करते, कौवेकी तरह डरा करते हैं कि कहीं ऋषियोंने वेद-शास्त्र ब्राह्मणोंके लाभके लिये तो नहीं बनाया। यथा—'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहु पच्छी चंडाला। सत्य बचन बिस्वास न करई। बायस इव सब ही ते डरई।' वायसगुणसंपन्न होनेसे उन्हें

वही शरीर मिलता है।

सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी ॥ २५ ॥
होहिं उलूक संत-निंदा-रत। मोह निसा प्रिय ज्ञान-भानु गत ॥ २६ ॥
सब कै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥ २७ ॥

अर्थ—जो अभिमानी प्राणी देवताओं और श्रुतियोंकी निन्दा करते हैं वे रौरव नरकमें पड़ते हैं। २५। संतनिंदामें जो तत्पर रहते हैं वे उल्लू होते हैं। उन्हें मोहरूपी रात्रि प्रिय है, ज्ञानरूपी सूर्य जाता रहा (अस्त हो गया)। २६।* जो मूर्ख सबकी निंदा करते हैं, वे चमगादड़ होकर जन्म लेते हैं। २७।

नोट—सुर श्रुति-निंदकको अभिमानी, सन्तनिन्दारतको मोहनिशाप्रिय अर्थात् अज्ञानी और सब की निंदा करनेवालेको जड़ कहा। भाव कि राज धन ऐश्वर्य इत्यादिके अभिमानवश मतवादसे सुर और श्रुतिकी निन्दा करते हैं। सन्त ज्ञानवान् होते हैं। ज्ञानको सूर्य कहा है—'जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा। बचन किरिन मुनिकमल बिकासा।' संतोंके वचनप्रकाशसे हृदयकी कली खिलती है। इनको ज्ञान भाता नहीं, इसीसे निन्दा करते हैं। उल्लूको सूर्य नहीं भाता। अतः ये उलूक होते हैं। निन्दा महापाप है इस बातको नहीं जानते; इसीसे सबकी निन्दा करते हैं। अपनी हानि नहीं समझते, अतः जड़ कहा। (प्र. सं.)। उसकी सोलहो आने प्रवृत्ति जड़ताकी ओर है, उसे चेतनोपयोगी शरीरमात्र किसी भाँति मिल गया है, पर है वह जड़ और आत्मघाती। यथा 'ते जड़ जीव निजातमघाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती।' (वि० त्रि०)।

रा० प्र०—रौरव नरकमें पड़ते हैं अर्थात् उद्धार किसी तरह नहीं। जिनसे ज्ञान-नेत्र मिलते हैं उन्हीं सन्तोंकी निन्दा करते हैं अतः अंधकार-प्रिय उल्लूकतन मिला। सबकी निन्दा करते, गुणको भी अवगुण कहते, इससे चमगादर हुए कि उलटे टँगे, जिस मुँहसे रस भोगे उसीसे मल उगलैं।

खर्रा—१ ज्ञान भानु गत=ज्ञानरूपी भानुसे बहिर्मुख है। २—यह प्रासंगिक निन्दकोंका कर्म-विपाक कहा।

वि० त्रि०—'सुर श्रुति निंदक…' इति। १ (क) वेदही आदिशास्त्र है, वेदके ज्ञानसे ही संसारमें प्रकाश है। जितने प्रचलित मत हैं उनमेंसे यदि वेदोदित धर्म निकाल लिया जाय तो उनमें कुछ भी नहीं रह जाता; अतः वे सब वेदोपजीवी हैं। उस परमेश्वरके आदि-उपदेशकी जो निंदा करता है, वह श्रुतिनिंदक है। वेदप्रतिपाद्य देवता लोगही इस संसारके अधिकारी (ईश्वरसे नियुक्त अफसर) हैं, जो चारों ओरसे विश्वकी रक्षा किया करते हैं। यथा 'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिन काल जम सब अधिकारी।' (ख) 'जे अभिमानी'—भाव कि ऐसे वेद और देवोंकी निंदा अधम अभिमानी ही कर सकता है। जिस सूर्यकी अनुग्रहसे वह देखता है, जिस चन्द्रके अनुग्रहसे मनन करता है, जिस पवनके अनुग्रहसे उसके शरीरमें श्वास चलता है, जिस कुबेरकी कृपासे उसे धन प्राप्त होता है, जिस अग्निकी कृपासे उसे वाणी मिली है, जिस कालकी कृपासे उसका जीवन है, जिस यमके अनुग्रहसे अबाधित जीवन व्यतीत कर रहा है, उन्हीं देवताओं की निंदा करनेवाले, और जिस ज्ञान-सूर्यसे उसे ज्ञानप्रकाश मिल रहा है, उसकी भी निन्दा करनेवालेको रौरव नरकके सिवा और स्थान कहाँ है? यहाँ रौरव शब्द उपलक्षण है; रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र तथा अवीचि सबका बोधक है। अवीचि अन्तिम नरक झूठोंके लिये है, वहाँ तक उसको जाना ही है। रौरवसे आरंभ करके अवीचिमें स्थिर होता है। वहाँसे निकलनेकी अवधि ग्रंथकार नहीं देते।

२ 'होहिं उलूक संत-निंदा-रत।…' इति। (क) जो बड़े उपकारी हैं, जिनके रामचरितामृतकी

* १—ज्ञानरूपी रवि जिनके मतमें है ही नहीं—(पं०)। २—ज्ञानरूप सूर्य उन्हें प्यारा नहीं है—(शिला)। ३ ज्ञानरूपी सूर्यके अस्त होनेपर जो मोहनिशा होती है वही उन्हें प्यारी है। (वि. त्रि.)।

वर्षा करनेसे जगत् प्लावित हो रहा है, जिनके सद्गुणोंसे संसारमें मङ्गल है, उनकी निन्दामें जो लगे हुए हैं वे सन्तनिन्दारत हैं। भाव कि सन्तोंका यश किसीके रोके नहीं रुकता, पर वे उसके रोकनेमें भी कुछ उठा नहीं रखते, दिन-रात यत्नशील रहते हैं। (ख) जो जैसा चाहता है वैसाही होजाता है। यथा 'जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू।' संतनिन्दारत 'मोहनिशाप्रिय ज्ञानभानुगत' हैं। वे प्रकाश नहीं चाहते, अंधकार चाहते हैं, इसीसे उसे उल्लूकी योनि मिलती है। उल्लूयोनिप्राप्तिको दण्ड भी कहा जाता है, पर वस्तुतः यह सन्तनिन्दकके चाहे हुए कर्मका वास्तविक परिणाम है। (ग) मोह निसा प्रिय—भाव कि इसे अविद्यान्धकारमें पड़े रहनाही प्रिय है और संत उसके नाशक हैं, इसीसे उसे संतोंसे द्रोह है। सन्तोंका कुछ कर तो सकता नहीं, अतः निन्दा ही करता फिरता है, लोकमतको उनके विरुद्ध खड़ा करनेका प्रयत्न करता है।

३ 'सबकै निंदा···' इति। (क) भाव कि हर, गुरु, द्विज, सुर, श्रुति और सन्त इनमेंसे एक-एककी निन्दाकरनेवालेकी गति पृथक्-पृथक् कहकर अब सबकी निंदा करनेवालोंकी गति कहते हैं। सबकी निन्दा करनेवालोंमें उपर्युक्त चारों प्रकारके निन्दकोंके दोष मौजूद हैं। (ख) 'चमगादर होइ···'—चमगादड़ देहमेंही उपर्युक्त चारों निन्दकोंकी प्रवृत्ति चरितार्थ हो सकती है। चमगादड़ मेंढककी भाँति व्यर्थ शब्द करता काकके समान छली, मलिन आदि है, मुखसे मल त्याग करता है, उलटा टँगा रहता है, उल्लूकी भाँति उसे अंधकार प्रिय है। (ग) पापियोंके मुकुटमणि होनेसे उनके जन्मको अवतार कहा।

करु०—सबकी निंदाका फल चमगादरतन मिला। जिस मुखसे निन्दा की वह मुख गुदा कर दिया गया; अब उसीसे भोजन करते हैं और उसीसे मल त्याग करते हैं। दूसरा दंड यह कि सर्वदा उल्टे टँगे रहते हैं। मुख नीचे पैर ऊपर।—भाव कि निन्दकका मुखही गुदा है—(वै०)।

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह*ते दुख पावहिं सब लोगा॥२८॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते† पुनि उपजहिं बहु सूला॥२९॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥३०॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजै सन्यपात दुखदाई॥३१॥

अर्थ—हे तात! अब मानसरोग सुनो, जिनसे सभी लोग दुःख पाते हैं। २८। मोह सब रोगोंकी जड़ है। फिर उनसे बहुतसे शूल उत्पन्न होते हैं। २९। काम वात, है अपार लोभ कफ है और क्रोध पित्त है जो नित्य छाती जलाए रहता है। ३०। हे भाई! यदि ये तीनों भाई प्रीति करते हैं तो दुःख देनेवाला सन्निपात उत्पन्न होता है। ३१।

नोट—१ 'सुनहु तात···' इति। (क) श्रीगरुड़जीने प्रश्न किया था कि 'मानस रोग कहहु समुझाई'। इस अत्यन्त आवश्यक सातवें प्रश्नका जिसका भवसागरसन्तरणसे सम्बंध है, उत्तर दे रहे हैं। अतएव श्रोताको पुनः सावधान कर रहे हैं। अतः कहा कि 'सुनहु'। (ख) 'मानस रोगा' अर्थात् सूक्ष्म शरीरके रोग। (ग) 'जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा' इति। भाव कि सब शारीरिक रोग सबको नहीं होते, पर सभी मानसिक रोग न्यूनाधिक मात्रामें सबको होते हैं। सभी रोग दुःखके देनेवाले हैं, यथा—'रोगाः दुःखस्यदातारो ज्वर प्रभृतयोहिते' (माधव निदाने)। पर शारीरिक रोग बहुतोंको आजीवन नहीं होते और न सब रोग सबको होते हैं, कोई किसीको, कोई किसीको होते हैं अतः उनका दुःख सबको नहीं प्राप्त होता। पर मानस रोग सभीको होते हैं, यथा—'हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए। १२२। २।' अतः इनसे सब लोगोंका दुःख पाना कहा। (ख) मानस रोगोंको यहाँ साङ्गोपाङ्ग रूपकसे वर्णन करते हैं।

वि० त्रि०—पूर्व संवाद ज्ञानभक्तिभेद प्रकरणमें ही इन सातों प्रश्नोंके बीज हैं। 'सात्त्विक श्रद्धा

* 'जेहिं तें' † 'तेहि तें'—रा० गु० द्वि०।

धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई। ११७। ६।' सुननेपर यह प्रश्न चित्तमें उठा कि दुर्लभ गतिके साधनके उपयुक्त कौन शरीर है? 'तब फिर जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस। ११८।' सुननेसे प्रश्न उठा कि 'बड़ा दुःख कौन है?' गरुड़जी पक्षिराज हैं। राजाओंका सीमापर बहुत ध्यान रहता है। अतः सातो प्रश्न सीमा-सम्बंधी ही किये। 'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। ११९। ६।' से तीसरा प्रश्न उठा कि कौन सुख भारी है? 'सो बिनु संत न काहू पाई। १२०। १८।' से प्रश्न उठा कि 'संत असंतका स्वभाव कैसा होता है?' 'परमधर्ममय पय दुहि भाई। ११७। १३।' से प्रश्न उठा कि 'कौन अघ परम कराल है?' और 'व्यापहिं मानस रोग न भारी। १२०। ८।' से यह प्रश्न उठा कि 'मानस रोग क्या है?' यह प्रश्न श्रोताके मनमें पहले ही उठा था, पर प्रश्नके क्रमके अनुसार अब उत्तर देते हैं।

२ 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।…' इति। (क) 'सकल व्याधिन्ह' से तात्पर्य शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारकी व्याधियोंसे है। रोगविज्ञान निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति इन पाँचसे होता है। यहाँपर यथासाध्य निदान, रूप और उपशय कहा जायगा, पूर्वरूप और सम्प्राप्तिका अनुमान कर लेना पड़ेगा। (ख) संपूर्ण मानसिक रोगोंका मूल मोह (अज्ञान) है और समस्त शारीरिक रोगोंका मूल प्रज्ञापराध है। यह प्रज्ञापराध भी अज्ञानके ही अन्तर्गत है, अतः सब व्याधियोंका मूल मोह ही हुआ। (ग) 'पुनि तेहिते उपजहिं…'—भाव कि प्रज्ञापराधसे मिथ्याहार-विहारका सेवन होता है। और उससे आठ प्रकारके शूल होते हैं। इसी भाँति अज्ञानसे विषयमें प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्तिसे मानसिक शूल उत्पन्न होते हैं। 'बहु सूला' का भाव कि शारीरिक शूलोंकी तो गिनती कर ली गई कि ये आठ प्रकारके हैं पर मानसिक शूलोंकी गिनती नहीं हो सकती।

३—'काम बात कफ…' इति। (क) यह स्थूल शरीर वात, पित्त और कफसेही धृत है, परन्तु ये ही वात, पित्त, कफ जब साम्यावस्था छोड़कर कुपित हो जाते हैं, तो शरीरमें रोग उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार यह मानसिक शरीर भी काम (राग), क्रोध (द्वेष) और लोभ (तृष्णा) से धृत है; परन्तु ये ही काम, क्रोध, लोभ जब उचित बर्तावको त्यागकर दुष्ट होते हैं तो अनेक मानसिक रोगोंके कारण होते हैं। इनमें कामकी उपमा वातसे दी गई है। पित्त पंगु है, कफ पंगु है, वातमात्र गतिशील है। यह जहाँ-जहाँ पित्त-कफको ले जाता है, वहीं ये बादलकी भाँति आकर वर्षा करने लगते हैं। इसी भाँति मानसिक शरीरमें काम है, यह क्रोध और लोभका नेता है [वायुकी प्रकृति शीतल है, वैसेही कामकी प्रवृत्ति भी प्रीत्यात्मक होती है। (सि० ति०)] (ख) 'कफ लोभ अपारा'—कफको अपार कहा, क्योंकि इसका पार देहीको नहीं लगता, अन्तमें कफही प्राण-वियोगका हेतु होता है, मरणासन्न अवस्थामें कफ घेर लेता है। फिर उसे मनुष्य नहीं उल्लंघन कर सकता। इसी भाँति मानसिक शरीरमें लोभ है। ब्रह्माण्डका प्रभुत्व मिल जाय तो भी यह तृप्त नहीं होता। 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।' लोभसेही मनका पतन होता है। (ग) 'क्रोध पित्त…' क्रोधको अग्नि कहा है और पित्त भी अग्नि है। दोनों दाह उत्पन्न करते हैं, दोनोंसे शरीर जलने लगता है, भ्रम होता है, मूर्छा होती है। दोनोंके वेगमें छाती जलती रहती है। यह समानता है।

प० प० प्र—काम, लोभ क्रोधको वात, कफ और पित्तसे उपमित करनेमें कविकी आयुर्वेद विशारदत्वकी प्रतीति होती है। कामको प्रथम कहा क्योंकि यह क्रोध और लोभका जनक है, प्रेरक है। कफ और पित्त स्वयं जड़ हैं। वे वात (वायु) की प्रेरणासेही शरीरमें कार्य करते रहते हैं। बात वश जीवको भय, लज्जा आदि कुछ नहीं रह जाते और 'कामातुराणां न भयं लज्जा'। कामका अर्थ इच्छा, वासना लेना भी उचित है। गर्भोपनिषत्‌में कफपित्तादिका सामान्य प्रमाण दिया गया। जैसे, कफ १ आढक (=४ प्रस्थ=४ सेर ५३ तोले ४ माशे); पित्त १ प्रस्थ (=४ कुडव=५३ तोला ४ माशा)। कफ चिकना होता है, शीघ्र बाहर निकलता नहीं, शरीरमें गुप्त रहता है, बढ़नेपर क्षुधाको मन्द कर देता है। येही लोभके गुण लोभीमें देखे जाते हैं। कफका प्रमाण शास्त्रोंमें मिलता है पर लोभका कोई प्रमाण नहीं, सीमा नहीं; इसीसे इसे 'अपारा' कहा—

'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।' लोभ कितना दुर्जन है यह स्कन्द पु० कुमार ३।२७७-८७ तक देखिए।

पित्त जल और तेजका संयुक्त कार्य है। इच्छा (काम) का प्रतिबंध होनेपर उसका ही रूपान्तर क्रोधमें होता है। इच्छित वस्तु मिलनेपर इच्छाका रूपान्तर लोभमें होता है। पित्त कड़ुवा, खट्टा, तीखा होता है। उसी प्रकार क्रोधका प्रत्यक्ष प्रथम अनुभव कटु-कठोर-भाषण, 'क्रोधके परुष बचन बल' है। तेज तत्त्वका कार्यपित्त है, इसके बढ़नेसे छातीमें जलन होती है। वैसेही क्रोधसे छाती जलती है। यथा 'दहै रिस छाती है। १।२८०।१।' पित्त बढ़नेपर भी अपार नहीं, कुछ कालके अनन्तर घट जाता है, वैसेही क्रोध भी शान्त हो जाता है।

सन्निपात=त्रिदोषोंका कुपित होना। प्रत्येक व्याधिमें सन्निपात हो सकता है। सन्निपातज व्याधि असाध्य होते हैं। (माधवनिदान देखिए)। सन्निपात ज्वरके मुख्य चौदह प्रकार गिनाये गए हैं। और फिर इनमेंसे हर एकमें अनेक भेद हैं।

वि० त्रि०—'प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई०' इति। (क) 'जौं…' का भाव कि बात, पित्त और कफ तीनों भाई हैं, उसी शरीरमें रहते हैं, पर तीनों प्रीति नहीं करते। वे अकेले ही रोग उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं, या दो-दो मिलकर रोग उत्पन्न करते हैं। अर्थात् वात-पित्त प्रधान, कफ-पित्त प्रधान, वात-कफ प्रधान होकर रोग उत्पन्न करते हैं। यदि आपसमें प्रीति करके तीनों प्रधान हो जायँ तो मनुष्य कालवश हो जाता है। इसी भाँति कोई कामी, कोई क्रोधी और कोई लोभी होता है। किसीमें काम क्रोध दोनों बढ़ जाते हैं, किसीमें क्रोध-लोभ, किसीमें काम-लोभ हो जाता है। यदि काम-क्रोध-लोभ तीनों बढ़ें तो मानसिक शरीरका पतन अनिवार्य है। (ख) 'सन्निपात दुखदाई'—तीनोंके प्रीति करनेपर अभिन्यास सन्निपात पैदा होता है। यह महादुःखदाई है, प्राण लेकरही छोड़ता है। सन्निपातमें प्रलाप भी होता है। ठीक यही गति मानसिक सन्निपातकी भी है।—'सन्निपात जल्पसि दुर्बादा। भएसि कालबस सठ मनुजादा।' [विशेष 'गुनकृत सन्यपात नहि केही। ७१। १।' में देखिए। सन्निपातमें उचित अनुचितका विचार, लज्जा, मर्यादा कुछ नहीं रहती।]

वि० टी०—काम क्रोधके कुपित होनेका यह कारण प्रायः माधवनिदानसे मिलता है, जिसमें यों लिखा है—'काम शोक भयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयोमलाः' अर्थात् काम, शोक और भयसे वातका प्रकोप होता है तथा क्रोधसे पित्त भड़कता है।

पं०—वात-पित्त-कफसे सन्निपात होता है, वैसेही कामक्रोधलोभसे महापातकी होता है।

बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥ ३२॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई॥ ३३॥

शब्दार्थ—दाद (दद्रु)=एक चर्मरोग जिसमें शरीरपर उभरे हुए ऐसे चकत्ते पड़ जाते हैं, जिनमें बहुत खुजली होती है। यह विशेषतः कमरके नीचे जंघेके जोड़के आसपास होती है जहाँ पसीना होकर मरता है। यह प्रायः बरसातमें गन्दे पानीके संसर्गसे होती है। दाद दो प्रकारकी होती है, एक कागजी दूसरी भैंसिया। १८ प्रकारके कोढ़ोंमें भी इसकी गिनती है। दद्रु मण्डल लाल होता है। यथा 'सकण्डूरागपिटिकं दद्रुमण्डलमुद्गतम्। इति माधवनिदाने।' कंडु (कण्डु)=खाज, खुजली। इसमें छोटी-छोटी बहुतसी फुंसियाँ होती हैं। इनसे स्राव भी होता है, खुजली और जलन होती है। दाद और खाजमें भेद यह है कि खाजमें छोटी फुंसियाँ तो बहुत होती हैं पर उनका कोई मण्डल नहीं होता और दादमें मण्डल होता है। खुजलीमें दाह होता है, दादमें नहीं। यथा 'नामतो विंशतिविधाः बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः। तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः॥ बहुपादाश्च सूक्ष्माश्चयूकालिक्षाश्च नामतः। द्विधा ते कोठपिडिकाः कण्डूगण्डान् प्रकुर्वते॥ सूक्ष्मा बह्वयः पीडकाः स्राववत्यः पामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः। इति माधवनिदाने।' यह भी क्षुद्र कुष्ठ है, जूँ और लीख इसके भी कारण हैं। 'गरह'—महानुभावोंने 'गरह'के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। कोई तो इसे घेघा कहते हैं। यह गलेका रोग है जिसमें गलेमें सूजन होकर बतौड़ा-सा निकल आता

है। कोई कंठमाला, गंडमाला वा गलगंड कहते हैं। इस रोगमें गलेमें छोटी-छोटी बहुत-सी फुड़ियाँ लगातार मालाकी तरह एक पंक्तिमें निकलती हैं। यह रोगभी बड़ी कठिनतासे अच्छा होता है, बहुत गहराई तक जाता है। माधवनिदानमें लिखा है कि दूषित वात कफके गलेमें एकट्ठा होनेसे सूजन होकर यह रोग उत्पन्न हो जाता है—'वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्येत संश्रित्य तथैवमेदः। कुर्वंति गंडं क्रमशः स्वलिंगैः समन्वितं तत् गलगंडमाहुः।' और कोई इसको ग्रहका अपभ्रंश मानते हैं और अर्थ करते हैं कि 'हर्ष विषाद ग्रहोंकी अधिकता है।' कोई (रा० प्र०) इसका ग्रहनी (संग्रहनी) रोग अर्थ करते हैं। पंजाबीजी 'गठिया बात' अर्थ लिखते हैं, और कंडुका अर्थ रघुरक रोग करते हैं। वैजनाथजी लिखते हैं कि 'गरह, गलेका नाश करनेवाला घेघा रोग है। यह शोथरोगोंमें है। कफ वात इसका मूल है। पानीके विकारसे उत्पन्न होता है, गला बढ़कर लटक पड़ता है, भीतर नसें पिराती हैं। यहाँ रोगोंका साङ्गरूपक है। इससे अधिक लोग 'गरह' से 'गलेका रोग' अर्थ करते हैं। और कहते हैं कि ग्रह अर्थ सङ्गत नहीं जान पड़ता, क्योंकि नवग्रहसे यहाँ प्रयोजन नहीं। हिन्दी शब्दसागरमें इसका अर्थ 'ग्रह' किया गया है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि वैद्यकमें देव, असुर, गंधर्व, यक्ष, पिशाच, राक्षसादि बहुतसे ग्रह कहे गए हैं। यथा—'देवग्रहाः पौर्णमास्याम-सुराः सन्ध्ययोरपि। गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्चप्रतिपद्यथ।' इत्यादि। (माधवनिदान)। ये उन्माद उत्पन्न करते हैं। किसी ग्रहमें मनुष्य हर्षित होता है और किसीमें विषादयुक्त, पर है उन्माद ही। (वि० त्रि०)

उन्मादका वर्णन इस प्रकार है—'विरुद्ध दुष्टाशुचि भोजनानि, प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्। उन्माद-हेतुर्भयहर्षपूर्वोमनोभिघातो विषमाश्च चेष्टाः।' इसमें देव, गुरु और द्विजोंका अपमान करनेसे जो उन्माद रोग होता है उसमें प्रत्यक्ष कारण सूर्यादि नवग्रह नहीं बल्कि देवता-ग्रह, असुर ग्रह, गंधर्वग्रह, यक्षग्रह, पितृग्रह, सर्पग्रह, राक्षसग्रह, पिशाचग्रह और भूतग्रह, ये नौ प्रकारके ग्रह (ग्रहण करनेवाले, पकड़नेवाले) हैं, जो उस मानव जीवको लगते हैं, वे ही 'गरह' हैं। माधवनिदान उन्मादनिदान श्लोक १७ से २५ तक देखिए। इनके अतिरिक्त बालग्रह भी हैं, इनकी संख्या भी नौ है। उन्मादरोगका सामान्य लक्षण माधव-निदानमें ये हैं—'धी विभ्रमः सत्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टीरधीरता च। अबद्धवाक्यं हृदयं च शून्यम्। सामान्यमुन्माद गदस्यलिङ्गम्।' ये सब लक्षण हर्षविषाद में देखे जाते हैं। (प. प. प्र.)। बहुताई=गहराई, यथा 'चितव कृपाल सिंधु बहुताई। ६। ४। ३।'=बहुतायत।

अर्थ—अनेक प्रकारके कठिनतासे प्राप्त होनेवाले विषयोंके जो मनोरथ हैं वेही सब प्रकारके शूल हैं जिनके नाम कौन जानता है। ३२। ममता दाद है, ईर्ष्या (उस दादमेंकी) खाज है, हर्ष और विषाद गहरा गलेका रोग वा ग्रहोंकी बहुतायत है। ३३।

वै०—'विषय-मनोरथ०'। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन्द्रियोंके विषय हैं। इनकी प्राप्तिके लिए अनेक प्रकारके मनोरथ हृदयमें उठा करते हैं। दुर्गम—जिनकी प्राप्ति कठिन है जैसे नृत्य राग षट्रस दिव्य भोजन भूषण वसन, शय्या इत्यादि मनोरथ प्रत्यंग शूलपीड़ा है।—[जिस इन्द्रियके विषयका जो मनोरथ है वह उसी इन्द्रियका शूल है। जैसे रूपविषयका मनोरथ हुआ तो उसे नेत्र इन्द्रियका शूल समझना चाहिए; इत्यादि प्रकार औरोंकेभी समझ लें]

वि० त्रि०—'दुर्गम नाना'—यद्यपि विषय पाँच माने गए हैं, एक-एकके सहस्त्रों भेद हैं। विषय-भेदसे मनोरथके भी असंख्य भेद हो गए हैं। दुर्गमसे जनाया कि विषयकी प्राप्तिसे सन्तोष नहीं होता, तृप्ति होती नहीं, चाह बढ़ती जाती है, बाधाओं की कमी नहीं रहती। 'ते सब सूल'—भाव कि एक भी मनोरथ सुखदाई नहीं है। मनोरथ ही दुःखरूपमें परिणत हो जाता है। यद्यपि वातकृत शूल, पित्तकृत शूल, कफकृत शूलके पृथक्-पृथक् लक्षण हैं, पर सबोंका प्रभु वात ही है। इसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें भी कामकृत मनोरथ, लोभकृत मनोरथ, क्रोधकृत मनोरथ पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी सबका मनोरथ काम ही है। 'नाम को जाना'—भाव कि संख्या इतनी अधिक है कि इनके पृथक् न तो कोई नाम रख सका और न कोई स्मरण ही कर

सकता है। जब नाम नहीं तब कोई जान कैसे सके ?

नोट—'ममता दादु'—ममताको दाद कहा, क्योंकि जैसे दाद खुजलानेमें बहुत प्रिय लगता है, उससे बड़ा सुख मिलता है, जितना ही खुजलाया जाय उतनी ही खुजलानेकी इच्छा बढ़ती है, पर पीछे बड़ा कष्ट होता है; वैसे ही किसीपर ममत्व हुआ तो वह पहले प्रिय लगता है। ममताके संघर्षमें बड़ा सुख मिलता है और बढ़ता ही जाता है। पर अंतमें बड़ा कष्ट होता है। दाद शरीरमें होती है वैसे ही शरीरसे उत्पन्न बाल-बच्चों तथा संबंधियोंमें ममत्व होता है। जैसे ही ये बाल-बच्चे संबंधी अथवा प्रिय पदार्थ किसी योगसे जाता रहता है वैसेही अनेक दुःख होता है। इत्यादि। (करु., वि. त्रि.)। दादमें लालिमा और मण्डलाकार वृद्धि होती है, ममतामें रजोगुण लालिमा है। ममताका मण्डल माता, पिता, वस्त्र, पात्रादि, धन, स्त्री, पुत्र, कन्या, आदि है जो बढ़ता ही जाता है। (प. प. प्र.)।

रा० शं०—विषयमनोरथको शूल कहा क्योंकि प्रथम तो मिलनेकी चिन्ता, फिर उपायमें दुःख और न प्राप्त होनेपर शोक होता है।

वै०—'ममता दादु ।' दाद त्वचारोग है, विकार खून इसका मूल है, भीगे वस्त्रकी संग्रह पाकर देह की गर्मीसे अंकुरित होता है। मानसमें 'ममता' रोग देहसम्बन्धमें है, प्रणय इसका मूल है अर्थात् अपना मान लेना स्नेहसंग्रहचित्ताचाह बढ़नेसे समीपता प्रिय लगती है, उस प्रिय वस्तु की हानि वियोगसे दुःख होता है। 'कंडु इरषाई'—खाजभी त्वचारोग है, रक्तविकार मूल है, यह रोगीकी संग्रहसे अंकुरित होता है (छूतकी बीमारी है)। ईर्ष्याभी कुसंगद्वारा कुटिल स्वभाव होनेपर थोड़े ही कारणसे मनमें होने लगती है, इसका खेद बराबर मनमें बना रहता है, यही खाजका खुजलाना है।

वि० त्रि०—'कंडु इरषाई' इति। दूसरेका उत्कर्ष न सह सकना ईर्ष्या है। यथा 'देखि न सकहिं पराइ बिभूती। २। १२। ६।', 'पर संपदा सकहु नहि देखी। तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी।१। १३६।७।' ईर्ष्याके विषयोंकी कमी नहीं, इसीसे छोटी-छोटी फुंसियोंकी भाँति मानसिक शरीरमें विकार होता है और उन विकृत स्थलोंसे मलस्राव होता है। ममतावाली वस्तुएँ अपने गोल (मण्डल) की हैं, ईर्ष्यावाली नहीं हैं, इसलिये ईर्ष्यामें मंडल नहीं होता। ईर्ष्यामें दाह होना स्वाभाविक है। इसलिये ईर्ष्याको कण्डु कहा।

'हरष बिषाद गरह....' इति। इष्टप्राप्ति या इष्टप्राप्तिकी आशासे हर्ष और इष्टके वियोग तथा वियोगके भयसे विषाद होता है। हर्ष विषाद भी मनोविकार-विशेष है। इनमें मनुष्य उन्मत्त होजाता है। इसलिये इनकी उपमा ग्रहकी बहुताईसे दी गई है। जिस प्रकार उन्मादमें मनुष्य ग्रहोंकी प्रकृतिके अनुसार उत्तम, मध्यम, निकृष्ट चेष्टाएँ करता है पर वे सब चेष्टाएँ उन्मत्त चेष्टा ही हैं; इसी भाँति उत्तम, मध्यम, अधम इष्टानुसार हर्ष-विषादकी अनेक चेष्टाएँ होती हैं, पर वे सब चेष्टाएँ उन्मत्त चेष्टाकी भाँति परिणाममें दुःख देनेवाली है। इसी लिये हर्ष-विषादको ग्रहकी बहुतायत कहा। हर्ष (कामनाकी पूर्त्तिसे) विषाद (वाञ्छितकी हानिसे)।

परसुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥ ३४ ॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ †। दंभ कपट मद मान नेहरुआ ॥ ३५ ॥

अर्थ—पराया सुख देख जो जलन होती है, वह क्षयी रोग है। दुष्टता और मनकी कुटिलता कुष्ठ (कोढ़) रोग हैं।३४। अहंकार अत्यंत दुःखत डमरुवा रोग है और दंभ कपट मद मान नहरुआ रोग है।३५।

शब्दार्थ—'छय' (क्षयी)—यह एक प्रसिद्ध राजरोग है जिसमें रोगीका फेफड़ा सड़ जाता है और सारा शरीर धीरे-धीरे गलता जाता है। इसमें रोगीका शरीर गर्म रहता है, ज्वर सदा बना रहता है, उसे खाँसी आती है और उसके मुँहसे बदबूदार कफ निकलता है जिसमें रक्तका भी कुछ अंश रहता है। धीरे-धीरे रक्तकी मात्रा बढ़ती जाती है। वेगावरोध, धातुक्षय, दुःसाहस, विष-भक्षण, बहुत अधिक वा बहुत कम

† हकरुआ—(का०)। डहरुआ—(पाठान्तर)।

भोजन इत्यादिसे इस रोगकी उत्पत्ति कही गई है। आरंभमें यदि चिकित्सा ठीक हो तो रोगीके बचनेकी आशा है नहीं तो यह रोग असाध्य हो जाता है। 'कुष्ठ'-यह रक्त और त्वचासंबंधी रोग है। संक्रामक (छूतसे फैलनेवाला) और पुरुषानुक्रमिक होता है। यह १८ प्रकारका कहा गया है जिसमेंसे सात प्रकारके महाकुष्ठ कहे गए हैं जो साध्य हैं [ये फूटकर बहने लगते हैं—(वै०)] और शेष ११ क्षुद्रकुष्ठ कहे गए हैं जो असाध्य हैं। [ये फूटकर बहते नहीं, त्वचामें बंद रहते हैं—(वै०)] इस रोगमें प्रथम चमड़ा लाल हो जाता है और उसमें बहुत जलन होती है। साधारणतया यह दो प्रकारका होता है, एक श्वेत दूसरा गलित, जिसमें हाथ-पैरकी अँगुलियाँ गलगलकर गिर जाती हैं। यह रोग सब रोगोंसे विशेष घृणित है। कुष्ठीको कोई पास बैठने नहीं देता। 'डमरुआ'-(१) यह वातका एक रोग है जिसमें शरीरके जोड़ जकड़ जाते हैं और उनमें दर्द होता है। गठिया। यह अर्थ हिंदी शब्दसागरका है। (२) वह रोग जिसमें पेट डमरूकी नाईं फूल जाता है अर्थात् प्लीहोदर वा कछुई रोग। दाह उत्पन्न करनेवाले और पेट फुलानेवाले पदार्थोंके खानेवालोंके कफ और रक्त बिगड़कर बर्वटको बढ़ा देते हैं जिससे रोगी बहुत दुःखित रहता है। फिर पाचनशक्ति मंद पड़जाती है, रोगी पीला पड़ जाता है। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'इसे वैद्यकमें मेदरोग कहते हैं। मेद इसकी मूल है। कुपथ्यसे मेद बढ़कर पवन रोककर जठराग्निको बढ़ाती है। तब अधिक भोजनसे मेद बढ़ता है, जिससे बड़ी पीड़ासहित पेट बढ़ता जाता है और रुधिर मांस वीर्य्य घटता जाता है जिससे निर्बलता और दुबलता होती जाती है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि काशीके एक प्रसिद्ध अनुभवी वृद्ध वैद्य पं० भगवतीप्रसाद मिश्रजीका मत है कि डमरुआ गलगण्ड रोग है। 'निबद्धश्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बतेगले' यह गलगण्डका लक्षण है। बँधा हुआ शोथ जो गलेमें मुष्ककी भाँति लटकता है, उसे गलगण्ड कहते हैं। मुष्कका सादृश्य डमरूसे है, उसकी भाँति होनेसे इस रोगको डमरुआ कहे जानेकी बहुत सम्भावना है। लक्षण भी मिलता है। गलगण्डके रोगीको सुई चुभानेकी भाँति पीड़ा होती है, उसका रूप अभिमानी-सा हो जाता है। उसको देखनेसे लोगोंको चिढ़ सी मालूम होती है। रोग बढ़ जानेसे श्वास लेनेमें पीड़ा होती है। इसलिए अहंकारको डमरुआ कहा।

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि जो अनेक अर्थ ऊपर दिये गये हैं उनमें और अहंकारमें कोई साम्य नहीं देख पड़नेपर मेरे विचारमें कैन्सर Cancer ही अर्थ आया। इसका आधार भी स्वर्गीय डा० श्री० म० वैद्य एल० एम० एस० के माधव-निदान-ग्रन्थमें मिल गया। अर्बुदरोग-निदान-प्रकरणमें अङ्गरेजीमें समास (margin) में Cancer और उसके विविध भेदोंके नाम मिले। अर्बुदके लक्षण पढ़नेपर निश्चय होगया कि कैन्सरहीको डमरुआ कहा है। वह अर्बुदरोगही है। अहंकारके सभी लक्षणोंका पूर्ण साम्य इनमें मिलता है। शरीरके किसी भागमें, प्रकुपित वातादि दोष मांस या रक्तको दूषित करके गोल, स्थिर, बढ़नेवाला, जिसके मूल बहुत गहरे हड्डी तक भी होते हैं, बहुत काल धीरे-धीरे बढ़नेवाला, न पकनेवाला, बहुत गहरे भागमें जिसकी उत्पत्ति होती है—ऐसा मांसका एक पिंड पैदा करते हैं; इसीको अर्बुद कहते हैं। अबुद निदान, यथा—'गात्र प्रदेशे क्वचिदेव दोषाः सम्मूर्छिता मांसमसृक् प्रदूष्य। वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृध्यपाकम्। १८। कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।'

४ नहरुआ—यह रोग प्रायः कमरके निचले भागमें होता है। पानीके साथ एक विशेष प्रकारके कीड़ेके शरीरमें प्रविष्ट हो जानेके कारण यह रोग होता है। इसमें पहले किसी स्थानपर सूजन होती है [विकार जल पीनेसे पवन कोपकर हाथ-पैरमें सूजन फुंसी पैदा करता है जिसके फूटनेपर] फिर छोटा-सा घाव होता है और तब उस घावमेंसे डोरीकी तरहका कीड़ा धीरे-धीरे निकलने लगता है जो प्रायः गजों लंबा होता है। इस रोगसे कभी-कभी पैर आदि बे-काम होजाते हैं। यह कीड़ा सफेदरंगका होता है।—[धीरे-धीरे इसे निकालते जायँ तो कुछ दिनोंमें यह डोरीसरीखी नस निकल जाती है—(वै०)। यदि यह काट दिया गया या टूटगया तो इस घावमें बड़ी जलन होती है और यह कीड़ा फिर दूसरी जगहसे निकलता है। वैद्यकमें इसे 'स्नायुज' कहते हैं। इसकी क्रिया विसर्प रोगकी सी है। मालवा और राजपूतानामें यह रोग बहुत सुना

जाता है। प० प० प्र० स्वामी लिखते हैं कि यह रोग मुख, पेट और जिह्वामें भी देखा गया है। मराठीमें इसको 'नारू' कहते हैं। ऐलोपैथी (Alopathy) में इसकी चिकित्सा नहीं है। महाराष्ट्रमें इसकी अनेक औषधियाँ हैं पर एकही दवासे सबका काम नहीं होता। अतः इनमें भी कफ, वात, पित्त दोषज भेद होने चाहिए।

नोट—१ दूसरेको सुखी देख जो जलते हैं उनका हृदय सदा दग्ध रहता है, वे दिनोंदिन भीतरही भीतर घुलते जाते हैं, शरीर सूखता जाता है। (ऐसे मनुष्यको समझना चाहिए कि बड़े दुःखमें फँस गया, क्योंकि यह तो संसार है, किसीको सुख किसीको दुःख बनाही रहता है, इसलिये ऐसा कोई समयही नहीं हो सकता जब कि उसे जलन न रहे। इस जलनसे उसके सद्गुणोंकी दिन-रात हानि होनी आरम्भ होजाती है और अन्तमें सभी सद्गुणोंसे रहित हो जानेपर उसका घोर पतन होजाता है। वि० त्रि०)। यही हाल क्षयी-रोगका है। अतः इसको क्षयी कहा। 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी'—३६ (३) देखिए। (क्षयी छः प्रकारकी होती है। शत्रु भी छः ही माने गए हैं। इसलिये क्षयीका छः प्रकार होना युक्तियुक्त है। (वि० त्रि०)। कुष्ठ दो प्रकारका प्रसिद्ध है—श्वेत और गलित, अथवा साध्य और असाध्य, या महाकुष्ठ और क्षुद्र। अतः दुष्टता और मनकी कुटिलता दो को कुष्ठ कहा। (प्र० सं०)। मनका दोषयुक्त होकर सरलताका त्याग करना अर्थात् मनमें दूसरी बात और वाणी तथा कर्मसे दूसरी बात प्रकाशित करना कुटिलता है। कुटिलका दुर्नाम हो जाता है, कोई उसके साथ व्यवहार नहीं चाहता, उसका पतन बड़े दुःख और दुर्नामके साथ होता है। (वि० त्रि०)।

वै०—(फूटकर बहनेवाला) महाकुष्ठ मानसका (वचनकर्मसे सबकी बुराई करना रूपी) दुष्टता रोग है और तुच्छ कुष्ठ मानसका कुटिलता रोग है जिसमें मनुष्य मूँदी ढकी बुराई करते हैं, प्रत्यक्षमें नहीं करते। इसका भी कुसंगही कारण है पर यह स्वभाव पूर्वज है, इससे विशेष असाध्य है।

वि० त्रि०—अहंकारसे बड़ा दुःख होता है। उसका रूप बेढंगा होजाता है। उसकी शकल देखनेसे लोगोंको चिढ़ होती है। रोग बढ़ जानेसे प्रत्येक व्यवहारमें उसे बड़े-बड़े कष्ट होते हैं। विशेष शब्दार्थमें देखिए।

वि० टी०—अहंकारके मारे लोग फूले-फूले फिरते हैं। इसी प्रकार कछुई रोगके कारण पेटमें कछुई की नाईं कड़ा पदार्थ बनजानेसे पेट फूला और कड़ा रहता है और मनुष्य दुर्बल तथा अशक्त होजाता है।

वै०—अहंकारको डमरुवा कहा क्योंकि इसमें मानापमानादि पीड़ा लिए हुए धन-विद्यादि कुपथ्य पाकर अहंकाररूप मेद बढ़ता है जिससे अहंममकार पेट सूजता जाता और ज्ञान-विचारादिका नाश होता है और अज्ञान-दुर्बलता बढ़ती है। 'दंभ कपट मद मान' नहरुवा हैं। ये लाभ मान्यता इत्यादिसे उत्पन्न होते हैं। मान सूजन, मद फुंसी, दंभ फूटना, कपट नसका निकलना है। कपटका खुलना नसका टूटना है।

वि० त्रि०—'दंभ कपट···' इति। ढकोसला, छल, गर्मी, ऐंठ ये सब परस्पर सम्बद्ध होकर एक सूत्रमें परिणत हो जाते हैं। रोगीकी प्रगतिसे इनका प्रकाश हो जाता है। ये बढ़तेही जाते हैं, बड़े यत्नसे इनकी रक्षा करनी पड़ती है, यदि भंग हुआ तो बड़ा भारी दुःख होता है। नहरूआमें भी घावमेंसे अनेक कीट एकत्रित होकर सूत्राकारमें बाहर निकलते और बढ़ते जाते हैं, बड़े यत्नसे उस सूत्रकी रक्षा की जाती है, इत्यादि। अतः दंभादिको नहरुआ कहा।

प० प० प्र०—दम्भ त्रिदोषजन्य नहरुआ है; क्योंकि मानकी इच्छासे कपटके आधारपर मदसंयुक्त ही दम्भ किया जाता है जहाँ मानकी इच्छा न हो और न कपट है वहाँ दंभ न मिलेगा। मद वातज नहरुआ और कपट कफज नहरुआ है। मान पित्तज नहरुआ है। अपमान होनेसे क्रोधरूपी पित्त बढ़ता है। महाराष्ट्रमें नारू रोगको सभी जानते हैं। जैसे नहरुआ रोग बहुत काल तक शरीरमें गुप्त रहता है, वैसेही दम्भादि गुप्त रहते हैं, पर एक दिन जब वह 'ताँत' के समान बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है तब रोगीको जो पीड़ा होती है, वह वही जानता है। वैसेही दंभके भी 'उघरहिं अंत न होइ निबाहू।

तृष्ना उदर-बृद्धि अति भारी। त्रिबिध ईषना तरुन तिजारी ॥ ३६ ॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—उदरवृद्धि=जलंधर। वात इसका मूल है। मन्दाग्निमें कुपथ्य करनेसे उत्पन्न होता है। वात बढ़नेसे वातोदर, जल बढ़नेसे जलोदर और कफ बढ़नेसे कफोदर इत्यादि आठ भेद हैं। विना पीड़ा पेट बढ़ जाता है, देह इतनी दुर्बल हो जाती है कि उठनेकी शक्ति वा गति नहीं रह जाती। (वै०)। तृष्णा=विषय-प्राप्तिकी प्यास। ईषना (एषणा)=अभिलाषा—विशेष 'सुत वित लोक ईषना तीनी। ७१। ६।' में देखिये।

अर्थ—तृष्णा अत्यन्त भारी जलंधर (जलोदर) रोग है। सुत, वित्त और नारि ये तीनों प्रकारकी इच्छाएँ प्रबल तिजारी हैं। ३६। मत्सर और अविवेक दो प्रकारके ज्वर हैं। ये कुत्सित रोग तो अगणित हैं, इन्हें कहाँ तक कहूँ ? (अर्थात् समझनेके लिये इतना बहुत है। दिग्दर्शनके लिये कुछ रोगोंका परिचय दे दिया; अब बस करता हूँ। इस वचनसे मानस रोगोंको असंख्य जनाया)। ३७।

नोट—१ 'तृष्णा उदरवृद्धि...' इति। (क) तृष्णासे पेट कभी नहीं भरता, पेट भर जाय, संतोष हो जाय तो तृष्णा ही कहाँ ? यह तो दिनों-दिन ही नहीं किन्तु क्षणक्षण अधिकाधिक होती जाती है, मृत-शय्यापर भी पड़े हुए कम नहीं होती, कभी भी पूरी नहीं होती। वस्तु मिलनेकी चाह बढ़ती ही जाती है † अतः 'अति भारी' कहा—विशेष 'तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा। ७०। ८।' देखिए। इसी प्रकार जिसे उदर रोग हुआ उसका उदर दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है, अति वृद्धि होने पर वह मर ही जाता है। (ख) 'त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी' इति। तीसरे दिन आनेवाले ज्वरको तिजरा वा तिजारी कहते हैं। ज्वरसे उठे हुए, कृश वा मिथ्याहार विहार करनेवाले मनुष्यका रहा-सहा शेष दोष जब वायु द्वारा वृद्धिको प्राप्त होकर आमाशय, हृदय, कंठ, सिर और संधि इन पाँच कफ-स्थानोंका आश्रय लेता है तब उससे अँतरा, तिजरा और चौथिया विषम ज्वर उत्पन्न हो जाते हैं। तरुण=जवान, नया। जो ज्वर अपने प्रारंभसे सात दिनका हो जाता है उसे तरुण ज्वर कहते हैं। 'सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी। ७१। ६।' में पूर्व कहा है कि एषणा सबकी मतिको मलिन कर देता है, अतः जिस तिजारीसे वह मलिनता उत्पन्न हो जाय वही यहाँ 'तरुण तिजारी' होगी। एषणा तीन प्रकारका है अतः उसे तिजारी कहा।

बैजनाथजी लिखते हैं कि स्त्री-पुत्र धन आदिकी नित्य नई चाह होनेसे उसको तरुण तिजारी कहा क्योंकि यह भी नित्य नवीन ही रहती है। तीसरे दिन नवीन होकर आती है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'शुरू-शुरूमें जब तिजारी आती है तो बड़े वेगसे बड़ा जाड़ा देकर आती है, पीछे उसका वेग क्रमशः कम होने लगता है। इस लिये तरुण तिजारी कहा। तिजारी जल्दी छूटती नहीं, एक दिन अन्तर देकर आती है। इसके तीन भेद शास्त्रकारोंने माने हैं। इसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें एषणा बड़े वेगसे आती है और बड़ी जड़ता उत्पन्न करती है। इसका छूटना महा कठिन है। बीच-बीचमें शान्त भी हो जाती है, पर फिर आ जाती है।

वै०—'जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका'। द्वन्द्वज्वर। इसका मूल अजीर्ण है। अजीर्णपर भोजन करनेसे वात-पित्त कोप करते हैं जिससे ज्वर उपजता है। मानसमें मत्सर (परायी भलाई न देख सकना) और अविवेक द्वन्द्व ज्वर हैं। ['कुरोग' अर्थात् असाध्य, 'एहि कुरोग कर औषध नाहीं', 'ए असाध्य बहु रोग।' जिसकी दवा न हो सके]

नोट—२ दो प्रकारके ज्वर कौन हैं, इसमें मतभेद है। कोई माहेश्वर और वैष्णव ज्वर कहते हैं।

† 'त्वामुदर साधुमन्ये शाकैरपि यदसिलब्धिपरितोषम्। हत हृदय ह्यधिकाधिकवाञ्छाशतदुर्भरं न पुनः पुनः॥ १॥' 'इच्छति शती सहस्रं ससहस्रः कोटिमीहते कर्तुम्। कोटियुतोऽपि नृपत्वं नृपोऽपिवत चक्रवर्तित्वम्। चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरोऽपि सुरराज्यमीहते कर्तुम्। सुरराजोऽप्यूर्ध्वगतिं तथापि न निवर्तते तृष्णा'॥

ये ज्वर वाणासुर-संग्रामके समय शिवजी और कृष्णजीने उत्पन्न किए थे। माहेश्वर ज्वरके आठ भेद हैं—वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, सन्निपात और आगन्तुज। वैष्णवज्वरके पाँच भेद हैं—सतत, संतत, अन्येद्यु, तृतीयक और चतुर्थक। इन्हें विषम ज्वर कहते हैं। वैष्णव ज्वर माहेश्वर ज्वरसे बली है। यह धातुगत होता है। दूसरी कथा यह है कि दक्षयज्ञ विध्वंसके लिए शिवजीने माहेश्वर ज्वर उत्पन्न किया था। (ख) कोई विपर्यय और आगन्तुक ज्वरसे यहाँ तात्पर्य मानते हैं क्योंकि विषम ज्वर ऊपर तिजारीमें आ गया है, और (ग) कोई (करु०, पां०, आदि) इससे द्वन्द्वज्वरका अर्थ करते हैं क्योंकि 'युग' का अर्थ है दो। वात, पित्त और कफ इनमेंसे दो दोके मेलसे जो ज्वर उत्पन्न हों वे 'युगबिधि' वा द्वन्द्वज्वर हुए जैसे कि वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज। जो एक ही विकारसे उत्पन्न हों अर्थात् वातज, पित्तज और कफज, उनकी पृथग्ज्वर संज्ञा है—'ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्व संघातागन्तुजः स्मृतः' (सुश्रुत)। अर्थात् ज्वर आठ प्रकारका है, पृथक्, द्वन्द्व, संघात और आगन्तुज। अतः जुग बिधिसे 'पृथग्' और 'द्वन्द्व' दो प्रकारके ज्वरोंकोभी ले सकते हैं। तीसरा वह है जिसमें वात-पित्त-कफ तीनोंका मेल हो जाता है जिसे ऊपर कह चुके हैं—'प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजै संन्यपात दुखदाई'। तथा, (घ)—कोई दाहज्वर और कम्पज्वर अर्थ करते हैं।

रा० प्र०—कार कहते हैं कि रौद्र और वैष्णव ज्वर आँतों तकमें जाड़ा उत्पन्न कर देते हैं। पंजाबीजी 'जुग बिधि' से शीतज्वर और उष्णज्वरका अर्थ करते हैं।

रा० शं०—मत्सर विषम ज्वर है और अविवेक शीतज्वर। शीतज्वर अन्तका ज्वर है, मरण के समय होता है। अविवेकभी आत्माको नष्ट करनेवाला है।

वि० त्रि०—'जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका' इति। जिस भाँति स्थूल शरीरमें ज्वर और विषम ज्वर होता है। उसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें अविवेक और मात्सर्य है। जैसे ज्वर 'देहेन्द्रियमनस्तापी सर्व-रोगाग्रजो बली' है, वैसे ही अविवेकसे भी देहेन्द्रिय-मनको ताप पहुँचता है। पर, मत्सर स्वभावगत होकर संतत ताप पहुँचाया करता है, इससे इसकी उपमा विषमज्वरसे दी गई। इसी भाँति यदि विचार किया जाय तो सम्पूर्ण भेदोपभेद, अवान्तर भेदोंके साथ जिस भाँति शारीरिक ज्वरका विस्तार वैद्यकशास्त्रमें है वैसे ही विस्तारके साथ मानसिक ज्वरोंके भेद कहे जा सकते।

दोहा—एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि* बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुं सो किमि लहइ समाधि ॥१२१(क)
नेम धर्म आचार तप ज्ञान जज्ञ जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह † नहिं रोग जाहिं हरिजान ॥१२१(ख)

अर्थ—एक ही रोगके वश होकर मनुष्य मर जाता है और ये तो असाध्य बहुतसे रोग हैं जो निरन्तर जीवको पीड़ित करते रहते हैं तब वह भला कैसे समाधिको प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् मानस-रोगोंके कारण मन एकाग्र होकर प्रभुमें नहीं लग सकता और समाधिदशा न प्राप्त होनेसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता। हे श्रीगरुड़जी ! फिर नियम, धर्म, सदाचारके अनुकूल बर्ताव, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप और दान इत्यादि करोड़ों औषधियाँ भी (इनके लिए कही गई) हैं पर रोग नहीं जाते। १२१।

नोट—'एक ब्याधिबस...असाधि०' इति। (क) रोग तीन प्रकारके माने गए हैं—सुख-साध्य, कष्ट-साध्य और असाध्य। इनमेंसे असाध्य वे हैं जिनमें वैद्य जवाब दे देते हैं, वे कभी अच्छे नहीं होते,

* असाध्य—(का०) † कोटिक नहीं—(का०)।

शरीरके साथ ही जाते हैं। (प्र० सं०)। मनुष्य तभीतक जीता है जब तक व्याधिके वशमें नहीं आ गया। इसलिये सुसाध्य व्याधिको भी छोटी न माननेके लिये आदेश है। यथा 'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि। ३। २१।' इसी भाँति एक भी मानस व्याधि उपेक्षणीय नहीं है। एक मानसिक रोग भी प्रमादके लिये यथेष्ट है, क्योंकि सच्ची मृत्यु तो प्रमाद ही है। (ख) यहाँ तक मोह, काम, क्रोध, लोभ, नाना दुर्गम विषय मनोरथ, ममता, ईर्ष्या, हर्षविषाद, परसुख देखकर जलन, दुष्टता और मनकी कुटिलता, अहंकार, दंभ कपट पाखंड, तृष्णा, त्रिविध ऐषणा, मत्सर, अविवेक ये कुरोग गिनाए। इन सबको असाध्य बताया। (ग) 'ए असाधि बहु व्याधि' कहकर जनाया कि शारीरिक तो एक दो ही रोग मनुष्यको हो सकते हैं पर ये मानस-रोग तो सबके सब प्रत्येक मनुष्यके हैं। जो उपक्रममें कहा कि 'जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोग। १२१। २८।' वही यहाँ उपसंहारमें कहते हैं। (घ) 'पीडहिं संतत'—रोग असाध्य हैं, अतः वे सदा बने रहते हैं कभी भी जीव निरुज नहीं हो सकता, इसीसे कभी भी रोगजनित पीड़ा दूर नहीं होती, निरन्तर इनसे पीड़ित ही रहता है। (ङ) 'किमि लहइ समाधि' अर्थात् ईश्वर-स्मरण-सुख कैसे प्राप्त हो सके। (पां०)। समाधि अष्टांगयोगकी अन्तिम अवस्था है। उसके लिये मन थिर होना चाहिये पर मन रोगी है अतः वह अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। [करु०—यहाँ समाधिसे स्वस्वरूप-परस्वरूप समाधि जानो।] समाधि—४२ (८) देखिए। असाध्यरोगोंकीभी तो दवा होती है, वे दवा क्यों नहीं करते उसपर कहते हैं कि दवायें हैं, लोग करते भी हैं, पर रोग जाते नहीं।

वि. त्रि.—(क) 'नेम धर्म...' इति। ये सब मानसिक रोगोंके औषध हैं। शौचसे स्वांगजुगुप्सा और दूसरोंसे असंसर्ग, सन्तोषसे अनुत्तम सुखलाभ, तपसे अशुद्धिका क्षय, स्वाध्यायसे इष्टदेवका दर्शन, ईश्वर-प्रेमसे समाधिकी सिद्धि, धर्मसे अभ्युदय निःश्रेयस, आचारसे अन्तःकरणकी शुद्धि ज्ञानसे मोक्ष, यज्ञसे स्वर्ग, जपसे सिद्धि और दानसे दुर्गतिका नाश होता है। (ख) 'भेषज पुनि कोटिन्ह'—अर्थात् इतने ही औषध नहीं हैं किन्तु सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, तंत्र, दर्शन सब इन्हीं औषधोंसे भरे पड़े हैं। दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सबका ध्येय है। (ग) 'हरिजान'—भाव कि आप साक्षात् हरिके यान हैं, आपको स्वयं यह रोग हो गया तब औरोंकी गणना ही क्या है? (घ) 'नहिं रोग जाहिं'—अर्थात् निर्मूल नहीं होते, दब जाते हैं, फिर उभड़ आते हैं। अतः वे औषध अकिंचित्कर हैं।

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥ १ ॥
मानस-रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए ॥ २ ॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन-परितापी ॥ ३ ॥

अर्थ—(जैसा ऊपर कह आए) इस प्रकार संसारके समस्त प्राणी रोगी हैं। शोक-हर्ष, भय-प्रीति (आदि द्वन्द्वोंके वश) वियोगी (दुःखी) हो रहे हैं*। १। मैंने कुछ थोड़ेसे मानसरोग वर्णन किए हैं। ये रोग हैं तो सबको ही पर बिरले ही मनुष्य इनको लखं पाये एवं पाते हैं। २। प्राणियोंको विशेष ताप देनेवाले ये पापी जान लेनेसे कुछ कम हो जाते हैं पर नाशको नहीं प्राप्त होते। ३।

नोट—१ (क) सुनहु तात अब मानसरोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा। १२१। २८।' उपक्रम है और 'मानस रोग कछुक मैं गाये। हहिं सबके। १२२। २।' उपसंहार है। इसके बीचमें 'कहँ लगि

* 'सोक हरष भय प्रीति बियोगी' के अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकारसे किये गए हैं—१ वीर—शोक हर्ष भय और प्रीतिके अधीन वियोगी होकर जीव रोगी हैं। २—वि० टी०—इतनेपर भी उन्हें कभी-कभी सुख, कभी दुःख, कभी भय, कभी प्रेम और कभी वियोग हो जाते हैं। ३ रा० प्र०—शोक हर्ष भय और प्रीति इन द्वन्द्वोंके वश लोक परलोक तन स्वरूपसे वियोगी हैं। ४—करु०—वियोगी अर्थात् रोगमें लीन हो रहे हैं इसीसे दुखी हो रहे हैं।

कहउँ कुरोग अनेका' तक १८ चरणोंमें रोगोंके नाम दिये गए। (ख) 'सकल जीव' का भाव कि मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि सभी जीव। भेद इतना ही है कि मनुष्य-शरीर तो इन रोगोंकी चिकित्साके लिये मिला है, पर अन्य जीव रोगकी चिकित्साका यत्न भी नहीं कर सकते। (ग) 'हर्ष सोक...'—भाव कि इस दुर्दशामें भी एकरसता नहीं, कभी हर्षसे उछल पड़ता है, कभी शोकागारमें डूब जाता है, कभी भयभीत हो उठता है, कभी प्रेममें आ जाता है और कभी वियोगमें हाय-हाय करता है। यथा 'दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई। सुनहु नाथ मनु जरत त्रिबिध ज्वर करत फिरत बौराई। कबहूँ जोगरत भोगनिरत सठ हठ बियोग बस होई। कबहुँ मोह बस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई। कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी। कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत कबहुँ धरमरत ज्ञानी॥ कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै। संसृति सन्यपात दारुन दुख बिनु हरिकृपा न नासै॥ संजम जपतप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई। तुलसिदास भवरोग रामपदप्रेमहीन नहिं जाई। वि० ८१।' (वि० त्रि०)। (ग) 'कछुक' क्योंकि ये अगणित हैं—'ए असाध्य बहु ब्याधि', इनका वर्णन नहीं हो सकता,—'कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका। १२१। ३७।' (घ) 'गाए'—भाव कि वर्णन यद्यपि थोड़ेमें ही किया है पर विस्तारके साथ किया है। ☞ संक्षेपमें विस्तारसे वर्णन करनेकी विद्या शायद गोस्वामीजीको ही आती थी। बहुत बड़े-बड़े विषयोंको इन्होंने रूपकमें ऐसा बाँध दिया है कि विस्तृत वर्णनके साथ वे उन्हीं रूपकोंमें बँधे पड़े हैं। जितना ही उपमा-उपमेयके गुण, क्रिया, स्वभाव और सम्बन्धका विचार करते जाइए उतना ही उस विषयका विस्तार होता चला जाता है। (वि० त्रि०)।

वै०—इस प्रकार सुर-नर-नागादि सभी जीव जगमें रोगी हैं। रोगमें स्वाद हेतु कुपथ्य करते हैं। यहाँ लाभ कुपथ्य है, हर्ष उसका स्वाद है। रोगमें शूल होता है; यहाँ हानि होनेसे जो शोक होता है वही पीड़ा है, देहव्यवहारमें प्रीति होना रोगका बढ़ना है। प्यारेका वियोग तापादि हैं।

करु०—'कछु छीजहिं' क्योंकि जानने पर कुछ औषधि करेगा।

पं०—नाश नहीं होते, जैसे वृक्ष काटें तो उसका मूल बना रहता है, जल मिलनेसे बढ़ आता है। ☞ 'हहिं सबके', 'लखि बिरलेन्ह पाये' और 'रामकृपा नासहिं सब रोगा' के भाव विनय १४७ वें पदसे खूब स्पष्ट हो जाते हैं—

'कृपासिंधु ताते रहौं निसिदिन मन मारे। महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारे॥
मिले रहैं मार्‌यो चहैं कामादि सँघाती। मो बिनु रहैं न मेरिये जारैं छल छाती॥
बसत हिये हित जानि मैं सब कै रुचि पाली। कियो कथिक को दंड हौं जड़ कर्म कुचाली॥
देखी सुनी न आजुलौं अपनायत ऐसी। करहिं सबै सिर मेरेई फिरि परै अनैसी॥
बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं। असमंजस मों मगन हौं लीजै गहि बाँहीं॥
बारक बलि अवलोकिये कौतुक जन जी को। अनायास मिटि जायगो संकट तुलसी को॥'

इसमें न लख सकने तथा जान लेने पर भी उनके न नाश होनेके कारण भी दे दिए हैं।

'लोभ मोह मद काम कोह रिपु फिरत रैनि दिन घेरे।
तिन्हहिं मिले मन भयउ कुपथरत फिरै तिहारेहि फेरे॥ वि० १८७।'

मानस रोगमें ही यह विशेषता है कि रोगीको पता भी नहीं चलता कि मैं रोगी हूँ, रोगसे ही दुखी हो रहा हूँ, वह दुःखके कारणको बाहर खोजता है।

वि० त्रि०—'जाने ते कछु छीजहिं...' इति। (क) भाव कि ये मित्ररूपमें आकर सद्गुणोंका अपहरण करते हैं, लोग इन्हें शत्रु रूपसे नहीं जानते, इसीसे इन्हें चोर भी कहा है; यथा 'मत्सर मान मोह मद चोरा'। इनके स्वरूपकी पहिचान हो जानेपर चोरी कम हो जाती है। जब मनुष्य जान लेता है कि काम-क्रोधादि व्याधि हैं, तब काम-क्रोधादिके बलात् आ जानेपर भी उनपर अहितकर भावना होनेसे उनका वेग

क्षीण हो जाता है, वे 'तनु अवस्था' को प्राप्त होते हैं। (ख) 'पापी'—जिनकी हिंसापर प्रीति है और जो जन परितापी हैं वे 'पापी' हैं। यथा 'हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहिं कवन मिति।' काम-क्रोधादिकी हिंसापर अत्यन्त प्रीति है। ये सबको पीड़ित किया करते हैं, न चाहनेपर भी जबरदस्ती पाप कराही देते हैं। (ग) 'नास न पावहिं'—भाव यह कि अस्मिता (अभिमान), राग (काम), द्वेष (क्रोध) और अभिनिवेशकी चार अवस्थाएँ होती हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। जब चेत में ये शक्तिमात्रसे रहते हैं अर्थात् बीज भावसे अवस्थान करते हैं तब प्रसुप्त कहलाते हैं, यथा 'मनहु बीररस सोवत जागा'। प्रतिपक्ष-भावनाके मारे हुए तनु अवस्थाको प्राप्त होते हैं, यथा—'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।' गायब हो-होकर फिर-फिर प्रकट होनेको विच्छिन्न अवस्था कहते हैं; यथा 'राम बचनु सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लषन बहुरि मुसुकाने।' विषयमें लब्धवृत्तिकको उदार कहते हैं, यथा 'परम क्रोध मीजहिं सब हाथा।'—नेम धर्म आचार और तपसे ये विच्छिन्न हो जाते हैं, पहचाने जानेसे तनु, योगावस्थामें प्रसुप्त हो जाते हैं, पर प्रक्षीण नहीं होते। यह पाँचवीं अवस्था है। जब बीज जल जाय और विषय-बारि पानेपर भी अंकुरित न हो, तब उनको प्रक्षीण कहते हैं।

बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥ ४॥
रामकृपा नासहिं सब रोगा। जौं इहि भाँति बनै संजोगा॥ ५॥

अर्थ—विषयरूपी कुपथ्य पाकर मुनियोंके हृदयोंमेंभी अंकुरित हो आते हैं, तब बेचारे मनुष्य क्या हैं? (भाव कि ये भी उसीमें आगए)। *। ४। श्रीरामकृपासे यदि इस प्रकारका संयोग बन जाय (जैसा आगे कहते हैं) तो सब रोग नाश हो जाते हैं। ५।

रा० शं० १—प्रथम कहा 'नास न पावहिं' अब उसका कारण बताते हैं कि रोगकी दवा है, पथ्य (परहेज) बने तो रोग जाय और यदि कुपथ्य किया जाय तो रोग कैसे जाय? २—विषयको कुपथ्य कहा क्योंकि जैसे रोगीका जी कुपथ्यकी ओर बहुत दौड़ता है इसी तरह मानस रोगीका मन 'बिषय भोगपर प्रीति सदाई' किए रहता है। इसीसे रोग नहीं जाते।

रा० प्र०—संयम न होनेसे रोग फिर जम आता है जैसे पाहरू देख चोर छिपे रहते हैं और असावधान गाफिल पा फिर निकलकर अपना उद्यम करते हैं।

नोट—'मुनिहु हृदय'। मुनिभी नर ही हैं, पर ये अहर्निश औषधि ही करते रहते हैं, इनसे बढ़कर कोई उपाय करनेवाला नहीं है; अतः इनको कहा कि जब इनके हृदयमें ये रोग इतनेपर भी अंकुरित हो आते हैं तब विषयरत इतर जन किस गिनतीमें हैं। (करु०)। 'मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ'—आ० ३८ देखो। पुनः भाव कि मुनि ज्ञाननिधान हैं। उनके ज्ञानाग्निसे क्लेश दग्धबीजसे होगये हैं। उनका हृदय विषय रससे रूखा होनेके कारण-ऊसर-सा है, यथा 'ब्रह्मचरज ब्रतरत मतिधीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा। १। १२६।'

२—'अंकुरे' का भाव कि हृदयमें थे तो पूर्वहीसे पर हृदय थलमें दम नियम मनन निदिध्यासनादि सूखी मट्टीमें दबे थे, विषय कुपथ्य जल पाकर अंकुरित हो आए। जैसे देवर्षि नारदमें ही देख लीजिए। यथा 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी।' 'का नर बापुरे' अर्थात् वे तो रोगी बने बनायेही हैं।

३—'नासहिं' निश्चयवाचक वर्तमान क्रिया देकर तब 'जौं एहि भाँति बनै संजोगा' कहनेका भाव कि रामकृपासे अवश्य सब रोग नष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं। वह रामकृपा कैसे जानी जाय सो दूसरे चरणमें कहते हैं कि यदि आगे जो कहनेको हैं वह संयोग बन जाय तो रामकृपा समझना चाहिए। बिना

* काव्यार्थापत्ति अलंकार है।

उनकी कृपाके यह संयोग न लगेगा। यह अपने अधीन नहीं है। यथा 'तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै। वि० १०२।' 'इहि भाँति' जैसा कि आगे कहते हैं कि 'सद्गुर०'। ४—'रामकृपा नासहिं', यथा—'जब कब रामकृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई।' इति विनये। भाव कि यह केवल कृपासाध्य है। शरणागत होकर कृपाका भरोसा रक्खे, अपनी करनीसे बिगाड़ न दे। श्रीचरणदासजीका पद भी देखिए।—'अब तुम करो सहाय हमारी। मनके रोग ह्वै गये दीरघ तनके बड़े बिकारी॥ १॥ तुम सों बैद और को दूसर जाहि दिखाऊँ नारी। सँजीवन मूल अमरमूल हौ जासे सोहै दया तुम्हारी॥ २॥ क्रिया कर्म की औषधि जेती रोग बढ़ावन हारी। दीजै चूरन ज्ञानभक्तिको मेटौ सकल व्यथा री॥ ३॥' इत्यादि।

वि० त्रि०—'रामकृपा...जौं...' इति। (क) भाव कि रामकृपा होनेपर तीन कृपाओंकी और आवश्यकता है—(१) गुरु कृपा, सो यहाँ सद्वैद्य सद्गुरु हैं। (२) शास्त्रकृपा। वेद-पुराण पावन पर्वत हैं, इन्हींमें संजीवनमूरि मिलती है, वही यहाँ औषध है। (३) आत्मकृपा—वैद्यके वचनपर विश्वास, संयम और अनुपान, ये आत्मकृपापर ही निर्भर हैं। यह सब होनेपर रामकृपाकी पात्रता आती है, नहीं तो रामकृपामें तो घाटा नहीं है, रामकृपासे ही नरदेह मिली और रामकृपाकी अनुकूल वायु बराबर चल रही है, आत्मकृपा बिना उससे कोई लाभ उठानेवाला नहीं है। देखिए, सूर्यनारायणकी कृपा बराबर होती चली जाती है पर रूईका गट्ठा न जला। सूर्यकांतमणि और जलानेवाला दोनों एकट्ठे हों तो गट्ठा जला जलायाही है। इसी भाँति रामकृपा बराबर होती चली जाती है, कोई आत्मकृपावाला सूर्यकांतमणि लेकर अक्स डालकर जलाने आवे तो ये क्लेश जले जलाये हैं। (ख) ज्ञानमार्गमें संयोग बननेपर भी सिद्धि अनिश्चित है; यथा 'अस संजोग ईस जौं करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई।' पर यहाँ सिद्धि अनिश्चित नहीं है, यह 'रामकृपा नासहिं' से जनादिया।

सदगुर बैद * बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥ ६॥
रघुपति-भगति सजीवन-मूरी। अनूपान श्रद्धा मति † पूरी॥ ७॥

अर्थ—सद्गुरुरूपी वैद्यके वचनमें विश्वास हो। विषयोंकी आशा न करे यह संयम (परहेज, पथ्य) है। ६। श्रीरघुनाथजीकी भक्ति संजीविनीबूटी है, बुद्धि श्रद्धासे परिपूर्ण हो यही अनुपान है। ७।

खर्रा—सद्गुरु=समीचीन गुरुरूप वैद्य। ['सद्गुरु' से जनाया कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हैं, सत्य ही शिष्यके हृदयके अंधकारको हरण करनेवाले हैं, 'गुर सिष बधिर अंधकर लेषा' वाले गुरु न हों। इसी तरह पूर्व कहा है—'करनधार सदगुर दृढ़ नावा। ४४। ८।' बालकांड गुरुवन्दनाप्रकरणमें विस्तारसे 'गुरु' के सम्बन्धमें लिखा जा चुका है। ब्रह्मनिष्ठसे काम चल सकता है पर श्रोत्रिय न होनेसे वह संशयका नाश न कर सकेगा। ऐसा सद्गुरु मिलनेसे समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं। यथा 'सदगुर मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ। ४। १७।']

वै०—सद्गुरु वह है जो परिपूर्ण सत्पथगामी है, शिष्यको सन्मार्गपर आरूढ़ कर देनेवाला हो। यथा 'शान्तं दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेषवान्। शुद्धाचारः सुप्रसिद्धः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान्। आश्रमीध्याननिष्ठश्च मंत्रतंत्रविचक्षणः। विग्रहानिग्रहेसक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥'

नोट—१ (क) 'बचन बिस्वासा' इति। यह अधिकारी शिष्यका लक्षण बताया। विश्वास बिना सिद्धि नहीं होती, यथा—'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। ९०। ८।' विश्वास न हो कि इससे हमारा कल्याण होगा तो गुरु करना ही व्यर्थ है। [शिष्य गुरुवचनपर विश्वास करनेवाला भवरुजार्त्त हो। यथा 'शान्तो विनीतः शुद्धात्मा श्रद्धावान् धारणं क्षमा। समर्थश्च कुलीनश्च प्राज्ञः सच्चरितोधनी। एवमादिगुणैर्युक्तः शिष्यो भवति नान्यथा। इति रामार्चनचन्द्रिकायाम्।' (वै०)] (ख) 'संजम यह न बिषय कै आसा।'—

* वेद—(पाठान्तर)। † अति रूरी—(का०)। 'मति रूरी'—(पाठान्तर)। रूरी=सुंदर। सुंदर श्रद्धा अर्थात् शुद्ध सात्विकी श्रद्धा—(वै०)। 'वेद' पाठका अर्थ है आयुर्वेद—(रा० प्र०)।

गुरुके वचनपर विश्वास हो यह कहकर दूसरे चरणमें उनके वचन बताते हैं कि संयम करो। वैद्य खटाई मिर्चा आदिसे परहेज बताता है, गुरु विषयोंसे परहेज बताते हैं। विषय खटाई इत्यादि कुपथ्य है, यथा—'जो मन लागै रामचरन अस। देहगेह सुत वित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस॥ द्वंद्वरहित गतमान ज्ञानरत बिषय बिरत खटाई नाना कस। वि० २०४।' 'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे।'—संयम बन जानेसे, विषयविरत हो जानेसे काम बन जाता है। यथा 'सुखनिधान सुजान कोसल पति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस। वि० २०४।', नहीं तो साधन व्यर्थ हो जाता है। यथा—'दसहि दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि। साधन बृथा होइँ सब मिलहिं न सारँगपानि। वि० २०३।' (ग) 'रघुपति भगति...' इति। वैद्य संजीविनी देते और उसका अनुपान बताते हैं; यहाँ गुरु श्रीरामभक्ति ओषधि देते हैं और श्रद्धारूपी अनुपानके साथ उसका सेवन बताते हैं। अर्थात् श्रद्धापूर्वक भक्ति करे। (प्र० सं०)। सज्जीवनमूरि पावन पर्वतोंपर मिलती है, सद्वैद्य ही जानते हैं वैसेही सगुण ब्रह्म श्रीरामजीकी भक्ति वेद-पुराण-रूपी पावन पर्वतोंपर मिलती है। सद्गुरु ही जानते हैं। रामरहस्योपनिषदमें विस्तारके साथ वर्णन है। जैसे सज्जीवनमूरिके सजातीय और स्वगत भेद हैं, किस रोगीपर किसका प्रयोग किया जायगा इसका निर्णय सद्वैद्य ही करता है; वैसे ही रहस्य आदि उपनिषदोंमें अनेक प्रकारके मंत्र हैं और प्रत्येक मंत्रके ध्यान पृथक्-पृथक् कथित हैं, अनुष्ठानविधि भी दी हुई है। सद्गुरु ही जानते हैं कि कौनसा मंत्र किस प्रकृतिके पुरुषके लिये अनुकूल होगा। (वि० त्रि०)। संजीविनीके सेवनसे मरे हुए भी जी उठते हैं, रोगका दूर करना कौन बड़ी बात है। इसी तरह रघुपतिभक्ति भक्तके भवरोगको हरण-कर उसको नाशरहित कर देती है,—'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। गीता ९। ३१।' (वै०)। यहाँ पहले संयम कहा तब ओषध क्योंकि दवा लगनेके लिये संयम बहुत जरूरी है। (रा० शं०)।

करु०—वेदवाक्य, गुरुवाक्य और निजानुभव इन तीनोंमें विशेष प्रतीति 'श्रद्धा' है।

वि० त्रि०—काम क्रोधादि रोगोंसे ग्रस्त मनुष्यको मन्दाग्नि होती है। उसे नवधा भक्तिकी ओर रुचि ही नहीं होती, भक्ति चिन्तामणिकी ओर वह कब जाने लगा? अतः पहले उसे नीरोग करके उसकी अग्नि बढ़ानी चाहिए, जिसमें भोजनरूपी नवधा भक्तिका सेवन करने लगे, तब कुछ दिनोंमें संतसंगसे रामकथा श्रवण करते करते उसे भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्ति भी हो जायगी। इस समय उसे संजीवनी भक्ति राममन्त्र दीक्षाकी आवश्यकता है। यथा 'राममंत्र मोहि द्विजबर दीन्हा। सुभ उपदेस बिबिध बिधि कीन्हा।', 'बेगि बिलंब न कीजिय लीजिय उपदेस। बीजमंत्र सोइ जपिये जो जपत महेस।' मंत्रदीक्षा तथा शुभ उपदेश गुरुकृपा है, उन उपदेशोंपर विश्वास करनेसे शास्त्रकृपा होती है, नीरोग होनेके लिये तन-मन-धनसे प्रयत्न करना ही आत्मकृपा है। मंत्र-जप करने तथा श्रीरामजीपर दृढ विश्वास रखनेसे रामकृपा भी हो जायगी, तब रोग नष्ट हो जायँगे।

अनुपान ही औषधके प्रभावको यथेप्सित कार्य करनेमें प्रवृत्त करता है। वैसे शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धाके साथ दीक्षाग्रहण तथा अनुष्ठान करनेसे वह भक्तिके प्रभावको यथेप्सित कार्य करनेमें प्रवृत्त करेगा।

प० प० प्र०—'रघुपति भगति सजीवन मूरी' इति। रघुपति भक्ति तो नवधा, प्रेमा, परा, आदि अनेक प्रकारकी है; इनमें यहाँ कौन सी विवक्षित है? उत्तर—प्रकरण मानस-रोग-विनाशका चल रहा है। सभी मानसरोगोंकी जड़ मोह है। 'महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला।', 'रामकथा सुंदर करतारी। संसय बिहग-उड़वनिहारी।', 'जाइहि सुनत सकल संदेहा। रामचरन होइहि अतिनेहा।', 'बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।' इन अवतरणोंसे स्पष्ट है कि यहाँ हरिकथा श्रवण-भक्ति ही विवक्षित है। प्रेम या पराका ग्रहण यहाँ अनुचित है; कारण आगे कहा है कि 'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई।' फिर 'संसृति रोग सजीवनमूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी।' यह एक प्रमाण पर्याप्त है। उपलक्षणासे श्रवणादिक आत्मनिवेदन पर्यन्त नवविधा भक्तिका क्रमशः ग्रहण हो सकता है।

एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ॥ ८ ॥
जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई ॥ ९ ॥

अर्थ—इस प्रकार भली प्रकार (वा भलेही) वे रोग नष्ट हो जाते हैं, नहीं तो करोड़ों (अन्य) उपायोंसे नहीं जाते। ८। हे गुसाईं! तब जानना चाहिए कि मन नीरोग हो गया जब हृदयमें वैराग्यरूपी बल बढ़े*। ९।

नोट—१ (क) मानसरोगके नाशका उपाय यहाँतक चार चरणोंमें कहा। 'रामकृपा नासहिं सब रोगा। जो एहि भाँति बनै संजोगा। १२२। ५।' उपक्रम है और 'एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं' उपसंहार। अर्थात् सद्गुरुवाक्यपर विश्वास करके विषयोंसे बहिर्मुख होकर श्रद्धापूर्वक श्रीरामभक्ति करे तो ही मानसरोगका नाश हो सकता है, अन्यथा नहीं। (ख) 'भले हि' देहली-दीपक न्यायसे रोगके साथ रहकर साधन सौकर्यका और 'नसाहीं' के साथ रहकर निर्मूल नाशका अर्थ देगा। अन्य साधन दुष्कर हैं और उनसे रोग निर्मूल नहीं होते। (वि० त्रि०)। (ग) 'नाहिं त जतन...' से जनाया कि सद्गुरुकी दी हुई दीक्षाका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। दीक्षा पाकर ही काशीमें मुक्ति होती है; यथा—'काशी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी।' भक्तके सामने सदा सगुण ब्रह्मकी दिव्यातिदिव्य कल्याणमयी मूर्ति रहती है, स्थूल विषय उसे नहीं जँचते। अतः विषय द्वारा काम-क्रोधका बल चला जाता है। (वि० त्रि०)

२ 'बल बिराग अधिकाई' अर्थात् स्वर्ग अपवर्ग पर्यन्त समस्त विषयोंसे प्रबल वैराग्य हो जाय—'तिन्ह तन चितइ न अनहित जानी' किंचित् भी विषयवासना न रह जाय।

वि० त्रि०—१ (क) 'गोसाईं' का भाव कि आप स्वामी हैं, आपके मनका नीरोग होना सेवकों को इष्ट है। अतः मैं मनके नीरोग होनेकी पहचान आपको बतलाये देता हूँ। इसीसे आप अनर्थसे बच सकेंगे, नहीं तो मनके रोगी होनेका पता किसीको नहीं चलता। (ख) 'जब उर बल...' इति। बलका बढ़ना ही रोग हटनेका असाधारण लक्षण है। शरीरका बल और हृदयका बल ये दो पृथक् वस्तुयें हैं। बड़े भारी बलवान्का हृदय निर्बल हो सकता है और बड़े निर्बलका हृदय सबल हो सकता है। हृदयका बल वैराग्य है। अकेले वैराग्य मोहका नाश करनेमें समर्थ है; यथा 'प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजनतनय विषय-बन-दहनमिव धूमकेतू। वि०।' 'उर अधिकाई' का भाव कि साधारण वैराग्यके विना तो दीक्षा लेनेके लिये प्रवृत्ति ही नहीं होती, सो वह प्रारंभिक वैराग्य स्वधर्माचरणसे होता है तब मनुष्यको भगवतधर्ममें अनुराग होता है तब दीक्षा प्रक्रिया चलती है। यथा—'प्रथमहिं विप्रचरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती। तेहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा।' स्वधर्माचरणके विना न ज्ञान हो सकता है न भक्ति। अतः यहाँ 'अधिकाई' का अर्थ है कि वह प्राथमिक वैराग्य जब पुष्ट हो तब समझना चाहिए कि रोग नष्ट हो रहा है। यदि दीक्षापूर्वक अनुष्ठानसे वैराग्य नहीं बढ़ा तो समझना चाहिए कि रोग बना हुआ है।

नोट—☞ मानसरोगोंके नाशमें ज्ञान भक्तिका मिलान—

ज्ञान	भक्ति
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई	१ नेम धर्म आचार तप ज्ञान जज्ञ जप दान
छूट न अधिक अधिक अरुझाई	२ भेषज पुनि कोटिक नहीं रोग जाहिं हरिजान

* वि० टी०—नीरोगके लक्षण—'समदोषः समग्निश्च समधातु मल क्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥'—(भावप्रकाश)। अर्थात् वात, पित्त और कफ ये दोष जिसके यथास्थित हों, जिसकी जठराग्नि यथोचित हो, जिसके सप्तधातु ठीक ठीक हों, पाचनशक्ति उत्तम हो और जिसकी आत्मा इंद्रियाँ तथा मन प्रसन्न हों उसीको निरोगी कहते हैं।

जीव हृदय तम मोह बिसेषी	३ एहि बिधि सकल जीव जग रोगी...
ग्रंथि छूटि किमि परै न देखी	४ हहिं सबके लषि बिरलेन्ह पाए
अस संयोग ईस जब करई	५ राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौं एहि०
तबहुँ कदाचित् सो निरुअरई	६ एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं०।
सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि०	७ अनूपान श्रद्धा मति पूरी

सुमति छुधा बाढ़ै नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई ॥ १० ॥
बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई ॥ ११ ॥

अर्थ—उत्तम बुद्धिरूपी भूख नित्य नवीन बढ़ती जाती है और विषयोंकी आशा रूपी दुर्बलता जाती रही।१०। जब वह (मानसरोग मुक्त) प्राणी निर्मल ज्ञानरूपी जलसे स्नान करेगा तब हृदयमें रामभक्ति छा रहेगी। ११।

नोट—१ रोग दूर होने पर शरीरमें बल आता है, भूख दिनोंदिन बढ़ती जाती है, शरीरकी कृशता दूर होती है, नीरोग होनेपर स्नान (गुस्ले सेहत) कराया जाता है, ये सब लक्षण इस रूपकमें क्या हैं सो बताते हैं। वैराग्य बल है, सुमति भूख है, विषयोंकी आशा शरीरकी दुर्बलता है, निर्मल विशुद्ध ज्ञान जल है, इत्यादि। भाव यह कि मानसरोगके नष्ट होने पर बुद्धि दिनोंदिन अधिक निर्मल होती जाती है, श्रीराम-भक्तिसुधासुनाजकी भूख नित्य नवीन बढ़ती है जिससे विषय-वैराग्य रूपी बल बढ़ता है, जीव सारे जगत्में ब्रह्मको देखने लगता है—यह बाहरका हाल हुआ और भीतर अन्तष्करणमें श्रीरामभक्ति नसनसमें छा रहती है। २ ☞ रघुपतिभक्तिको प्रथम संजीवनी कहा और यहाँ अब रामभक्तिका हृदयमें छा रहना कहते हैं। इससे जनाया कि रामभक्ति ही साधन है और रामभक्तिही साध्य है। पुनः जनाया कि जो संजीवनी मूरि पहले हृदयमें गई वह अब वृक्षरूप होकर अचल छा गई है और उसने आगेके लिए मानसरोगोंसे अभय कर दिया है। वैजनाथजी अर्थ करते हैं कि रामभक्तिसंजीविनीका प्रभाव छा गया।

रा० प्र०—ज्ञान-जलसे स्नान होनेपर अर्थात् ज्ञानपरिपूर्ण होनेपर भक्तिका लाभ दिखाया।

वि० त्रि०—१ 'सुमति छुधा बाढ़ै...' इति। रोगीके रोगविनिर्मुक्त होनेपर भूख बड़ी जोरसे लगती है, नित्यप्रति उसका भोजन बढ़ता चला जाता है और जबतक उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं हो जाता तबतक यही दशा रहती है। इसी भाँति संजीवनी भक्ति द्वारा मानसिक रोगोंका नाश होनेपर सुमति बढ़ती है जिससे भजनकी ओर मन दौड़ता है, विषयसे मन हटता चला जाता है, जब तक कि मन स्थिर होकर रामचरणोंमें नहीं लग जाता। 'विषय आस दुर्बलता गई'—भाव कि यद्यपि विषयकी आशा तो संयमके समयसे ही छोड़ रक्खी थी पर वह गई न थी, उसे हटानेके लिये प्रयत्न करना पड़ता था। अब वैराग्य बल बढ़नेसे वह आपसे आप चली गई।

२ 'विमल ज्ञान जल...' इति। भाव कि मानसरोगविनिर्मुक्त होनेपर वह ज्ञानोपदेशका अधिकारी होता है। गुरुजीने उसे ज्ञानोपदेश किया। ज्ञानका कथन, श्रवण, आनन्द पुलक यही नहाना है। यथा—'कहहिं सुनहिं हर्षहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं।'

प० प० प्र०—गर्मजलसे जिसमें कुछ वनस्पति आदि डालकर रोगमुक्तको स्नान कराते हैं यहाँ वह विवक्षित नहीं। यहाँ नदीके जलमें मज्जन अपेक्षित है। संशय विपर्यय, स्वतोत्थान और परतोत्थान आदि मल जिसमें नहीं हैं ऐसी जीव-ब्रह्मैक्य अपरोक्षानुभूति तथा 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' अनुभवकी परिपक्वावस्था है। 'देख ब्रह्म समान सब माहीं।'

वै०—भूख लगनेसे देह पुष्ट होती है। यहाँ सुमति क्षुधा है अर्थात् इन्द्रिय मनादिकी वृत्ति एकत्र होकर शुद्ध हो जायँ और बुद्धि राम-सनेहमें लगे यह सुमति रूपी क्षुधा नित्य-नवीन बढ़े। श्रवण-कीर्त्तनादि-

रूप भोजन करनेमें नित्य नवीन चाह बढ़ती है, स्मरणादि-भोजन करते-करते रामप्रेमरूप पुष्टता मनमें आती है। नेत्रसे रूपदर्शन करना, रसनासे रसास्वादन करना, इत्यादि इत्यादि; इन्द्रियविषयोंकी आशारूप दुर्बलता जो मनमें थी वह मिट गई। आरोग्य होनेपर स्नान होता है। यहाँ अपने रूपकी पहिचान ज्ञानविमल जल है। इसमें जब मन नहावेगा तब कुमनोरथरूपी मल छूट जायगा और श्रीरामभक्ति-संजीवनीका प्रभाव उरमें छा रहेगा। प्रेमानन्द परिपूर्ण है अतः रोग निकट नहीं आ सकता।

सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार-बिसारद॥ १२॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम-पद-पंकज नेहा॥ १३॥

अर्थ—श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी, श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक-सनंदन-सनातन-सनत्कुमार और श्रीनारद (आदि) जो मुनि ब्रह्मतत्त्वविचारमें परम चतुर हैं, उन सबोंका मत, हे पक्षिराज!, यही है कि श्रीरामपद-कमलमें प्रेम करना चाहिए। १२-१३।

नोट—१ 'सिव अज...' इति। श्रीशिवजी जगद्गुरु हैं; यथा 'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। १। १११। ५।' ब्रह्माजी सृष्टि रचयिता है जिनका लिखा देवादि भी नहीं मिटा सकते। श्रीशुकदेवजी भगवान व्यासके गर्भज्ञानी पुत्र हैं। श्रीसनकादि ब्रह्माके पुत्र आदि-ज्ञानी हैं जो सदा ब्रह्मलीन रहते हैं। ये सब जीवन्मुक्त हैं। नारदजी देवर्षि हैं और भगवान्‌के मन ही कहे जाते हैं।

२ 'सबकर मत०' अर्थात् कुछ मैं ही नहीं कहता, भगवान् शङ्कर ब्रह्मादिक तथा समस्त ब्रह्मविचार विशारद मुनियों और श्रुतिपुराणादि सब सद्ग्रन्थोंका यह मत है। ३—'रामपद पंकज'। पदपंकज कहकर निर्गुणका निषेध और सगुण स्वरूपका बोध कराया। निर्गुण निराकारमें पदकी भावना नहीं हो सकती। पुनः, 'पंकज में नेह' करना कहनेका भाव कि अपना मन मधुकर रूप करके उसमें आसक्त कर दो। यथा—'मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपतिपदकमल बसैहौं'—(वि० १०५)। ३—शिवमत, और ब्रह्माजीका मत ११५ (१-२) में देखिए। २—शुकदेवजीका मत भा० ६। ११। २१ में, सनकादिकका मत सनत्कुमार-संहितामें और नारदजीका भविष्योत्तरमें है। क्रमसे, यथा—

'यस्यामलं नृपसदस्सुयशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टं पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥''
'तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसापूरित विश्वमेकम्।
राजाधिराजं रविमण्डलस्थं विश्वेश्वरं राममहं भजामि॥''
'यत्प्रभावान्मया नित्यं परानन्दात्मकापरम्। रूपं परमयं दिव्यं दृष्टं श्रीजानकीपते॥'

मानस आदिमें भी देखिए—'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।', 'बहु रोग बियोगन्हि लोग हए। भवदंघ्रि निरादर के फल ए। भवसिंधु अगाध परे नर ते। पदपंकज प्रेम न जे करते। १४।' (शिवमत)। 'धिग जीवन देवसरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे। ६। ११०।' (ब्रह्माजी)। 'सुक सनकादि प्रहलाद नारदादि कहैं रामकी भगति बड़ी बिरत निरत। वि० २५१।' (शुकादिका मत)।

वि० त्रि०—'करिअ रामपद पंकज नेहा' इति। भाव कि राम आनन्द सिन्धु हैं, सुखकी राशि हैं। उसी आनन्द सिन्धुके बिन्दुसे शङ्कर तथा ब्रह्मदेवकी प्रभुता है। यथा 'जेहि सुख सुधासिंधु सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई। वि०।' उनके चरणकमलोंमें प्रेम करनेसे सब सुख तुरन्त सुलभ होते हैं। अतः उन्हींके चरणोंमें प्रेम करना चाहिए। यथा 'राम चरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै। संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम अछयबट भ्राजै।...बिनु बिराग जप जाग जोग ब्रत बिनु तप बिनु तनु त्यागे। सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु पद प्रयाग अनुरागे। गी० ७। १५।'

भक्तिको सुखका असाधारण कारण अन्वयमुखसे कहकर आगे उसी बातको व्यतिरेक-मुखसे कहते हैं।

सि० ति०—यहाँ पद' शब्दमें सर्वांगका भाव है क्योंकि 'पद पंकज सेवत सुद्ध हिये', 'पद-पंकज प्रेम न जे करते', आदिसे सर्वांग सेवा समझी जाती है। 'पद' का अर्थ स्वरूप, लोक और चरणका जहाँ-तहाँ पाया जाता है। अथवा चरण शरीरका मूल आधार है, तो मूलके कथनसे सर्वांग आ गये। 'पंकज' (पंक=कीचड़, ज=जायमान) अर्थात् कमल कीचड़से जायमान है, पर वह उससे निर्लिप्त रहता है। वैसे जीव भी कर्मकीचमें चित्तद्वारा सना हुआ है; यथा 'कर्म कीच चित सान्यो। वि० ८८।' वह इन पद पंकजके स्नेहसे कर्मकीचसे निर्लिप्त रहेगा। कर्मकीच, यथा 'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। वि० १०२।', इससे निर्लिप्त हो जायगा; यथा 'जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये।'

श्रीरामजीके सब अंगोंमें पाँच अंग कमलके समान कहे जाते हैं, यथा 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भवभय दारुनं। नवकंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुनं।...नव नील नीरज सुंदरं। वि० ४५।' इस पदमें मनके लिये पाँच अंग कमलके आधार कहे गये हैं। कमलका स्नेही भ्रमर षट्पद कहाता है। वैसे ही मन भी षटपद एवं विषयरसलोलुप कहाता है; 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।... श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते। गीता १५। ७-९।' भ्रमरको कमलमें ही रस, रूप (शोभा), गंध, कोमलता और परागरूपसे पाँचो विषय मिल जाते हैं, इसीसे वह इसे नहीं छोड़ता। यहाँतक कि सन्ध्या समय कमलके संपुटित होनेके साथ वह स्वयं उसमें बन्द हो जाता है और काष्ठछेदनमें निपुण होता हुआ भी स्नेहके कारण कमलपत्रोंको नहीं काटता। ऐसे ही जीव भी मनरूपी भ्रमरके द्वारा श्रीरामजीके कमलरूप पाँच अंगोंमें स्नेह करके पाँचों विषय प्राप्त करता हुआ भी, संसारसे पृथक् (निर्लिप्त) होगा और उनमें ही स्नेहसे भर जायगा। उन्हें फिर कभी नहीं छोड़ेगा। यथा 'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषयभोग बस करइ कि तिन्हहीं। २। ८३।', 'रामचरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।' आगे पाँचों अंगोंमें पाँचों गुणदिखाते हैं—

रस—श्रीरामजीके नेत्रकमलमें कृपा गुणरस है। यथा 'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिवनयना।', 'कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी।' इसी कृपागुणसे अवतार लेकर चरित करते हैं, जिसके गानमें रसना तृप्त होगी।

कोमलता—मुखकमलमें वचनोंके द्वारा कोमलता-गुण है। यथा 'कहि बातैं मृदु मधुर सुहाईं', 'कहि मृदु मधुर मनोहर बचना।' (१। २२५)। इनके सुननेमें कानोंको सुख मिलेगा; यथा 'सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुसमें कछु पै कहिहैं। क० २। २३।', 'भाइ सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं। गी० १। ७१।' इस तरह ठौर ठौर के भाषण सुननेमें श्रवण तृप्त होंगे।

गन्ध—करकमलमें सुगन्ध गुण है, इसके दानसे पानेवालोंकी फिर वासना नहीं रह जाती। यथा 'जोइ जाच्यो सोइ जाचकता बस फिर बहु द्वार न नाच्यो। वि० १६३।', तथा 'कनक कुधर केदार...। क० ७। ११५।'; में उत्कृष्ट रीतिसे दातृत्व वर्णित है। यहाँ नासिकाकी तृप्ति होगी, परमार्थपक्षमें संसारवासना ही गंध-विषयमें प्रधानरूपमें ली जाती है, इतर आदि गौण हैं। पुनः श्रीरामजीके शरीरमें सौगंध-गुण भी है; उसकी भावनासे भी नासिका-तृप्ति होती है।

पराग—पदकमलमें पराग-गुण है, जिससे स्पर्श-विषयके भारी पापसे अहल्या शुद्ध हुई। इस माहात्म्यके साथ स्मरणसे करोड़ों जन्मोंके त्वचाके दोषरूप स्पर्श-विषय-विकार शुद्ध होंगे, यहाँ त्वचाकी तृप्ति हुई।

शोभा—यहाँतकके चार अंग अनुरागवर्द्धक लालकमलके समान हैं। सर्वाङ्ग शरीर नीलकमलके

समान श्याम-शोभा-गुणयुक्त हैं; यथा 'सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा।' श्रीरामजी श्याम शरीर होनेसे शृंगारमय हैं, क्योंकि शृंगाररस श्याम ही कहा जाता है; यथा 'जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप। १। २८१।' इस शोभामें लोचन कृतार्थ होंगे।

इस प्रकार मन अपने पाँचों विषयोंके रूपमें श्रीरामजीमें ही रमणकर कृतार्थ होगा।

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥ १४॥
कमठपीठ जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥ १५॥

अर्थ—श्रुति, पुराण (आदि) सभी ग्रन्थ कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीकी भक्तिके विना सुख नहीं हो सकता।१४। कछुएकी पीठपर बाल भले ही जम आवें (तो जम आवें) और बाँझका पुत्र भलेही किसीको मार आवे (यह अनहोनी हो जाय तो हो जाय)। १५।

नोट—'श्रुति पुरान...' इति। (क) श्रीरामपदपंकजमें प्रेम क्यों करना चाहिए इसपर श्रुति पुराणका सिद्धान्त कहते हैं कि विना उनकी भक्तिके सुख स्वप्नमें भी नहीं मिल सकता। यदि सुखकी चाह है तो श्रीरामजीका भजन करो। ईश्वरों और मुनीश्वरोंका प्रमाण देकर फिर भगवान्‌की निज वाणी इत्यादिका प्रमाण दिया। आगे अपना निश्चित अनुभव किया हुआ सिद्धान्त भी यही बताते हैं। (प्र० सं०)। श्रुति स्वतः प्रमाण है, पुराण आर्षग्रन्थ होनेसे परतः प्रमाण हैं। 'सब' से अन्य सभी सद्ग्रन्थ अभिप्रेत हैं। 'कहाहीं' अर्थात् एकस्वरसे कहते हैं। पहले कहा कि सभी आप्तोंका यह मत है और अब कहते हैं कि सब आप्त-वाक्योंका भी यही मत है। (वि० त्रि०)। (ख)—'रघुपति भगति बिना०' यथा—'गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु। ८९।' देखो। ऊपर कहा कि 'करिय रामपदपंकज नेह', इसमें 'राम' शब्दमें अति व्याप्ति है। अतः श्रुति पुराण वाक्यसे स्पष्ट कह दिया कि दाशरथि राम जो रघुकुलमें अवतीर्ण हुए उनकी भक्तिके बिना सुखका अभाव जानो। (ग)—'सुख नाहीं'। भाव कि अन्य किसी उपायसे सुख प्राप्ति की आशा न करो। यथा—'सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥ ११५। ३, ४।' देखिए। (घ)—'रघुपति भक्ति' बिना सुख नहीं यह कहकर आगे असम्भव दृष्टान्त देकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं।

वि० त्रिपाठीजीका मत है कि 'यहाँ पाँच बार सुखका निषेध किया है, यथा—(१) सुख नाहीं, (२) जीव न लह सुख, (३) न जीव सुख पावै, (४) सुख पाव न कोई और (५) न भव तरिय। यहाँ पर वेदान्तकथित पाँचो आनंद (योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द) बिना माने अर्थ नहीं बनता। आत्मानन्दमें तथा अद्वैतानंदमें तीन-तीन दृष्टान्त, विद्यानन्दमें एक और विषयानंदमें पाँच दृष्टान्त दिये। योगानंद विना रघुपतिकी भक्तिके नहीं हो सकता।

नोट—२ (क) 'कमठ पीठ०'। कछुवेकी पीठपर बालका जमना त्रिकालमें असम्भव है। क्योंकि उसमें हड्डीही हड्डी है। (ख) बन्ध्यासुत—बाँझस्त्रीके पुत्र त्रिकालमें असम्भव है, यथा—'बाँझ कि जान प्रसव की पीरा' 'नतरु बाँझ भलि बादि बियानी'। जब पुत्र होही नहीं सकता तब यह कहना कि बाँझ स्त्रीके पुत्रने अमुकको मारा यह सर्वथा असम्भव है। †

नोट—त्रिपाठीजीका मत है कि 'कमठ पीठ····' के उदाहरणसे दिखाया कि मिथ्या आत्मासे सुख नहीं हो सकता। जिस जीवको कछुआ कहते हैं उसकी पीठ देह होनेसे मिथ्या आत्मा है। जिसमें भेद हो

---

† रा० प्र०—'बंध्यासुत बरु काहुहि मारा। अर्थ जगतमें जाहिर होनेके लिए मारा' यह कहा। 'मारा असम्भव ख्यात होय ज्योतिष मंत्रशास्त्ररीति।'

और दिखाई न पड़े वह मिथ्या आत्मा है। यहाँ शरीर और आत्मामें भेद है, परन्तु दिखाई नहीं पड़ता, इस लिये शरीर मिथ्या आत्मा है। 'बंध्यासुत०' के उदाहरणसे सूचित किया कि गौण आत्मासे भी सुख पाना असंभव है। पुत्र गौण आत्मा है। जिसमें भेद स्पष्ट हो और गुण मिले उसे गौण आत्मा कहते हैं।

प. प. प्र.—'कमठपीठ···' से 'सिकता ते बरु तेल' तक नौ दृष्टान्त दिये हैं। 'नौ' का अंक गोस्वामी जीको बहुत प्रिय मालूम होता है। प्रथम तीन दृष्टान्तोंमें जगत्की सत्ता और अजातवाद सूचित किया। 'तृषा जाइ बरु मृग जल पाना'से जगत्की प्रातिभासिक सत्ता सूचित की। 'अंधकार-रवि और हिम-अनल' दृष्टान्तोंसे व्यावहारिक सत्तामें, जागृतिमें सुखाभाव, तुच्छ सत्तासे सुषुप्तिमें सुखाभाव, प्रातिभासिक सत्तामें स्वप्नमें भी सुखाभाव दर्शित किया है। ☞ 'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं' उपक्रम है और 'बिनु हरिभजन न भव तरिअ' उपसंहार है। इस तरह 'सुख नाहीं'='न भव तरिअ', यह सिद्धान्त ध्वनित किया। भवतरणही सुख है, भव बंधनही दुःख है, यह भी सूचित किया।

फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि-प्रतिकूला॥ १६॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥ १७॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम-बिमुख न जीव सुख पावै॥ १८॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥ १९॥

अर्थ—आकाशमें भलेही अनेक प्रकारके फूल फूलें (तो फूलें)। पर हरिविमुख होकर जीव सुख नहीं प्राप्त कर सकता। १६। मृगवारि (मृगतृष्णाजल) के पानसे प्यास भलेही बुझ जाय (तो बुझ जाय) और खरगोशके सिरपर सींग भलेही जम आवें (तो जम आवें)। १७। अंधकार भलेही सूर्यका नाश कर दे (यह असंभव संभव हो जाय तो हो जाय) पर रामविमुख होकर जीव सुख नहीं पा सकता। १८। पाला वा बर्फसे अग्नि भलेही प्रगट हो जाय (तो हो जाय) पर रामविमुख होकर कोई भी सुख नहीं पासकता।१९।

नोट—१ आकाशमें फूल नहीं फूलता, फूल विना वृक्षके नहीं हो सकता और वृक्ष विना थलके लग नहीं सकता, अतएव आकाशमें फूल फूलना सर्वकालमें असत्य है, यथा—'जग नभ बाटिका रही है फूलि फल रे। धुँआ कैसो धौरहर देख तू न भूल रे' (वि०)। २—'जीव न लह सुख'। तीन दृष्टान्त देकर इस कथनको सिद्धान्त करते हैं। भाव कि ये असम्भव बातें हो नहीं सकतीं, ये असम्भव सम्भव हो जायं तो हो जायँ पर 'जीव न लह सुख' यह सिद्धान्त अटल है, इसमें परिवर्त्तन होही नहीं सकता। इसी प्रकार आगे भी लगा लें। ३—'तृषा जाइ बरु मृगजल पाना'—मृगतृष्णाजल झूठा है, वहाँ जल त्रिकालमें नहीं, तब उससे प्यास बुझना कहना असम्भवको सम्भव कहना है। यथा—'त्रिषित निरषि रबिकरभवबारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥ ।४३।८।', 'जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥ बा० ११७।'

वि० त्रि०—'फूलहिं नभ०' इति। मिथ्या, गौण और मुख्य तीनों आत्मायें जीवके रूप हैं। मिथ्या और गौण आत्माओंसे सुख नहीं मिल सकता यह ऊपर बता आए। अब 'फूलहिं नभ···' में मुख्यात्माको कहते हैं। नभ और मुख्यात्मा (साक्षी) में निर्लेपता साधारण धर्म है। विषय प्रिय है और आत्मा प्रियतम है। पुत्र मित्र कलत्र धनादि प्रिय हैं, पर साक्षी आत्मा सबसे प्रिय है उसके लिये होनेसे ये भी प्रिय होते हैं। उसमें परिणाम होना आकाशमें फूल फूलनेके समान असंभव है। हरिकी ओर मन न लगाकर दूसरी ओर लगानाही हरिविमुख वा हरिप्रतिकूल होना है। हरिविमुख होनेसे जीवको सुख नहीं होता, क्योंकि उसे तो मुख्यात्मासे भेंटही नहीं होती। इससे यह कहा कि भक्ति विहीनको आत्मानन्द नहीं मिलता।

'तृषा जाइ बर मृग जल पाना' इति। मायाकी उपमा। मृगजलसे दी जाती है। मृग जलकी भाँति

मायामें भी आनन्दकी मिथ्या प्रतीति होती है। वस्तुतः इसमें आनंद नहीं है। यह दुःखरूपा है। आनन्दाभिलाषी इसीमें आनन्द-प्राप्तिका प्रयत्न करते-करते दुःख पा-पाकर मर जाते हैं, कभी सुख नहीं मिलता। इस दृष्टान्तसे मायाको दुःखरूपा, मिथ्या और जड़ कहा।

'सस सीस बिषाना'—खरगोशको न सींग है, न होगी और न प्रतीत होती है। अतः खरगोशकी सींग होना मिथ्याही नहीं बल्कि असत् है। यही अजातवाद है। जिसमें जो वस्तु स्वभावसे प्राप्त नहीं उसमें वह वस्तु नहीं होती। ब्रह्मलीन विज्ञानीके लिये जगत् तीनकालमें शशविषाणकी भाँति हुआ ही नहीं और न प्रतीत होता है। इससे मायाको असत् कहकर अजातवाद कहा।

नोट—४ (क) 'अंधकार बरु रबिहि नसावहि'। इसी प्रकार श्रीभरतजीके हृदयकी शुद्धता स्थापित करनेमें प्रभुने कहा है—'तिमिर तरुन तरिनिहि मकु गिलई।' अ० २३२ (१) देखिए। का० में 'रबिहि' की जगह 'ससिहि' पाठ है। अंधकार तो सूर्य्यके सम्मुख ही नहीं जा सकता। तब भला वह सूर्य्यका नाश क्या करेगा? सूर्य्यका नाश उससे कहना असंभवको सम्भव करना है—'तहँ कि तिमिरि जहँ भानु प्रकासू', 'रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं।७।२।८।' देखो। रा० प्र० कार अर्थ करते हैं 'अंधकार विधुंतुद (राहु) रूप होकर चन्द्रमाको ग्रास करले' (ख) 'राम बिमुख न जीव सुख पावै'—जैसे कि जयन्तको किसीने शरण न दी—'राखि को सकै राम कर द्रोही', 'सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥'—आ० २। २, ५, ८ देखिए। 'राम बिमुख थल नरक न लहहीं'।

वि० त्रि०—'अंधकारु बरु रबिहि…' इति। अंधकार कोई वस्तु नहीं है, प्रकाशाभावको ही अंधकार कहते हैं। इसी भाँति ज्ञानाभावकोही अज्ञान कहते हैं। श्रीराम सच्चिदानंद सूर्य हैं और मोह (अविद्या) अन्धकार है। अतः रामके विमुख होकर जीव असत्, अचित और निरानंद मायामें जा पड़ेगा। जो मिथ्या है, असत् है, उसकी गिनती नहीं, गिनती सच्ची वस्तुओंकी होती है। अतः राम अद्वैत हैं। यथा 'अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूप रूपं।' अतः रामसे विमुख जीव द्वैतरूपी दुःखमें आ पड़ता है। यथा 'द्वैतरूप तमकूप परौं सो नहिं कछु जतन बिचारो।'—इस दृष्टान्तसे बताया कि रामविमुखको अद्वैतानन्द कभी नहीं मिल सकता। लोकदृष्टिसे माया वास्तवी है, शास्त्रदृष्टिसे असत् और युक्तिसे मिथ्या (अनिर्वचनीया)। किसी भी दृष्टिसे मायाकी उपासना कर सुख नहीं मिल सकता।

प० प० प्र०—'अंधकारु…' इति। यह स्थिति असम्भव-सी लगती है, पर कल्पान्तके प्रलयके बाद रविको अंधकार ग्रसता है। रवि नहीं रहता केवल अन्धकार ही अन्धकार रहता है—'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' (ऋग्वेद)। इससे यह सूचित किया कि विश्वकी स्थितिअवस्थामें तो सुख मिलेगा ही नहीं, पर कल्पान्तके पश्चात् भी सुख न मिलेगा। श्रीमद्भागवतमें भी यही कहा है, 'तर्हि न सन्नचाऽसदुभयं न च कालजवः। किमपि न तत्र शास्त्रमवकृत्य शयीत यदा। १०। ८७। २४।' भाव यह कि आपकी शरण लेकर जो जीव जीवित दशामें, सृष्टिकालमें, आपकी कृपासे भवभयमुक्त न हो सका, उसको प्रलयके बाद भी आपके अत्यन्त समीप होने पर भी सुखप्राप्तिका कुछ साधन ही नहीं रहता है, उस समय न तो स्थूल-सत-आकाशादि, न असत-सूक्ष्म महदादि, शरीर, कालवैषम्य, इन्द्रिय और प्राण ही रहते हैं और न शास्त्र ही और 'तनु बिनु बेद भजन नहिं बरना' तब सुख कब संभव हो सकता है!

नोट—५ 'बिमुख राम सुख पाव न कोई', यथा—'रामबिमुख सुख कबहुँ न सोवा'। ऊपर 'जीव न लह सुख' 'राम बिमुख न जीव सुख पावै' कहा और यहाँ 'सुख पाव न कोई' इस प्रकार साधारणतया तो 'कोई'=कोई जीव या प्राणी', पर साथही विशेष भाव यह भी निकलता है कि पूर्व जीवोंके विषयमें ही कहा था और अब शब्द बदलकर जनाया कि जीवकी क्या, यदि ईश्वरभी, जैसे कि ब्रह्मा विष्णु महेश, रामविमुख हों तो उनकोभी सुख न होगा।

वि० त्रि०—'हिम ते अनल…' इति। अनलसे जलकी उत्पत्ति हुई है और जलकी जड़ीभूतावस्था

१००

ही हिम है। अतः हिमसे अग्नि नहीं प्रकट हो सकती। हिमका स्वभाव जड़ है। अतः यहाँ जड़ मायाकी उपमा हिमसे दी है। इसमें विलक्षण स्वभाववाले अग्निकी उपमा चेतनसे दी है। चेतन सुखरूप है, माया दुःखरूपा है। सो दुःखरूपा मायासे चाहे सुख मिल जाय। परमात्मा और आत्माके बीचमें पड़कर मायाने ही दोनोंको अलग कर रक्खा है। योगसे माया और आत्माका विवेक हो जानेसे द्वैतभय भाग जाता है और दुःखाभाव, कामाप्ति, कृतकृत्यता तथा कृतार्थता होती है, यही विद्यानन्द है। सो मायासे विद्यानन्द सुखका होना असंभव है। और रामविमुख होनेसे तो और भी अधिक असंभव है। 'कोई' का भाव कि योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द अथवा विद्यानंदमें से कोई भी।

दोहा—बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥१२२ (क)

अर्थ—जलके मथनेसे घी भलेही हो जाय (निकल आवे) और रेतसे तेल भले ही निकल आवे, पर यह सिद्धान्त अटल है, कदापि टल नहीं सकता, कि विना भगवद्भजनके संसार नहीं तरा जा सकता।१२२।

नोट—१ जल मथने से घी नहीं निकल सकता, यथा—'घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये। ४६।५।' और रेतको रेतने (पेरने) से तेल नहीं निकल सकता। 'होइ बरु' अर्थात् ये आश्चर्य घटनायें हो जायँ, ये सिद्धान्त टल जायँ तो टल जायँ, पर हरि-भजन-विना भवपार नहीं हो सकते, यह सिद्धान्त अटल है, किसी प्रकार किसीकी भी सामर्थ्य नहीं कि टाल दे। अपेल=न पेलन (टालने योग्य), यथा—"आयेहु तात बचन मम पेली। आ०।' (ख) 'बिनु हरिभजन न भव तरिअ...' इति। 'बिनु हरिभजन न भव भय नासा। ६०। ८।' देखिए। मिलान कीजिये, यथा सत्योपाख्याने—'लोके भवतुचाश्चार्यं जलाज्जन्मघृतस्य च। सिकतायाश्च तैलं तु यत्नात्यातु कथञ्चन्। विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थायचोच्यते।१५।१६, १७।' मूर्खोंके विषयमें कहते हुए श्रीभर्तृहरिजीने भी कुछ ऐसा ही कहा है। यथा 'लभेत सिकतासुतैलमपि यत्नतः पीडयन्पिबेच्च मृगतृष्णिकासुसलिलं पिपासार्दितः। कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेन्नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्।७५।' ['सिकतया बलु तैल मथापि वा घृतमपांथनाद्यनाथदिचेत् भवेत्। भगवतांभजनेनविनानरः नहि कदापितरेद्भवसागरम्' (वि० टी०)]

वि० त्रि०—योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द, और विद्यानंद को कह चुके, विषयानन्द शेष रहा उसके बारेमें अब कहते हैं। सात्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ ही सुख-दुःख-मोहात्मिका होकर शान्ता, मूढ़ा और घोरा नामसे अभिहित होती हैं। वैराग्य, क्षान्ति, औदार्यादि शान्त वृत्तियाँ हैं। तृष्णा, स्नेह, राग, लोभादि घोर वृत्तियाँ है और सम्मोह, भयादि मूढ़ वृत्तियाँ हैं। इनमेंसे निर्मलताके कारण शान्तामें ब्रह्मका सुखांश भी प्रतिबिम्बित होता है और घोरा-मूढ़ामें केवल सत्तांश और चिदंश ही प्रतिबिम्बित होता है। अतः घोरा-मूढ़ामें सुख नहीं। यहाँ जलकी उपमा घोरा वृत्तिसे दी गई है, क्योंकि जलका प्रच्यवनशील स्वभाव होता है। जो जिसमें रहता है वही उद्योग करनेपर निकलता है। जलमें घी है ही नहीं तब निकलेगा कहाँ, वैसेही घोरावृत्तिमें सुखांश है ही नहीं तब सुख मिलेगा कैसे?

सिकताके स्थूलतर होनेके कारण उसे मूढ़ा वृत्तिसे उपमित किया, बालूमें तेल नहीं होता अतः उसे पेरनेसे तेल नहीं निकलता। इसी तरह मूढ़ावृत्तिसे सुख मिलना असंभव है। घोरा-मूढ़ा वृत्तियोंसे यों ही सुख मिलनेवाला नहीं तब बिना भजनके तो और भी असम्भव है।

'बिनु हरिभजन...'—भाव कि शान्ता वृत्तिसे निस्संदेह क्षणिक सुख मिल जाता है और वह भी इसी कारणसे कि उसमें सच्चिदानन्द रामकी एक झलक पड़ जाती है, पर उस सुखसे कोई उपकार नहीं होता, पूर्ण सुख अथवा भूमा सुख तो भवसन्तरण करनेपर ही मिलेगा। सो यह क्षणिक सुखही तो जीवको संसारमें बझाये हुये है इससे भवसन्तरण नहीं हो सकता। अतः शान्ता वृत्तिको स्थिर करनेके लिये हरिभजन करना

होगा, इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

नोट—२ 'करिय रामपद पंकज नेहा', इस मतका समर्थन यहाँ तक हुआ। 'रघुपतिभक्ति बिना सुख नाहीं। ११५। १४।' उपक्रम है और 'बिनु हरि भजन न भवभय नासा' उपसंहार है। ऊपर 'सुख' शब्द और अन्तमें 'भव तरिय' कहकर जनाया कि भवपार पाना यही सुख है।

'यह सिद्धान्त अपेल'। सिद्धान्त=वह बात जिसके सदा सत्य होनेका निश्चय किया गया हो। न्यायशास्त्रमें सिद्धान्त चार प्रकारके कहे गए हैं—सर्वतंत्र, प्रतितंत्र, अधिकरण और अभ्युपगम। सर्वतंत्र वह है जिसे विद्वानोंके सब वर्ग या संप्रदाय मानते हों अर्थात् जो सर्व-सम्मत हो। प्रतितंत्र वह है जिसे किसी शाखाके दार्शनिक मानते हों और किसी शाखाके विरोध करते हों। जैसे, पुरुष या आत्मा असंख्य हैं, यह सांख्यका मत है, जिसका वेदान्त विरोध करता है। अधिकरण वह है जिसे मान लेने पर कुछ और भी सिद्धान्त साथ मानने ही पड़ते हैं।—जैसे, यह मान लेनेपर कि आत्मा केवल द्रष्टा है, कर्त्ता नहीं, यह मानना ही पड़ता है कि आत्मा मन आदि इन्द्रियोंसे पृथक् कोई सत्ता है। अभ्युपगम वह सिद्धान्त है जो स्पष्टरूपसे कहा न गया हो पर सब स्थलोंको विचार करनेसे प्रकट होता है। जैसे न्यायसूत्रोंमें कहीं यह स्पष्ट नहीं कहा गया कि मनभी एक इन्द्रिय है, पर मनसंबंधी सूत्रोंका विचार करनेपर यह बात प्रकट हो जाती है।—यहाँ 'सिद्धान्त अपेल' कहकर सर्वतंत्र सिद्धान्त जो सर्वसम्मत है, वह जनाया।

वि० त्रि०—'यह सिद्धांत अपेल' इति। भाव कि ज्ञानकी सिद्धिमें भी व्यभिचार है, साधन भक्तिसे सुलभताके साथ ज्ञानसिद्धि हो सकती है। अतः उस सिद्धान्तको अपेल नहीं कहा। यथा 'कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई।' पर भक्ति नहीं हटाई जा सकती है, उसे हटानेपर सब साधन ही व्यर्थ पड़ जाते हैं, इसलिये कहते हैं कि 'यह सिद्धांत अपेल'।

वीर कवि—१ इन उदाहरणोंकी बातें सब जानते हैं कि सत्य मानी जाती हैं, भुशुंडीजी अपने ज्ञानबलसे प्रमाण देते हैं। यह प्रत्यक्षप्रमाण अलंकार है। इस प्रकरणमें 'रामविमुखीको सुख नहीं मिलता इस बातकी उत्कृष्टताके लिये जो जो हेतु कल्पित किये गए हैं वे उत्कर्षके कारण नहीं हैं। चाहे वे असंभवपूर्ण घटनायें हो जायँ तो भी यह स्वयंसिद्ध है कि हरिविमुखी सुखी नहीं हो सकता, 'प्रौढ़ोक्ति अलंकार' है। दोहेका पूर्वार्द्ध भी यही है। सरदारकविने अपने मानस रहस्यमें यहाँ 'मिथ्याध्यवसित अलंकार' माना है परन्तु मिथ्याधवसित वह है जहाँ एक मिथ्याको सत्य करनेके लिए दूसरी मिथ्या बात कही जाती है। जैसे—जो आकाशके पुष्पका रस आँखमें अंजन करे वह साँपके कानको देख सकता है। आकाशपुष्पका रस मिथ्यावस्तु है उसके सम्बन्धसे सर्पके कानका मिथ्यात्व निश्चय किया गया है। इस कारण मेरी समझमें यहाँ मिथ्याध्यवसित अलंकार नहीं है। २—विना हरिभजन भवपार होनेका अभाव 'प्रथम विनोक्ति' है।

सि० ति०—'कमठपीठ' से लेकर यहाँतक नौ असंभव दृष्टान्त कहे गए। ६ संख्याकी सीमा है। इससे यह भाव निकलता है कि ऐसी असंख्य असंभव बातें चाहे हो जायँ तो हो जायँ पर हरिभजन बिना कोई भवपार नहीं हो सकता।

दोहा—मसकहि करै बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।
अस बिचारि तजि संसय रामहिं भजहिं प्रबीन॥
श्लोक—विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजंति येऽति दुस्तरं तरंति ते॥१२२॥

अर्थ—प्रभु मच्छड़को ब्रह्मा कर दें और ब्रह्माको मच्छड़से भी छोटा (तुच्छ) कर दें, ऐसा विचार कर चतुर लोग संशय छोड़कर श्रीरामजीको भजते हैं। मैं तुमसे भली प्रकार खूब निश्चय किया हुआ सिद्धान्त

कहता हूँ, मेरे वचन अन्यथा (व्यर्थ, झूठे) नहीं हैं कि जो मनुष्य भगवान्का भजन करते हैं वे अत्यन्त दुस्तर संसारको तर जाते हैं। १२२।

नोट—१ (क) मसक सृष्टिमें बहुत छोटा जंतु है और सृष्टिरचयिता ब्रह्मा जीवोंमें सबसे बड़े हैं। सबसे बड़ेको सबसे छोटा और सबसे छोटेको सबसे बड़ा कर देनका सामर्थ्य होनेसे 'प्रभु' कहा। 'कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः'। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जो इस समय ब्रह्मदेव हैं वे किसी समय मच्छर थे और जो आज मच्छड़ है वह किसी समय ब्रह्मा रह चुका हो, क्योंकि ब्रह्मदेवसे भी पतन शास्त्रोंमें सुना गया है। —'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'। (ख) 'अस बिचारि'—जैसा ऊपर 'सबकर मत खगनायक एहा' से यहाँ तक कह आए कि यह सिद्धान्त अटल है, दूसरे श्रीरामजी सबके प्रभु हैं, उनका यह सामर्थ्य है कि मच्छड़को ब्रह्मा बना दें और ब्रह्माको मच्छड़से भी हीन बना दें, यथा 'मसक बिरंचि बिरंचि मसक सम करहु प्रभाव तुम्हारो। वि० ६४।'; तब भजा हम शरण जायँगे तो हमें वे भवपार क्यों न कर देंगे? मिलान कीजिए—'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि०। ११६।'

वि० त्रि०—(क) 'अस बिचारि···' इति। भाव यह है कि अनंतकालसे इस संसारमें पड़े दुर्गति सह रहे हैं, दुःखनिवृत्तिका उपाय करते ही मर रहे हैं, पर आज तक न मुक्ति ही हुई न भक्ति ही मिली। अतः समर्थका आश्रयग्रहण ही अब एकमात्र उपाय है। श्रीरघुनाथजी-सा समर्थ कोई नहीं, उन्हींके आश्रय ग्रहणसे बेड़ा पार है। (ख) 'तजि संसय'—भाव कि सब प्रकारका समाधान कर देनेपर भी यदि मनुष्य स्वयं संशय न हटावे तो वह बना ही रहता है। इसी लिये भगवान् शंकरने कहा—'तजु संसय भजु रामपद। १। ११५।' (ग) 'रामहि भजहिं प्रबीन'—भाव कि प्रवीणता श्रीरामको भजनेमें है। यदि चतुर प्रवीण होकर भी संसारको ही भजा तो उसकी चतुराई और जानकारी कहाँ रही? यथा 'झूठो है झूठो है झूठो सदा सब संत कहंत जे अंत लहा है। ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है। जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गँवार महा है। जानकीजीवन जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यौ कहा है।'

प० प० प्र०—इस दोहेके इस अर्धमें 'प्रवीण' शब्दकी तुलसीकृत व्याख्या ही है। इसी तरह 'जड़' की व्याख्या ११५ (१-२) में, 'पंडित' की ४६ (७-८) में है। इसी तरह अनेक शब्दोंकी व्याख्यायें मानसमें दी गई हैं, जिनको स्मरणमें रखनेसे अन्य स्थानोंपर गूढ़ वाक्योंके भाव जाननेमें बहुत सहायता मिलती है।

नोट—२ 'हरिं नरा भजंति ये०', यथा-'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं।' ३-यहाँ जो निश्चित सिद्धान्त निकला वह इस प्रकार है—

१—शिव, ब्रह्मा और मुनीश्वरोंका सिद्धान्त कहा— 'करिय रामपदपंकज नेहा'
२—श्रुति-पुराणादिका सिद्धान्त कहा— 'रघुपतिभगति बिना सुख नाहीं', 'जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला'
३—जोर देकर अपना अनुभव सिद्धान्त कहा 'राम बिमुख न जीव सुख पावइ'
(रामविमुखको सुखकी प्राप्तिका अभाव) 'बिमुख राम सुख पाव न कोई'
४—अन्य साधन असमर्थ हैं— 'बिनु हरिभजन न भवतरिय यह सिद्धांत अपेल'
५—(भक्तिसे भवतरण निश्चय है)— 'हरि नरा भजंति येऽतिदुस्तरं तरंति ते'

नोट-४ ☞ यहाँ इतने सिद्धान्त कहे—(क) रघुनाथजीकी भक्तिहीसे सुख प्राप्त एवं भवतरण हो सकता है। (ख)—उनकी भक्तिके विना सुख किसी प्रकार नहीं मिल सकता। (ग)—न राम-विमुख होनेसे सुख, न उनके प्रतिकूल होनेसे सुख और न उनके भजन विना सुख। अर्थात् यदि कोई सोचे कि हम प्रतिकूल नहीं होते पर उनकी भक्तिभी नहीं करते, उदासीन रहेंगे, तो उसीपर यह कहा कि उदासीन रहनेसेभी सुखकी प्राप्ति नहीं है।

वि० त्रि०—१ पूर्वके दोहेमें जिस बातको व्यतिरेकमुखसे कहा था, उसीको अब अन्वयमुखसे कहते हैं। पहले दोहेमें कहा था कि 'बिनु हरिभजन न भव तरिय', इसमें कहते हैं कि निश्चय तर जाते हैं। मैं निश्चित

बात कहता हूँ' यह कहकर अपना विश्वास इस सिद्धांपर दिखलाया।

२ 'न अन्यथा वचांसि मे'—यह संदेह न हो कि कही हुई और बातें निश्चित नहीं थीं, इसलिये कहते हैं कि मेरे वचन अन्यथा होते ही नहीं, अर्थात् सब कहा हुआ यथार्थ है, पर निरूपण करनेमें तर्क तथा प्रमाणसे काम लेना पड़ता है, इस समय निर्णीत अर्थ कहता हूँ। यहाँ भुशुण्डिजी अभिमान नहीं करते हैं, शिष्यमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिये यथातथ्य कह रहे हैं। सब हिंदीमें कहकर सिद्धान्त संस्कृतमें कर रहे हैं।

३ 'हरिं नरा भजंति⋯'—भाव कि नर शरीर भवसागरके लिये बेड़ा है; यथा 'नरतन भववारिधि कहँ बेरो'। पर सब बेड़े पार नहीं लगते, बीचमेंही डूबते हैं, जो हरिको भजते हैं उन्हींका बेड़ा पार है, वे ही बुद्धिमान हैं। 'ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहत जड़ करनी।' कहकर जिस प्रसंगको उठाया था उसीकी समाप्ति यह कहकर करते हैं कि 'जो हरिको भजते हैं वे ही दुस्तर समुद्रको पार करते हैं।

नोट—☞ यहाँ तक प्रश्नोंके उत्तर हुए आगे प्रकरणकी इति लगाते हैं

२—यह नगस्वरूपिणी वृत्तका श्लोक है। आ० में यह वृत्त आचुका है।

कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥ १॥
श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! मैंने अनूपम रामचरित (कहीं) विस्तारसे और (कहीं) संक्षेपसे अपनी बुद्धिके अनुसार कहा। १। हे उरगारि! श्रुतियोंका सिद्धांत यही है कि सब काम भुलाकर श्रीरामजीका भजन करना चाहिए। २।

नोट—१ यह गरुड़के सप्त प्रश्नोंके उत्तर कहे, इसके पूर्व ४ प्रश्न जो भुशुण्डिसम्बन्धी थे उनके उत्तर कहे थे। पर यहाँ प्रसंगकी इति लगानेमें कहते हैं कि 'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा' इससे जनाया कि अंतिम प्रश्नोंके उत्तरभी रामचरितकेही अंतर्गत हैं। जिस सत्संगमें रामचरित्रके संबंधमें और भी ऊपरकी कथा कहनेकी आवश्यकता हो जो प्रसंगका पोषक है वहभी रामचरित है, जैसे कि योगवाशिष्ठको रामचरित कहा जाता है। दूसरे, संतचरित, संतस्वभावभी रामचरित्र है क्योंकि संत भगवंतमें अभेद है, और इनका चरित गुण विना रामसम्बंधका होता ही नहीं। जितने प्रश्न हैं रामभक्ति दृढ़ करनेवाले हैं, अतः प्रश्न और उत्तर दोनों रामचरित्रके अंग हैं। २—कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा', यहाँ कथाकी इति लगाई। 'प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरित-सर कहेसि बखानी। ६४। ७।' उपक्रम है। ३—'अनूपा' 'स्वमति अनुरूपा' के भाव पूर्व आ चुके हैं।

वि० त्रि०—१ (क) हरिचरित्र वेदमार्ग संस्थापनके लिये होता है, अतः वेदोदित संपूर्ण बातें स्वयं करके उपदेश द्वारा जगत्‌के सामने जीते-जागते रूपमें रख दी जाती हैं, यथा 'जेहि कहत गावत सुनत समुझत परम पद नर पावई।' भागवत-चरितमें भी भगवद्गुणानुवादही रहता है। श्रीरामचरित-मानसमें एक भगवत्-चरित्र और पाँच भागवतचरित्र (उमाचरित, शम्भुचरित, भरतचरित, हनुमत्-चरित और भुशुण्डि-चरित) हैं। अतः इन सबके अंतमें कहते हैं कि 'कहेउँ नाथ'। (ख) अनूप=जगत्‌से विलक्षण। श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, धाम सभी अनूप हैं। यथा 'बिधिहरिहरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपं गुननिधान सो।', 'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा।', कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा।', 'संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगलमूल। १।३६।' श्रीरामावतारमें जो चरित किया गया वह वस्तुतः अनूप है, कहीं किसी अवतारमें ये बातें नहीं पाई जातीं। यथा—

'तीय सिरोमनि सीय तजी जेहि पावककी कलुषाइ दही है।
धर्मधुरंधर बंधु तज्यो, पुरलोगनिकी बिधि बोलि कही है॥
कीस निसाचरकी करनी न सुनी न बिलोकी न चित्त रही है।

राम सदा सरनागतकी अनखौहीं अनैसी सुभाय सही है ॥ क० ७ । ६ ।
कौसिक विप्रबधू मिथिलाधिपके सब सोच दले पल माहें ।
बालि-दसानन-बंधु कथा सुनि सत्रु सुसाहिब सील सराहैं ॥
ऐसी अनूप कहैं तुलसी रघुनायक की अगुनी गुनगाहैं ।
आरत दीन अनाथनको रघुनाथ करैं निज हाथकी छाहैं ॥ क० ७ । ११ ।

[श्रीकांतशरणजी कहते हैं कि 'अनूप' का अर्थ सरस भी होता है, यथा 'देखि मनोहर सैल अनूपा ।']

२ 'स्वमति अनुरूपा'—हरिचरित्र सर्वतोभावसे कहनेमें सभी असमर्थ हैं । चारों घाटोंके वक्ताओंने अन्तमें यही स्वीकार किया है । यथा—'मति अनुरूप कथा मैं भाषी ।' (श्रीशंकरजी), 'रघुपति कृपा जथा मति गावा ।' (श्रीयाज्ञवल्क्यजी), 'ब्यास समास स्वमति अनुरूपा ।' (श्रीभुशुण्डीजी) और पूर्वघाटके वक्ता गोस्वामीजी तो पूर्वही कह आये हैं, यथा 'मति अनुहारि सुबारि गुनगन गनि मन अन्हवाइ ।...'

नोट—४ 'ब्यास समास' इति । जहाँ 'बषाना' 'गाना' इत्यादि क्रियायें हैं वहाँ विस्तार है । जहाँ अपूर्ण क्रिया वा संक्षेप इत्यादि शब्द हैं वहाँ थोड़ेमें कहा है । बालचरित विस्तारसे कहा, अन्तिम सप्त प्रश्नोंमेंसे 'संत असंत मर्म और स्वभाव' तथा मानस-रोग विस्तारसे हैं; क्योंकि इनके विषयमें 'बषानहु' 'कहहु समुझाई' पदोंका प्रयोग हुआ है, शेष संक्षेपसे पूछे और कहे गए हैं । इसी तरह सबमें पाठक देख लें ।

'श्रुति सिद्धांत' । वेदस्तुतिमें उन्होंने अपना 'सिद्धांत' कहा है—'जे ज्ञानमानबिमत्त तव भवहरनि-भक्ति न आदरी ।...' 'हम तव चरन अनुरागहीं' इत्यादि, दोहा १३ के छन्दमें देखिए । प्रमाणभी पूर्व आ चुके हैं । आगे श्रीशिवजीभी यही कहते हैं–'रामचरन जाकर मनु राता ॥...श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना । १२७ । ३-४ ।' अर्थात् रामचरणमें अनुराग करना चाहिए यही श्रुतियोंका सार-सिद्धान्त है ।

वि० त्रि०—(क) पहले ज्ञानसिद्धान्तसे भजनकी उपादेयता दिखलाई, फिर भक्ति-सिद्धान्तसे दिखलाई, अब श्रुति-सिद्धान्तसे भी वही दिखलाते हैं ।

नोट-५ 'सब काज बिसारी', यथा–'सर्वंत्यक्त्वा हरि भजेत्' । कहा है कि सौ काम छोड़कर भोजन कर ले, और भगवद्भजनके सामने भोजन तक छोड़ देना विधि बताया है । काशीकी प्रतिमें 'काम' पाठ है । दोनोंमें भाव एक ही हैं । जनकपुरवासी और मगवासी प्रभुके दर्शनके लिए 'धाये धाम काम सब त्यागी', 'चले सकल गृह काज बिसारी ।' श्रीसुग्रीवने वानरोंको उपदेश दिया है कि 'भजिय राम सब काम बिहाई' ।—बा० २२० (२), २४० (६), कि० २३ (६) देखो । इसके भाव वहाँ आ चुके हैं । भुशुंडिजीके विषयमें कहा है कि 'तजि हरिभजन काज नहिं दूजा'—बस यही 'सब काज बिसारी' का चरितार्थ है । 'बिसारी' का भाव कि छोड़ने मात्रसे काम न चलेगा, सब काम इसके आगे भुला दो मानों और कोई काम था ही नहीं ।

वि. त्रि.—'भजिय राम सब काम बिसारी' इति । भाव कि विषयसे मन फेरकर भगवान्‌में ऐसा लगावे कि सचमुच विषय और कार्य सब विस्मृत हो जायँ । यथा 'प्रगट बखानत राम सुभाऊ । अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ ।' (शुक सारन), 'तुलसी भूलि गये रस एहा ।' ऐसे भूलनेवालेका काम-काज भगवानको याद रहता है । यथा 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी ।...' । 'काम' का अर्थ सुख भी है । जबतक दूसरे-दूसरे सुख याद हैं तबतक भजन नहीं हो सकता । दूसरे सुख सीठे लगें तब राम मीठे लगते हैं । 'उरगारी' सम्बोधनका भाव कि आप सर्पोंके शत्रु हैं, संशयसर्पसे भी आप वेदोदित सिद्धान्तद्वारा अपनी रक्षा कीजिए । वेदोंके सिद्धान्त सुननेपर वेदानुयायीके हृदयसे शंका दूर होकर दृढ़ निश्चय हो जाना ही प्राप्त है ।

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही । मोहि-से सठ पर ममता जाही ॥ ३ ॥
तुम्ह बिज्ञान रूप नहिं मोहा । नाथ कीन्हि मोपर अति छोहा ॥ ४ ॥
पूँछिहु राम - कथा अति पावनि । सुक सनकादि संभु मन भावनि ॥ ५ ॥

अर्थ—समर्थ स्वामी श्रीरघुनाथजीको छोड़कर किसकी सेवा (भजन) की जाय कि मुझ ऐसे शठ पर भी जिनका ममत्व है। ३। हे नाथ! आप विज्ञानरूप हैं, आपको मोह नहीं था, आपने तो (तथा स्वामी श्रीरघुनाथजीने तो) मुझपर (यह) अति-कृपा की है। ४। आपने शुकसनकादिशम्भुके मनको प्रिय लगनेवाली अत्यन्त पवित्र रामकथा पूँछी। ५।

पं० रा० व० श०—'प्रभु' अर्थात् अघटित घटनाको घटित कर देनेवाले हैं। 'प्रभु' होनेसे साधक को ज्ञान हुआ कि वे उत्कृष्ट हैं, भजने योग्य हैं, पर यदि सुलभ न हों तो हमारे किस कामके?- इस शंकाके निवृत्त्यर्थ 'प्रभु' से ऐश्वर्य कहकर दूसरे चरणमें माधुर्य कहकर जनाया कि सुलभभी हैं—यह कृत्यसाध्य ज्ञान हुआ।

नोट—१ (क) 'रघुपति तजि सेइअ काही'। प्रथम श्रुति-सिद्धान्त कहा कि श्रीरामजीका भजन करना चाहिए, अब और भी कारण उनके भजनेका बताते हैं कि इनको न भजोगे तो दूसरा और कौन ऐसा प्रभु है जिसकी सेवा कीजिए। प्रभुने स्वयं कहा है—'आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई। १। १५०। २।' देखिए। भाव यह कि दूसरा कोई और भजे जाने योग्य नहीं है, यथा—'नाहिंन भजिबे जोग बियो। श्रीरघुबीर-समान आन को पूरन कृपा हियो॥ कहहु कौन सुर सिला तारि पुनि केवट मीत कियो। कौन गीध अधम को पितु ज्यों निजकर पिंड दियो॥ कौन देव सबरीके फल करि भोजन सलिल पियो। बालि-त्रास-बारिधि बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो॥ भजन प्रभाउ बिभीषन भाष्यो सुनि कपि कटक जियो। तुलसिदास को प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो॥ गी० सु० ४६।' पुनः यथा—'भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद प्रभु दूबो नाहिंन। आनंद भवन दुखदवन सोक समन रमारमन गुन गनत सिराहिं न॥ आरत अधम कुजाति कुटिल खल पतित सभीत कहूँ बो समाहिं न। सुमिरत नाम बिबसहू बारक पावत सो पद जहाँ सुर जाहिं न॥ जाके पदकमल लुब्ध मुनि मधुकर बिरत जे परम सुगतिहु लुभाहिं न। तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस कारुनीक जो अनाथहि दाहिन॥ वि० २०७।' श्रीरामजीमें ही स्वामीके सब गुणोंका उत्कर्ष है। यथा 'सेइय सुसाहिब राम सो॥ सुखद सुसील सुजान सूर सुचि सुंदर कोटिक काम सो॥...देखत दोष न खीझत रीझत सुनि सेवक गुनग्राम सो॥ जाके भजे तिलोक तिलक भये त्रिजग जोनि तनु तामसो। तुलसी ऐसे प्रभुहि भजै जो न ताहि बिधाता बाम सो॥ वि० १५७।' यह भी ध्वनितार्थ है कि यदि उनके ऐसा कोई दूसरा प्रभु होता तो उनको छोड़कर उस दूसरेको भजते। यथा 'तो सों प्रभु जो पै कहूँ कोउ होतो। तो सहि निपट निरादर निसि दिन रटि लटि ऐसो घटि को तो॥...तेरे राज राय दसरथ के लयो बयो बिनु जोतो। वि० १६१।' (ख) भजने योग्य दूसरा प्रभु नहीं है, यह कहकर और कारण भी कहते हैं—'मोहिसे सठपर ममता जाही'। भाव कि शठपर कोई स्वामी प्रेम नहीं करता, पर ये शठपरभी प्रेम करते हैं, यथा—'सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपाल। उपल किये जलजान जेहि सचिव सुमति कपि भालु'—(बा० २८ देखो)। मैंने उनके साथ कैसी शठता की और उन्होंने उसपर भी मेरे साथ कैसा प्रेम किया, अपना निज दास बनाया।—'रामकृपा आपनि जड़ताई' कहही आए हैं।—[रा० प्र०—बिगड़े पर कृपा और प्रेम करना ही कृपा और प्रेम है। बने, समीचीन, सेवकको तो सभी चाहते हैं; जो बिगड़े हुएको चाहे ऐसे एक येही हैं] ममत्व 'रामकृपा आपनि जड़ताई' प्रसंगमें दिखा आए हैं।

२ (क) 'तुम्ह बिज्ञान रूप' इति। यथा—'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी'। विज्ञानरूप हो, अतः मोह नहीं है। (प्र० सं०)। पुनः, विज्ञानरूप अर्थात् वेदमय हो। यथा 'सामध्वनिशरीरस्त्वं वाहनः परमेष्ठिनः' (मात्स्ये)। ज्ञानीके सम्मुख मोह नहीं ठहरता, यथा—'जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा।' तब विज्ञानरूप महाज्ञानीके सम्मुख कैसे ठहरेगा? 'मोहा' बहुवचन कहनेसे संशय और मायादिका भी ग्रहण होगा। यथा—'तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया। ७०। ३।' उपदेशके प्रारंभमें यह कहा था और अब उपदेशकी समाप्तिमें वही बात कही। (वि० त्रि०)। (ख) 'कीन्हि मोपर अति छोहा'—'तुम्हहि न संसय मोह न माया। मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥...७०। २-४।' देखिए। पुनः, सेवकके घर आना

कृपा थी और सत्संग सुख दिया, रामचरित कहलाया इत्यादि 'अति कृपा' है। (प्र. सं.)। भुशुंडिजीका इतना उपदेश देनेपर भी यही भाव बना हुआ है कि गरुड़जीने मोहके बहाने यहाँ आकर मुझपर बड़ी दया की, मुझे बड़ाई दी।

वि. त्रि०—'पूँछेहु रामकथा...' इति। (क) भाव कि तुम समझते थे कि मुझे मोह था, पर मेरी समझमें वह मोह नहीं था, वह विद्या थी; यथा 'प्रभु सेवकहिं न ब्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि विद्या।'; क्योंकि जिसे रामकथाकी पूछ है, उसे मोह कहाँ? इसी लिये मैं कहता हूँ कि 'तुम्ह बिज्ञानरूप नहिं मोहा।' (ख) 'अति पावनि'—भाव कि जिसे मोह होता है वह अपावन बात पूछता है। यथा 'होहिं बिप्र बस कवनि बिधि कहहु कृपा करि सोउ। तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखौं कोउ। १। १६६।' (भानुप्रतापने यह पूछा था)। और तुमने त्रैलोक्यका मंगल करनेवाली अति पावनी बात पूछी। यथा 'त्रैलोक्य पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं। ४। ३०।' (ग) 'सुक सनकादि संभु मन भावनि'—भाव कि जो शुक-सनकादि-शम्भुको प्रिय लगती है वही तुम्हें भी अच्छी लगी। इतने बड़े महापुरुषोंकी रुचि से तुम्हारी रुचि एक थी, कैसे कहें कि तुम्हें मोह था। जिसे मोह होता है उसकी रुचि बिगड़ जाती है, उसे कटु वस्तु कटु नहीं मालूम होती। यथा 'काम भुजंग डसत जब जाही। बिषय निंब कटु लगत न ताही।'

नोट—४ 'अति पावनि' के भाव पूर्व आ चुके। 'सुक सनकादि संभु मन भावनि'—सनकादिमनभावनि, यथा—'ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपतिचरित होइ तहँ सुनहीं'। समाधि बिसारकर सुनते हैं। शम्भुमनभावनि, यथा—'सिव प्रिय मेकलसैलसुता सी। १।३१।१३।' शकमनभावनीका बड़ा भारी प्रमाण यह है कि कृष्णपरक ग्रन्थ श्रीमद्भागवतमें 'महापुरुष' शब्द दो ही बार आया है और वह श्रीरामजीका ही विशेषण है दूसरे किसी के लिए इस विशेषणका प्रयोग नहीं हुआ। भा० ११, ५, यथा—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३३॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३४॥

सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एको बारा॥ ६॥
देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी। मैं रघुबीर-भजन अधिकारी॥ ७॥
सकुनधाम सब भाँति अपावन। प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जगपावन॥ ८॥

अर्थ—संसारमें सत्संग पलभर या दंडभर वा एक बारकाभी मिलना दुर्लभ पदार्थ है। ६। हे गरुड़! अपने हृदयमें विचार तो देखिए, क्या मैं रघुबीरके भजनका अधिकारी हूँ? अर्थात् नहीं हूँ। ७। पक्षियोंमें सबसे नीच पक्षी, सब प्रकारसे अपवित्र मैं, सो मुझको प्रभुने साक्षात् जगत्पावन कर दिया। यह जगत्प्रसिद्ध बात है। ८।

नोट—१ 'सतसंगति दुर्लभ०'—'रामकृपा बिनु सुलभ न सोई' बा० ३ (७) देखिये। दुर्लभता दूसरे चरणसेभी दिखाते हैं कि निमिष मात्रका भी हो जाय तो बहुत है, यथा—'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्संग। सुं० ४।' देखिये। क्योंकि वह मोक्षका मार्ग है, यथा 'संत संग अपबर्ग कर···पंथ।' और संतोंका मिलना कठिन है। यथा 'बिरले बिरले पाइए माया त्यागी संत। तुलसी कामी कुटिल कलि केकी काक अनंत। वै० सं० ३२।' अधिक मिल जाय तो बड़ा भाग्य समझना चाहिए; यथा 'मुख देखत पातक हरे, परसत कर्म बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत पूरब भाग मिलाहिं। वै० सं० २४।'

पं०—भाव यह कि अल्पकालके सत्संगका फल भी व्यर्थ नहीं जाता जैसे अल्प बीज भी पृथ्वीमें रहने पर जब कब अंकुर ले आता है।

नोट—२ 'मैं रघुबीरभजन अधिकारी' इति। (क)—यहाँ ऐसा भासित होता है कि श्रीरामकृपाका रूप हृदयमें आ गया है और वे उसमें मग्न होकर विदेह होकर ये वचन कह रहे हैं। (रा० प्र०)। (ख) भाव कि यह देह कुत्सित कर्मोंकी अधिकारी थी सो उसमें प्रभुने अपनी पावनी भक्ति स्थित कर दी, ऐसी पतितपावनता किसमें है ?—(वै०)। अधिकारी न होनेका कारण आगे स्वयं कहते हैं—'सकुनाधम सब भाँति अपावन'। भाव कि कौवा पक्षियोंमें चाण्डाल है, यथा—'सपदि होहि पच्छी चंडाला।' ऐसे अपावन नीच भ्रष्टको जगत्‌में पावन प्रसिद्ध कर दिया, यथा—'रघुपति दीन्ह बड़ाई मोही। ७०। ४।' देखो। हरिवाहनका आचार्य बना दिया।

वि० त्रि०—१ 'देखु गरुड़...' इति। (क) गरुड़का भाव कि आप भगवान्‌की विभूति हैं,...यथा 'वैनतेयश्च पक्षिणाम्' (गीता)। और मैं चाण्डाल हूँ। (ख) 'देखु निज हृदय बिचारी'—भाव कि क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच भूमिकायें चित्तकी हैं। इनमेंसे मूढ़ तो तमोगुणके समुद्रेकसे निद्रावृत्तिवाले होते हैं। क्षिप्तमें रजोगुणकी अधिकता होनेसे ये बहुत चंचल होते हैं। विक्षिप्तमें भी विक्षेप होनेसे भक्तिकी योग्यता नहीं होती। रह गए एकाग्र और निरुद्ध, इन्हींमें भक्तिकी योग्यता है। सबसे भय-भीत रहनेवाले मन्दमति कागको वह अधिकार कैसे हो सकता है जो मनुष्यको भी दुर्लभ है।

२ (क) 'सकुनाधम'—जिस वृक्षपर काग हो उसके नीचेसे लोग नहीं जाते, अपने घर पर उसे बैठने नहीं देते, उसका बोलना अशुभ समझा जाता है। उसको कोई पूछता नहीं। उसका मैथुन देखना बड़े भारी अनिष्टका द्योतक है। (ख) 'सब भाँति अपावन' अर्थात् जाति, आहार, बुद्धि, स्वभाव, रुचि तथा करणी सभी अपावन है। यथा—'पच्छी चंडाला', 'होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा', 'महामंदमति कारन कागा', 'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती', 'इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे।', 'तुलसी देवल देव को लागे लाख करोर। काग अभागे हगि भग्यौ महिमा भई कि थोर।' (ग) 'विदित जगपावन'—भाव कि सच्चे भावसे छल छोड़कर जो भगवान्‌का होकर रहता है वही जगपावन है। यथा 'सो सुकृती सुचिमंत सुसंत, सुजान सुसील सिरोमनि स्वै। सुर तीरथ तासु मनावत आवत, पावन होत है ता तन छ्वै॥ गुनगेह सनेह को भाजन सो, सबहीं सो उठाइ कहौं भुज द्वै। सतिभाय सदा छल छाड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीर को ह्वै।' (क०)। उन जगपावनोंमें मैं विदित हुआ। कहाँ मैं सुमेरु के नीलशैलका रहनेवाला कहाँ दूर दक्षिणमें भारतवर्षका कैलास पर्वत, वहाँतक मेरी प्रसिद्धि हुई। यथा 'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल इक सुंदर भूरी।'

दोहा—आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि संत-समागम दीन॥
नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ।
चरितसिंधु रघुनायक ❋ थाह कि पावै कोउ॥१२३॥

अर्थ—यद्यपि मैं सब प्रकारसे तुच्छ हूँ (वा सब विधियोंसे हीन हूँ) तो भी मैं आज धन्य हूँ, अति धन्य हूँ कि श्रीरामजीने मुझे अपना ख़ास जन जानकर संतसमागम दिया। हे नाथ! मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार कहा है, कुछ भी बात छिपा नहीं रक्खी। श्रीरघुनाथजीके चरित समुद्रवत् हैं। क्या उनका कोई पार पा सकता है ?। १२३।

नोट—१ 'आजु धन्य मैं' इति। पूर्व दोहा ५७ (५-७) में हम बता आये हैं कि 'पीपर तरु तर

❋ रघुबीर के—(गौड़जी)।

ध्यान जो धरई ।' इत्यादिमें श्रीभुशुण्डिजीकी दिनचर्या कही गई है। वे चिरजीवी हैं। उनका एक दिन एक एक चतुर्युगीका होता है। हमारा एक युग उनका एक पहर है। चतुर्थ पहर (कलियुग) में गरुड़जी कथाके समय आये। पूरा रामचरितमानस सुना और अपने प्रश्नोंके उत्तर पाये। यह सब उनके एक दिनके चतुर्थ प्रहरमें हुआ। इसीसे समाप्ति पर वे 'आजु' कहते हैं।

श्रीत्रिपाठीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'नीलगिरिपर कथा कहते-कहते जिसे सत्ताईस कल्प हुए उसका दिन २४ घंटेका मानव मानसे नहीं हो सकता। अतः यही सिद्ध होता है कि उनका दिन एक चतुर्युगीका होता था। कल्प=१००० चतुर्युगी।=$\frac{१०००}{३६०}$=$\frac{२५}{९}$ वर्ष भुशुण्डीजीके। २७ कल्प उनको हो चुके, इस हिसाबसे उनकी आयु $\frac{२५}{९}$×२७=७५ वर्षकी हो चुकी थी। ७६वाँ वर्ष चल रहा था जब गरुड़जी का सत्संग हुआ।

इससे यह भी अनुमित होता है कि गरुड़जी पूरे द्वापर भर मोहमें पड़े थे। गरुड़जीको त्रेतामें यह मोह हुआ, वहाँसे वे नारदजीके यहाँ गए, उन्होंने ब्रह्मलोक भेजा, वहाँसे कैलास आये। इसीमें द्वापर बीत गया। कलियुगके प्रारंभमें नीलगिरि आये।

नोट—२ 'आजु धन्य मैं धन्य अति०'। क्योंकि 'धन्य घरी सोइ जब सत्संगा'। लोग थोड़े सत्सङ्गसे ही धन्य होते हैं और इन्हें बहुत कालतक सत्सङ्ग मिला तथा अपनेको इस कृपाके योग्य नहीं समझते अतएव 'धन्य अति धन्य' कहा। जिस घड़ी, लव निमेषादिमें सत्सङ्ग हो वह घड़ी लवादि धन्य हैं, यह पूर्व कह आए और जिसको सन्तसङ्ग मिले वह भी 'धन्य अति धन्य है' यह यहाँ बताया। अर्थात् दोनोंको धन्य बताया। 'धन्य अति धन्य' इससे कि जो लवमात्रमें ही सुख प्राप्त हो जाता है वह सुख स्वर्ग और अपवर्ग अर्थात् भुक्ति और मुक्ति दोनोंसे कहीं अधिक है। ३—समागममें दर्शन, स्पर्श और सत्सङ्गवार्ता तीनों आ गईं', इसीसे दर्शन और स्पर्श न कहकर केवल 'समागम' अंतिम् शब्द यहाँ दिया।

रा० प्र०—'सब बिधि हीन' अर्थात् जाति, धर्म, ज्ञानादिसे हीन। ग्रन्थसमाप्तिमें दैन्यघाट (का) प्राधान्य जनाते हैं। [पुनः, लोक वेद सब विधिसे नीच; यथा—'लोक बेद सबही बिधि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा। राम कीन्ह आपन जब ही तें। भयेउँ भुवन भूषन तब ही तें।' (वि० त्रि०)] 'निज जन जानि०' का भाव कि प्रभुको 'सो प्रिय' है 'जाके गति न आनकी', अतः ऐसा जानकर आप ऐसे सन्तका समागम दिया। [मन्सा-वाचा-कर्मणासे जो दास होता है, वही 'निज दास' वा 'हरिजन' है। यथा 'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।५।१४।', 'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।', 'मन क्रम बचन रामपद सेवक...। देखि दसा निज जन मन भाए। ३। १०। २, १६।' (वि. त्रि.)] 'जथामति' इस प्रकार शिष्ट लोगोंकी रीति है, ग्रन्थमें इसके अनेक प्रमाण आ चुके हैं। ['जथामति' कहकर उसका कारण कहते हैं कि 'चरित सिंधु०'। विशेष भाव पूर्व आ चुके हैं। ४—'राखेउँ नहिं कछु गोइ' इति। जो पूर्व प्रारम्भमें कहा था कि 'पाइ उमा अतिगोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास। ६९।' उसे यहाँ चरितार्थ किया। इससे जनाया कि मेरी इतनी ही जानकारी है।]

सुमिरि राम के गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥ १॥
महिमा निगम नेति करि गाई। अतुलित बल प्रताप प्रभुताई॥ २॥
सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मोपर कृपा परम मृदुलाई॥ ३॥
अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके नाना गुणगणोंका स्मरण कर-करके बारंबार सुजान भुशुण्डिजी हर्षित हो रहे हैं। १। वेदोंने जिन श्रीरघुनाथजीके अतुलित बल, प्रताप और प्रभुताकी महिमा 'न इति' कहकर गायी है। २। जिन रघुनाथजीके चरण शिवजी और ब्रह्माजीसे पूज्य हैं (अर्थात् ये भी जिनकी पूजा करते हैं)

उनकी मुझपर परम कृपा ! यह उनकी परम कोमलता (मृदुल स्वभाव) है। ३। ऐसा स्वभाव न कहीं सुनता हूँ और न कहीं देखता हूँ। हे पच्छिराज ! मैं किसे रघुपतिके समान गिनूँ (अर्थात् कोई भी इस योग्य देखा सुना ही नहीं गया, समान कोई है ही नहीं)। ४।

नोट—१ 'गुणगण नाना' जैसे कि दोहा ९१ (१) से 'राम अमित गुनसागर' दोहा ९२ तकमें कहे हैं। २—'पुनि पुनि' का भाव कि जैसे-जैसे नए-नए गुणोंका स्मरण होता जाता है वैसे-वैसे पुलक-पर-पुलक होता जाता है। और भी कारण आगे कहते हैं जैसे श्रीजनकमहाराजने कहा है—'मोर भाग राउर गुन गाथा। कहि न खिराहिं सुनहु रघुनाथा'। कहाँ तो शिव अज ऐसे ईश्वरोंके स्वामी और वेदोंको भी अगम, इत्यादि, और कहाँ मैं तुच्छ !—'रामसों बड़ो है कौन मो सों कौन छोटो। वि. ७२।' यह प्रभुकी परम कृपा और मृदुल स्वभाव स्मरण करके कृतकृत्य हो रहे हैं, इसीसे 'पुनि पुनि हरष'। [गुणगण अर्थात् भक्तोंपर उपकार वा अपने ऊपर कृपालुतादिक। बारंबार प्रसन्नता अति रसके आस्वादनसे। (पं०)। श्रीरामजीके गुणगण ही ऐसे हैं कि उनका स्मरण होनेपर सहृदय बिना हर्षित हुए रह नहीं सकता। यथा 'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जाहि न पुलक तन सो जग जीवत जाय।' 'सुजाना' विशेषण देकर जनाया कि भुशुण्डीजी गुणग्राहक हैं, वाणी, भक्ति, भणिति, मति और गतिकी उनको पहचान है। यथा 'मैं गुनग्राहक परम सुजाना।' (वि. त्रि.)] ३—'अतुलित बल प्रताप प्रभुताई' का वर्णन दोहा ७८ से ९२ तकमें कर चुके हैं।

वि० त्रि०—१ (क) 'निगम नेति करि गाई' इति। नेति नेतिका अर्थ है कि न स्थूल न सूक्ष्म। अर्थात् ऐसी अपूर्व महिमा है कि वेद भी निषेध मुखसे वर्णन करता है, इदमित्थं कहकर शृंगिग्राही-न्यायसे कुछ नहीं कह सकता। (और भाव 'नेति नेति कह बेद। ६। ११६।' में देखिए)। (ख) 'अतुलित बल'—भाव कि जैसे उनकी महिमाका अन्त नहीं वैसे ही उनके बलकी भी नाप-जोख नहीं। यथा 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥...' सुं० २१ (४) से २१ तक।' (ग) 'प्रताप प्रभुताई'—सामर्थ्य होनेसे ही प्रताप होता है, पर प्रताप बलसे अलग काम करता है, समर्थ बलका प्रयोग कहीं-कहीं करता है, परन्तु उसका प्रताप रातदिन जहाँ वह नहीं है वहाँ भी काम किया करता है, यथा 'काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही। सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥', 'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई।'

२ 'सिव अज पूज्य...' इति। (क) 'चरन' एकवचन शब्द देनेका भाव कि दोनों चरणोंकी एक देव पूजा नहीं कर सकते, एककी पूजा शंकरजी करते हैं और एककी ब्रह्माजी। दोनोंकी पूजा तो केवल जनकनन्दिनीजी करती हैं। यथा 'कोसलेंद्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्यमनभृङ्गसंगिनौ।' (ख) 'रघुराई चरन' का भाव कि इन चरणोंने सदा भक्तोंके लिये कष्ट उठाया है, जिन चरणोंमें चक्रवर्तीके चिह्न हैं उन चरणोंमें भक्तोंके लिये बनमें घूमते हुए काँटे गड़े, ऐसी कृपा किसीके चरणोंमें नहीं है। यथा 'ध्वज कुलिस अंकुस कंजयुत बन फिरत कंटक किन लहे।' (ग) 'कृपा परम मृदुलाई'—सत्संग दिया यह परम कृपा है और मोहके मिष सन्तको ही मेरे यहाँ कथा सुननेको भेज दिया यह मृदुता है, जिससे मुझे मालूम भी न हो कि मेरे ऊपर कृपा हो रही है।

नोट ४—'अस सुभाउ'-यह कि इतनी बड़ी साहिबीमें ऐसे सावधान हैं, इतने बड़े होकर इतने छोटे पर कृपा। यथा 'हरिहरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकी-पति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई॥ ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंट्यो केवट उठि॥ भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सनेह सिथिल सरीर सों। सुर सिद्ध मुनि कबि कहत कोउ न प्रेमप्रिय रघुबीर सों॥ खग सबरि निसिचर भालु कपि किये आपु तें बंदित बड़े। तापर तिनकी सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े॥ स्वामीको सुभाउ कह्यो...। वि० १३५।', वि० १०० 'सुनि सीतापति सील सुभाउ।' पूरा पद देखिए।

उद्धरण पूर्व आ चुके हैं। 'केहि लेखौं' अर्थात् मैं तो जानता नहीं आप जानते हों तो बतायें। उनके समानके लिये जिज्ञासा ही रह गई।

☞ मिलान कीजिए—'भरत भाग्य प्रभु कोमलताई'। 'न तस्य प्रतिमास्ति' 'यस्य नाम महद्यशः', 'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।' पूर्व अत्रिजीने जो कहा है—'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई' उसीको यहाँ प्रश्नात्मक करके कहते हैं—'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ।' इससे दिखाया कि श्रीरघुनाथजी और उनका स्वभाव दोनों अद्वितीय हैं।

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद कृतज्ञ संन्यासी॥ ५॥
जोगी सूर सुतापस ज्ञानी। धर्मनिरत पंडित बिज्ञानी॥ ६॥
तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥ ७॥
सरन गए मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥ ८॥

अर्थ—साधक, सिद्ध, विमुक्त (जीवन्मुक्त), उदासीन (शत्रुमित्र-भावरहित), कवि 'काव्य करनेवाले तथा सर्वज्ञ), कोविद, कृतज्ञ (जो कृत कर्त्तव्य क्या है उसके ज्ञाता हैं), संन्यासी, योगी, शूरवीर, बड़े तपस्वी, ज्ञानी, धर्मपरायण, पंडित और विज्ञानी भी विना मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा किये तर नहीं सकते। मैं उन रामजीको नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ (मेरा उनको बारंबार प्रणाम है। ५-७। जिनकी शरणमें जानेसे मुझ ऐसे पापराशिभी शुद्ध हो जाते हैं उन अविनाशी रामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ। ८।

शब्दार्थ—साधक=अणिमादिक सिद्धियोंकी प्राप्तिमें लगे हुए। सिद्ध=अणिमादिक सिद्धियाँ जिनको प्राप्त हैं। विमुक्त=जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त—(करु०)। उदासी=शत्रु, मित्र और मध्यस्थ सबमें समान भाव रखनेवाला। =जिसने घरबारकी ममता छोड़ दी हो=(वि. त्रि.)। जैसे शुक सनकादि—(करु०)। कवि=काव्य करनेवाले; सर्वज्ञ। कोविद=भाष्यकर्ता—(वै०)।=व्यवहारोंमें दक्ष—(पं०)।=विवेकी—(वि. त्रि.)। =कृतविद्य, जैसे बृहस्पति, शेष, शारदा (करु.)। कृतज्ञ=त्रिकालदर्शी तथा औरोंकी कृतको अच्छी तरह जाननेवाले। (करु०)। योगी=अष्टाङ्गयोग सिद्ध—(करु०)।=अविद्यारात्रिमें जागनेवाला, विषयोंसे वैरागी—(वि. त्रि.)। सूर=जो प्राण भी दे देनेमें संकोच न करे, सूर्यमंडलको वेधकर जानेवाला—(रा. प्र.)।=खड्गशूर, दानशूर, धर्मशूर—(करु०)। तापस—उपवासादि करनेवाला। धर्मनिरत = अपने-अपने वर्णाश्रम धर्ममें तत्पर रहनेवाला। पंडित=सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता। (विवेकात्मिका बुद्धिवाला) और चराचरमें परमेश्वर बुद्धि रखनेवाला—(करु०)।=परमार्थ जाननेवाला; यथा 'तुम्ह पंडित परमारथ ज्ञाता।'—(वि० त्रि०)। विज्ञानी=ब्रह्मलीन।

पं०—१ भुशुंडीजी ऊपर यह कहकर कि प्रभुपर मेरा तो परम विश्वास है पर सभी प्राणियोंका उन्हींके चरणारविन्दसेवनसे कल्याण है, यह कहते हुए अन्तमें नमस्कारात्मक मंगल करते हैं।

नोट—१ प्रभुने भुशुण्डीजीसे कहा था कि सब जीव मुझे सामान्य रीतिसे प्रिय हैं जैसे सब पुत्र पिताको प्रिय होते हैं। वहाँ पर प्रभुने—द्विज, श्रुतिधारी, निगमधर्मानुसारी; विरक्त, ज्ञानी, विज्ञानी, पंडित, तापस, ज्ञाता, [१०]धनवन्त, शूर[११], दाता[१२], सर्वज्ञ[१३], धर्मरत[१४],—इतनोंको सामान्य प्रिय कहा है,—[८६ (५-७) और ८७ (२-३)] उन्हींको यहाँ भुशुण्डीजी गिनाकर बताते हैं कि यद्यपि वे सबभी प्रभुके पुत्रही हैं पर उनमें प्रभुकी भक्ति नहीं है इससे वे भवसे नहीं छूटते। यहाँ ज्ञानी, विज्ञानी, पंडित, सुतापस, शूर, धर्मनिरत तो स्पष्ट वही हैं। वहाँ जो 'निगमधर्मानुसारी, श्रुतिधारी और द्विज' हैं वह यहाँ 'कृतज्ञ (जो अपने कृत्यको यथार्थ जानता है), कोविद, विमुक्त, उदासी, सन्यासी' में आगए, क्योंकि वर्णाश्रमधर्म वेदधर्म हैं।

वहाँके धनवंत[२०], दाता[२२] यहाँके साधक, सिद्ध एवं धर्मनिरतमें आ सकते हैं। वहाँ सर्वज्ञ वही यहाँ कवि। कविका अर्थ सर्वज्ञभी है।

वि० त्रि०—'तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी' इति। भाव कि साधकसे लेकर विज्ञानी तक चौदहोंकी सिद्धि रामभक्तिपर निर्भर है। साधक सिद्धके ग्रहणसे विषयीकाभी ग्रहण हो चुका, सिद्धिभी दिव्य भोग होनेसे विषय ही है। अतः ये तो भव-संतरणके लिये प्रयत्न करनेवालेही नहीं। किसीको शत्रु-मित्र न माननेवाले उदासीनका मन निरवलम्ब हो जानेसे उसे सिवा भगवच्चरणोंमें चित्त लगानेके कोई चारा नहीं; यदि उसने न लगाया तो उसकी भी उदासीनता टिक नहीं सकती, उसकी मनः प्रवृत्ति शीघ्रही विषयकी ओर हो जायगी। कवि और कोविदकी चित्त प्रवृत्ति यदि हरिचरणोंमें न लगी तो उनकी कवित्व शक्ति और विवेकका प्रयोग सांसारिक विषयोंमेंही होता रहेगा। भगवानके कृत देखनेसे भगवानके प्रति अनुराग होगा, यथा 'उर आनहि प्रभु कृत हित जेते। सेवहि ते जे अपनपौ चेते। वि० १२६।' और यथार्थ संन्यासी रामानुरागीही हो सकता है, यथा 'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़ भागी।' योगी अविद्या-रात्रिमें सोता नहीं, उससे बेखबर नहीं होता, विषय-विलाससे विरक्त रहता है। मन कहीं न लगानेसे निद्रा आती है, अतः जागनेके लिये काम चाहिए। वह काम है रामभजन, यथा 'नाम जीह जपि जागहिं जोगी।' भजन बंद हुआ कि निद्रा आई। शूरके समरमें मरनेसे स्वर्ग मिलता है। परन्तु स्वर्गसे पतन होता है। अतः प्राण देनेपर भी संसारीही रह गए। वही शूरता यदि भगवान्‌के लिये हो तो जीने और मरने दोनोंही अवस्थाओंमें मुक्ति करतल है। यथा 'तजउँ देह रघुनाथ निहोरे। दुहू हाथ मुद मोदक मोरे।' तप यदि भगवत्प्रीत्यर्थ न हुआ तो विषयप्रीत्यर्थ होगा, यथा 'हम काहूके मरहिं न मारे।' धर्मनिरत धर्मको प्रभुका अनुशासन समझकर करे तो सेवक ही है, यथा 'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई।' ज्ञानी ब्रह्मको ही सबमें समान देखता है और पंडित विज्ञानी तो राम ब्रह्ममें लीन रहताही है।

उपर्युक्त कोई भी विना रामभक्तिके भवसागर तर नहीं सकता, मायाके वशमें आही जाते हैं। अतः ईश्वर-कृपाके लिये भक्ति परम आवश्यक है।

खर्रा—'राम नमामि नमामि नमामी' यह कथाके सम्पूर्ण (समाप्तिके) समय 'मो' (में) नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया। 'जासु नाम भवभेषज०', यह आशीर्वादरूप मङ्गलाचरणमें समाप्ति की।

नोट—२ बार बार प्रणाम करनेका भाव कि ईश्वर और गुरुको एक बार प्रणाम नहीं करना होता। अथवा, परमेश्वरका प्रत्युपकार किया नहीं जा सकता, अतः कृतज्ञतावश बार-बार नमस्कार करते हैं। (वि० त्रि०)। अथवा मन, वचन और कर्म तीनोंसे प्रणाम जनाया। वा, तीनोंकालोंमें, त्रिलोकमूर्तिको, त्रिदेव मूर्तिको वा वेदत्रयरूपको प्रणाम सूचित करनेके लिये तीन बार प्रणाम किया। (पं०)

३ 'सरन गये मोसे···' इति। यथा 'मम पन सरनागत भय हारी। ५। ४३। ८।···कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ ५। ४४। १, २।' 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना। ५। ४८। ३।' 'अविनाशी' का भाव कि जो स्वयं नाशवान् है उसमें यह सामर्थ्य नहीं हो सकती। अविनाशीके प्रणामकी महा महिमा है, अतः उसीको प्रणाम करते हैं। यथा 'रामप्रनाम महामहिमा खनि सकल सुमंगल मनि जनी। होइ भलो ऐसेही अजहूँ गये रामसरन परिहरि मनी॥ भुजा उठाइ साखि संकर करि कसम खाइ तुलसी भनी। मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगलको खनी। (गी०)' (वि० त्रि०)।

नोट—४ ☞ यहाँ एकबार 'राम नमामि नमामि नमामी' कहकर फिर दूसरी अर्धालीमें पुनः प्रणाम किया है। पहले प्रभुका ऐश्वर्य स्मरण करके तीन बार प्रणाम किया 'नमामि नमामि नमामी'—हमारे स्वामी कैसे हैं कि साधक, सिद्ध, विमुक्त इत्यादिभी बड़े महात्मा यदि चाहें कि अपने बल पुरुषार्थसे भवपार हो जायँ तो असम्भव है—बड़े बड़ोंके लिये ऐसे दुर्लभ। और वही महापापी पापमूर्तिके लिए कैसे

सुलभ हैं कि शरणमात्रसे पवित्र कर देते हैं। पहले वह प्रभुता स्मरणकर बारम्बार प्रणाम किया और फिर उनका पतितपावन एवं सौलभ्यगुण समझकर फिर प्रणाम किया। दूसरी बार एकही बार 'नमामि' कहकर जनाते हैं कि प्रभु महापातकीको 'सकृत प्रनाम किये' अपना लेते हैं। 'मोसे अघरासी'=मुझ ऐसे पापराशिको। भाव कि मेरे समान दूसरा पापात्मा नहीं।☞जब भक्त प्रभुकी अपार शक्तिमत्ताका विचार करता है तब वह अपनेको इसी तरह बिलकुल नीचे गिरा हुआ पाता है।

यहाँ दिखाते हैं कि उपर्युक्त-गुणसम्पन्न महात्मा होनेपरभी विनाभक्तिके उनके गुणोंका कुछ आदर नहीं होता और एक सकलगुणरहित अन्त्यजभी शरणमात्रहोनेसे परम प्रिय है।

नोट—५ 'साधक सिद्ध···तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी।' इत्यादिसे मिलते जुलते भावका श्लोक श्रीमद्भागवतमें यह है—'तपस्विनोदानपरायशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ भा० २।४।१७,१८।' अर्थात् बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, कीर्तिमान् मनस्वी और सदाचार-परायण मन्त्रवेत्ता भी अपने-अपने कर्मोंको जिन्हें अर्पण किये विना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते उन पुण्यकीर्ति भगवान्को बारंबार नमस्कार है। किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा और भी पापी लोग जिनके भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे पवित्र होजाते हैं उन पुण्यकीर्ति भगवान्को बारंबार नमस्कार है।

दोहा—जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रयसूल। ❀
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहौ अनुकूल॥
सुनि भुसुंडि के बचन सुभ देखि रामपद नेह।
बोलेउ प्रेमसहित गिरा गरुड़ बिगत संदेह॥ १२४॥

अर्थ—जिसका नाम भवरोगकी औषधि और महाभयङ्कर त्रयः शूलोंका हरण करनेवाला है, वह कृपाल मुझपर और तुमपर सदा अनुकूल रहें। भुशुण्डीके शुभ वचन सुनकर और उनका श्रीरामपद-प्रेम देखकर गरुड़जी, जिनका संदेह बिलकुल जाता रहा है, प्रेमसहित सन्देहरहित बचन बोले। १२४।

नोट—१ 'जासु नाम भव भेषज॰'। यथा—'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं', 'तव नाम जपामि नमामि हरी। भवरोग महागद मान अरी।' (शिवकृतस्तुति)। 'हरन घोर त्रयसूल' यथा—'जासु नाम त्रयताप नसावन'। [आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक तापको यहाँ शूल कहा है। तामसिक और राजस वृत्तियाँ ही क्रमशः मूढ़ा और घोरा कहलाती हैं। ताप तो तामसिक वृत्तिमें भी होता है, पर शूलका कारण घोरा वृत्ति

❀ रा० प० में काशीका पाठ 'हरन ताप त्रयसूल। सो कृपाल मोहि तोहिपर सदा रहहु अनुकूल' है। पं. रामगुलामद्विवेजीकी पोथीमें 'हरन ताप त्रयसूल। सो कृपाल मो पर सदा रहहु राम अनुकूल', यह पाठ है। और भा. दा. में 'हरन घोर त्रयसूल। सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहौ अनकूल' पाठ है।

'ताप त्रयसूल' का अर्थ 'त्रयताप (दैहिक दैविक भौतिक ताप) और त्रयसूल' [जन्म जरा मरण और गर्भादिके क्लेश—(रा. प्र.)] अथवा 'तीनों तापोंकी पीड़ा'—(वीर), किया गया है। और 'घोर त्रयसूल' का अर्थ 'भयङ्कर तीनों प्रकारके शूल' किया जाता है। 'त्रयसूल' कौन हैं। त्रयसूल (= त्रयः शूल) में अनेक प्रकारके समस्त शूलोंका भाव आजाता है—'त्रयः शूलनिर्मूलिनं शूलपाणिं'। 'मोपर सदा रहहु राम अनुकूल' का भाव कि आप पर तो अनुकूल हैं ही; यथा 'कृपापात्र रघुनायक केरे।' आपके आगमनसे मुझे 'अभिमान' उत्पन्न न हो, इसलिये प्रार्थना करताहूँ कि सदा अनुकूल रहें।

ही है। इसलिये घोर 'त्रयसूल' कहा। भवभेषज कहकर मूढ़ा वृत्तिका नाश कहा और अब घोरा वृत्तिका नाश कहते हैं। भगवन्नाम मूल सहित घोर त्रयतापका नाशक है। (वि० त्रि०)]

☞ यहाँ भुशुण्डीजीका कथन समाप्त हुआ।

२ (क) 'बचन सुभ'—श्रीरामयशमिश्रित, दैन्य, विनीत, सप्रेम, श्रुतिसिद्धान्त, श्रीरामभक्तिरससाने संशय-खण्डन-हारी आनन्द देनेवाले तथा श्रोता वक्ता दोनोंके लिये आशीर्वादसे युक्त इत्यादि होनेसे 'सुभ' विशेषण दिया। (ख) 'देखि रामपदनेह'। प्रेमकी दशा देखी, यथा—'पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना', 'राम नमामि०' इत्यादि। मन, कर्म और वचन तीनोंका प्रेम दिख रहा है। तीनों तरहका प्रेम देखा।

रा० प्र०—'मोहि तोहि' यहाँ वक्ताश्रोता उपलक्षक है—(पं०)। अनुकूल=प्रसन्न। 'दाहिनकी वैदिक शान्ति पाठकी यही रीति है।'

मैं कृतकृत्य भएउँ तव बानी। सुनि रघुबीर भगति रस सानी॥ १॥
रामचरन नूतन रति भई। माया-जनित बिपति सब गई॥ २॥

अर्थ—रघुबीर श्रीरामजीके भक्तिरसमें सनी हुई अर्थात् रामभक्तिमय आपकी वाणी सुनकर मैं कृतकृत्य होगया। १। श्रीरामजीके चरणोंमें नवीन प्रीति हुई और सब विपत्ति जो मायासे उत्पन्न हुई थी वह जाती रही। २।

नोट—१ (क) भुशुण्डीजीने कथाकी इति 'जासु नाम भव भेषज। १२४।' पर की। इसके आगे अब शिवजी भुशुण्डि-गरुड़-संवाद-प्रकरणकी इति लगाते अर्थात् उपसंहार कहते हैं। (ख) कृतकृत्य=धन्य अति धन्य, कृतार्थ एवं सफलमनोरथ।—[कृतकृत्य—कर्मक्रियासंपादित। भाव कि जिस हेतु श्रीशंकराज्ञासे आपतक आया वह अभिलाषा पूरी हो गई। (रा. प्र.)। 'तव बानी' का भाव कि नारदजीकी वाणी सुनी, शंकरजीकी सुनी, पर मैं कृतकृत्य न हो सका; कृतकृत्य तो आपकी ही वाणीसे हुआ॥ (वि. त्रि.)] (ग) 'बानी रघुबीरभगतिरससानी' कहा, क्योंकि साधारण प्रश्नके उत्तरमें भी श्रीरघुनाथजीकी भक्तिका बराबर वर्णन आया है। जैसे कि 'सब से दुर्लभ कवन सरीरा' का उत्तर देकर साथ ही यह भी कहा कि 'सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंदमंदतर'। इसी तरह मानसरोगोंको बताकर फिर साथ ही उनकी दवा एकमात्र श्रीरामभक्ति विस्तारसे कही। सप्त प्रश्नोंके उत्तर ३४ अर्धालियोंमें और दो दोहोंमें समाप्त हो जाते पर उनके साथ ही ५ दोहों और एक श्लोक और ३४ अर्धालियोंमें रामभक्तिका ही प्रतिपादन करते हुए सम्वादकी समाप्ति की गई। [पुनः भाव कि विना भक्ति रससानी वाणीके विश्वास नहीं होता। भगवती श्रीजनकनन्दिनीजीको मुद्रिका पानेपरभी विश्वास नहीं हुआ, पर श्रीहनुमानजीकी सप्रेमवाणी सुननेपर विश्वास हुआ। यथा 'कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।' (वि. त्रि.]।

२ (क) 'नूतन रति भई'। भाव कि श्रीरामपदप्रेम पूर्व भी था पर वह नागपाश देखकर चला गया था; अब फिर हुआ। पूर्व कथा सुन चुकने पर कहा था कि 'भएउ रामपदनेह' और यहाँ कहते हैं कि 'नूतन रति भई'। भाव कि कथा सुनकर प्रेम हुआ और अब 'रति' अर्थात् दृढ़ भक्ति, दृढ़ अनुराग हुआ और वह भी 'नूतन' जैसी पूर्व कभी न थी। (प्र. सं.)। अनुपम सुखमूलाभक्ति आपके आशीर्वादसे मेरे हृदयमें प्रकट हुई। यथा 'रामभगति अनुपम सुखमूला। मिलै जो संत होइ अनुकूला।' (वि. त्रि.)। (ख) 'माया-जनित'—मोह भ्रम संशय इत्यादि सब मायासे उत्पन्न होते हैं, यह पूर्व दिखा आए हैं और आगे गरुड़जी स्वयं इसे स्पष्ट करते हैं। [भाव यह कि अविद्यासे उत्पन्न अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये चारो क्लेश चले गए। भक्ति चिन्तामणिकी प्राप्तिके पश्चात् मोह-दरिद्र उसके निकट नहीं आता, लोभकी कलायें नहीं चलतीं, कामादि दूर भागते हैं, मानसरोग व्यापते ही नहीं, अतः विपत्ति सब चली गई। (वि० त्रि०)] (ग) शिवजीने जो जो बातें कहीं वे सब हुईं—

बिनु सतसंग न हरि कथा	१ रामकृपा तव दरसन भयऊ
तेहि बिनु मोह न भाग	२ तव प्रसाद सब संसय गयऊ
जाइहि सुनत सकल संदेहा	३ गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित
मोहगए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग	४ भयउ रामपदनेह तव प्रसाद० ६८
रामचरन होइहि अति नेहा	रामचरन नूतन रति भई १२४
जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी	५ अब श्रीरामकथा अति पावनि।...अति विचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई
होइहि मोहजनित दुख दूरी	६ माया जनित बिपति सब गई
सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर	७ वृद्ध वृद्ध बिहंग तहँ आए। इत्यादि

मोह-जलधि बोहित तुम्ह भए*। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए॥ ३॥

मो पहिं† होइ न प्रति-उपकारा। बंदौं तव पद बारहिं बारा॥ ४॥

अर्थ—आप मुझको मोहसमुद्रमें (डूबते हुएसे बचानेके लिए) जहाजरूप हुए। हे नाथ! आपने मुझे बहुत प्रकारके सुख दिये। ३। मुझसे प्रत्युपकार (उपकारके पलटेमें आपके साथ उपकार) नहीं हो सकता, मैं आपके चरणोंकी बारंबार वन्दना करता हूँ। ४।

वि० त्रि०—'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए' इति। भाव कि सद्गुरु तो कर्णधारमात्र होता है, जहाज तो अपने शरीरको बनाना पड़ता है। सद्गुरुके कथनानुसार परिश्रम करना पड़ता है। यथा 'नरतनु भवबारिध कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो। करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा। जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ। सो कृतनिंदक मंदमति आतमहनि गति जाइ। ४४।'; पर आप तो मेरे लिये जहाज हो गए, मुझे कुछ करना न पड़ा, आपके उपदेशमात्रसे मोह दूर हो गया।

'मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए' इति। ज्ञान, विवेक, विरति, विज्ञान तथा मुनिदुर्लभ गुण ये ही सुख हैं। यथा 'ग्यान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।...प्रभु कह देन सकल सुख सही। ८४। १, ४।' वैषयिक क्षुद्र सुखोंकी गिनती सुखमें नहीं, वस्तुतः वे दुःखके अन्तर्भूत हैं। इन पाँचों सुखोंको आपने दिया।

नोट—१ 'बिबिध सुख दए'। विचित्र बिबिध प्रकारकी कथा सुनाकर, फिर अपनी ओरसे श्रीरघुनाथजीका स्वभाव, उनका प्रताप, ऐश्वर्य, भक्तवात्सल्यादि गुण, इत्यादि बखानकर, उनमें मोह होनेका कारण इत्यादि बताकर, प्रभुका परम मनोहर रहस्य कहकर, ज्ञान और भक्तिका निरूपण करके, अपने सम्बन्धी प्रश्नोंका उत्तर देकर, सप्त प्रश्नोंका उत्तर देकर, इत्यादि अनेक प्रकारका तथा अनेक बार सुख दिया। प्रत्येक प्रसंगके अन्तमें गरुड़का प्रेम और हर्ष दिखाया गया है। मोह, भ्रम, संशय, मायाजनित समस्त क्लेश एवं शोक दूर होनेसे सुख हुआ, रामरहस्य जानकर सुख हुआ, श्रीरामपदमें दृढ़ प्रेम होनेसे सुख हुआ, सन्तदर्शन समागमसे सुख हुआ—'तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा। ११५ (६-७) देखिए।

रा० प्र०—'होइ न प्रति उपकारा' अर्थात् मैं आपका ऋणी बना हूँ। 'बारंबार प्रणाम' अति कृतज्ञता और प्रेमका सूचक है।

नोट—२ 'होइ न प्रत्युपकारा' कथनमें भाव यह है कि कोई अपने साथ उपकार करे तो उसका प्रत्युपकार करना सनातन धर्म है। बदलेमें समान मूल्यका द्रव्य देना चाहिए, अल्पमूल्यका द्रव्य देना ठगना है। पर इस भक्ति चिन्तामणि जैसी अमूल्य मणिके बदलेमें देने योग्य कोई वस्तु नहीं है, अतः मैं प्रत्युपकार नहीं कर सकता। ऋणीका ऋण चुकाना यदि असाध्य हो, तो उचित है कि धनीसे प्रार्थना करके क्षमा माँगे और उसका दास होकर रहे। अतः गरुड़जी स्पष्ट कह रहे हैं कि 'मो पहिं...तव पद बंदउँ बारहिं बारा।' (वि. त्रि.)।

* भयऊ, दयऊ—(का०)। † पर—(का०)।

नोट—इसी प्रकार जीव गर्भके भीतर भगवान्‌से कहता है कि आप अपने किए हुए उपकारसे सन्तुष्ट हों, मैं सिवाय हाथ जोड़नेके और क्या कर सकता हूँ ? भा० ३। ३१ 'येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन। स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥ १८ ॥'

पूरनकाम राम अनुरागी। तुम्ह सम तात न कोउ बड़भागी ॥ ५ ॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी ॥ ६ ॥

अर्थ—आप पूर्णकाम (जिसको किसी प्रकारकी कामना नहीं रह गई है। सर्वकामना-पूर्ण) और पूर्णकाम श्रीरामजीके अनुरागी हैं। ५। हे तात! आपके समान कोई बड़भागी नहीं है। सन्त, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथ्वी इन सबकी करनी पराये उपकारके ही लिए होती है। ६।

नोट—१ पूर्णकाम; यथा—'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं। ११४। ४।' यह आशीर्वाद सुनही चुके हैं; अतः कहते हैं कि आपको किसी वस्तुकी कमीही नहीं तब आपको कोई क्या दे सकता है ? पूर्णकाम कहकर रामानुरागी कहनेका भाव कि पूर्णकाम हैं, क्योंकि श्रीरामजीके अनुरागी हैं, यदि किसीको कामना है तो वह रामानुरागी नहीं हो सकता, यथा 'सुमिरत रामहिं तजहिं जन तृन सम बिषय बिलास। २। १४०।' और 'रामानुरागी' कहकर तब 'बड़भागी' कहा, क्योंकि श्रीरामचरणसे जिनका संबंध है, वे ही बड़भागी कहे गए हैं—१। २११ छन्द 'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी…', ३। १०। २१ 'प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी' देखिए। 'तुम्ह सम न कोउ बड़भागी' का भाव कि जितने भी बड़भागी होगए हैं उन सबोंसे आप अधिक बड़भागी हैं, आपके समान बड़भागी कोई नहीं है। इसी तरह भगवान् शंकरने श्रीहनुमान् जीके सम्बन्धमें कहा है कि 'हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ रामचरन अनुरागी। ५०। ८। गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार-बार प्रभु निज मुख गाई। ९।'

पं०—'पूरनकाम०'—अर्थात् निष्काम होकर श्रीराममें प्रेम करते हो अतः कोई आपके समान बड़भागी नहीं और निष्काम होकर परोपकार करना यह सन्तोंमें आश्चर्य्य नहीं, यह तो उनका सहज स्वभाव है।

करु०—भाव कि श्रीरामानुरागी हो अतः बड़भागी हो। जो आपने कृपा करके मुझे इतना सुख दिया तो कोई आश्चर्य्यकी बात नहीं क्योंकि वेदशास्त्र कहते हैं कि 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी।०'।

नोट—२ 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी।०'—संतका सहज स्वभाव ऊपर कह आए हैं। सरितामें चींटीसे लेकर हाथी तक, छोटेसे लेकर राजा, ऋषि इत्यादि तक कोईभी जाय सबको वह जल पेटभर देती है। वृक्षोंमें फल लगते हैं सो वे दूसरोंकोही खिला देते हैं, छायाका सुखभी दूसरोंको, इत्यादि। पर्वतमें रत्न होते हैं; वहभी राजा आदिके काम आते हैं, पत्थर मंदिरों इत्यादिके काम आते हैं। पृथ्वीका नामही क्षमा है, फिर वह अन्न, रस, औषधि इत्यादि देती है। यथा—'परहित नित सह बिपति बिसाला', 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' 'पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः। नादंति सस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतां विभूतयः ॥ सु. र. भा. रत्नाकरः किं कुरुते स्वरत्नैर्विन्ध्याचलः किं करिभिः करोति श्रीखण्डखण्डैर्मलयाचलः किं परोपकाराय सतां विभूतयः ॥'

वि० त्रि०—'संत बिटप…' इति। भाव कि विटप, सरिता, गिरि और धरणीकी जड़ करणी है। ये सुख दुःखका विना विचार किये सबके काम आते हैं। यही गति सन्तोंकी भी है। इनकी भी जड़ करणी है। यथा 'संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी। काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई। ३७। ७,८।' इस प्रकार दूसरेके हितके लिये दुःख सहनेवाला सिवा सन्तके कोई चेतन पदार्थ नहीं हो सकता। 'परहित हेतु सबन्हकै करनी' कथनका भाव कि आपको प्रत्युपकारकी न इच्छा है और न कोई आपका प्रत्युपकार कर सकता है। विटपादिके सब उपकृत हैं, कोई इनका प्रत्युपकार करना

चाहे तो सिवा प्रणाम करनेके और क्या कर सकता है ? संत बिटप आदिमें सन्तके प्रथम उल्लेखका कारण आगे कहते हैं—'संत हृदय…' ।

प. प. प्र.—जैसे विचारमान पाणिनिने श्वान, मघवान और युवानको एक सूत्रमें रक्खा, वैसेही यहाँ कविने संतोंको जान-बूझकर जड़ोंकी पंक्तिमें बिठाया है । भाव यह कि चारों जड़ोंमें जो सद्गुण हैं वे सब सन्तोंमें हैं और इनके अतिरिक्त और भी बहुत गुण हैं । यह एक बिस्तृत स्वतंत्र लेखका विषय है ।

रा० शं०—भुशुण्डिजी सन्त हैं, यथा—'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही'। परोपकारियोंमें इनको सबसे बढ़कर जानकर प्रथम इन्हींको कहा ।—

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह परि कहै न जाना ॥ ७ ॥
निज परिताप द्रवै नवनीता । परदुख द्रवहिं संत * सुपुनीता ॥ ८ ॥

अर्थ—'संतका हृदय मक्खनके समान है' ऐसा कवियोंने कहा है पर (कैसा) कहना (चाहिए यह) उन्होंने न जाना (अर्थात् उनसे समानताका उदाहरण कहते न बन पड़ा, उन्होंने ठीक उपमा नहीं दी, क्योंकि) । ७ । मक्खन तो अपनेको ही ताप मिलनेसे पिघलता है और परमपुनीत संतजन पराये दुःखसे (दुःखको देखकर) द्रवीभूत होते हैं । ८ ।

नोट—१ यहाँ व्यतिरेक अलंकार है । उपमानसे उपमेयमें अधिक गुण है । मक्खनसे अधिक कोमल संतहृदय है । 'केवलरामजी' की कथा भक्तिरसबोधिनीटीका भक्तमालमें प्रसिद्ध ही है कि बैलके 'सोंटा' मारा गया और पीठपर बरत (सोंटेके चिह्न) इनके पड़ आए—ऐसा कोमल हृदय । कथनका तात्पर्य्य यह है कि वस्तुतः नवनीतमें और इनमें समानता नहीं है । 'कोमलता' धर्म उपमेय उपमानमें एकसा न होनेसे उपमामें दोष है ।—[पं०-भाव कि कवि सन्तोंके हृदयकी क्या जाने जैसे योद्धाके हृदयकी ढाढ़ी क्या जाने ?]

वि० त्रि०—१ (क) 'संत हृदय'—भाव कि विटप, सरिता, गिरि और धरणी जड़ होनेसे हृदय-हीन हैं, सुख-दुःखका अनुभवभी इन्हें जड़ताके तारतम्यानुसार न्यून होता है, परन्तु सन्त जो कुछ करते हैं वह हृदयकी कोमलताके कारण करते हैं । अतः ये सबसे बड़े हैं । (ख) 'कहै न जाना'—भाव कि उपमा देने चले, यह न जाना कि यह विषय वर्णनातीत है । यथा 'कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद-पंकज गहे ।' कही वही वस्तु जाती है जिसके समान कोई दूसरी वस्तु भी हो । उपमा उपमेयमें समान धर्म होना चाहिए, सो यहाँ धर्ममें समानता ही नहीं है ।

नोट-२ निज परिताप द्रवै०' । भाव कि मक्खनमें कोमलता अपने लिये है, दूसरेके परितापसे मक्खनमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, वह नहीं पिघलता, जब स्वयं अग्निपर तपाया जाता है तभी पिघलता है, अपने दुःखसे दुःखी होना यह गुण तो दुष्टोंमेंभी है; अतएव उसकी प्रशंसा ही क्या ? सन्त अपने दुःखसे दुःखी नहीं होते, उसे तो वे सह लेते हैं; यथा 'खल के बचन संत सह जैसे । ४ । १४ । ४ ।' पर पर-विपत्ति देख सह नहीं सकते, व्याकुल हो जाते हैं । यथा 'नारद देखा बिकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता ।३।२। ६।', 'पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाउ खगराया ॥ संत सहहिं दुख परहित लागी । १२१ । १४-१५ ।', 'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । १ । २ । ६ ।' मक्खन जाड़ेमें कड़ा और सदैव दयालु कोमल । यथा 'सज्जनस्य हृदयं नवनीतं यद्वदन्ति कवयस्तदलीकम् । अन्यदेहविलसत्परितापात्सज्जनो द्रवति नो नवनीतम् ॥ सु० र० भा० ।'

जीवन जन्म सुफल मम भएऊ । तव प्रसाद संसय सब गएऊ ॥ ९ ॥
जानेहु सदा मोहि निज किंकर । पुनि पुनि उमा कहइ बिहंगबर ॥ १० ॥

* सुसंत पुनीता ।

अर्थ—मेरा जीवन और जन्म दोनों सफल हुए। आपकी कृपासे सब संशय दूर होगया। ९। 'मुझे सदैव अपना दास जानिएगा'—हे उमा! पक्षिश्रेष्ठ गरुड़ बारंबार यही कह रहे हैं। १०।

नोट—१ (क) 'जीवन जन्म सुफल' हुआ। भाव कि संशय दूर न होता तो सदाके लिए भवमें पड़ता, श्रीरामविमुख होनेसे जन्म और जीवन दोनों व्यर्थ हुए जाते थे। यथा—'ते नर नरकरूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी।...सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी। वि० १४०।', 'जो पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर सों जाय जियत जग माहीं। वि० १७५।', 'पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम। वि० १३१।' (ख) 'तव प्रसाद संसय सब गएऊ' कहकर जनाया कि आप मेरे सद्गुरु हैं क्योंकि सद्गुरुही समस्त संशयोंको मिटा सकता है। यथा—'सदगुरु मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ। ४। १७।'

२—'जानेहु मोहि सदा निज किंकर'। जो पूर्व कहा था कि 'मोते होइ न प्रति उपकारा', उसीका निर्वाह यहाँ है। भाव कि मैं ऋणी हूँ, आजीवन दास बना रहूँगा। 'किंकर' का भाव कि आज्ञा देते रहिएगा। पुनः, यह शिष्टलोगोंकी रीति है कि कृतज्ञता जनानेके लिए ऐसा कहते हैं। 'पुनिपुनि'—प्रेम और कृतज्ञता सूचक है।

वि० त्रि०—(क) 'जानेहु सदा...' इति। 'नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी' कहकर प्रश्न किया था, अब उत्तर पानेपर सदाके लिये सेवक होनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। पूर्णकाम को सेवाकी इच्छा नहीं, अतः सेवक जाननेके लिये प्रार्थना करते हैं (ख) 'उमा' संबोधनसे जनाया कि भुशुंडि-गरुड़-संवाद पूरा हो गया, अब कथा शिवजी कह रहे हैं। (ग) 'पुनि पुनि कहइ'—भाव कि वाक्य को यथार्थ रूपमें ग्रहण करनेके लिये बार-बार कहते हैं, जिसमें उनका वाक्य विनयप्रदर्शन रूपमें गृहीत न हो। इस वाक्यसे गरुड़का अभिमान रहित होना सूचित किया। (शंकरजीने प्रारंभमें कहा था 'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना।', उस वाक्यकी सफलता यहाँ दिखाई।)

दोहा—तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेमसहित मतिधीर।
गएउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर॥
गिरिजा संतसमागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरिकृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥ १२५॥

अर्थ—उसके चरणोंमें प्रेमसहित माथा नवाकर और हृदयमें श्रीरघुबीरको धारण करके तब गरुड़जी वैकुण्ठको गए। हे गिरिजे! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। पर संतसमागम बिना भगवत् कृपाके नहीं होता ऐसा वेद और पुराण कहते हैं*। १२५।

नोट—१ (क) 'गएउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी। ६२। १।' उपक्रम है और 'गएउ गरुड़ बैकुंठ तब' उपसंहार है।—गरुड-भुशुंडि-सम्वाद-प्रकरण जो 'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़प्रति गाई। ५२। ८।' से प्रारंभ हुआ था उसकी इति यहाँ शंकरजीने की। (ख) 'तासु चरन सिरु नाइ' यह गुरु-संत-बुद्धिसे। जब यहाँ आए थे तब प्रणाम न किया था, तब तो ये पक्षिराजके भावसे आये थे, इसलिये उसी भावसे इनकी पूजा भुशुण्डिजीने की थी; यथा—'करि पूजा समेत अनुरागा। ६३। ६-८।' अब वह भाव जाता

* "भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥ भा० माहात्म्य २।७६।"
अर्थात् जिस समय अनेकों जन्मोंके संचित पुण्यपुंज उदित होनेसे मनुष्यको सत्संग प्राप्त होता है, उसी समय उसके अज्ञानजन्य मोह और मदरूप अन्धकारका नाश करके विवेक उदय होता है।

रहा, अतः मस्तक नवाते हैं और भुशुण्डिजी उसे स्वीकार करते हैं। (ग) 'मतिधीर' का भाव कि अब 'बिगत सन्देह' होनेसे व्याकुलता नहीं रह गई। (घ) 'रघुबीर' पद दिया क्योंकि इसी रूपमें मोह हुआ था। अब उनको पंचवीरतायुक्त जान लिया, अतः हृदयमें धारण किया। ['हृदय राखि रघुबीर' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीमें परमात्माभावना करके। (पं०)। पहले समझते थे कि वैकुण्ठनाथ सबसे बड़े हैं; अब जाना कि ये सबसे बड़े हैं, अतः 'रघुबीर' को हृदयमें रखना कहा। दूसरे भुशुण्डीजीने कहा था कि 'प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। १२३। ३।' अतः रघुबीरको हृदयमें धारण किया। (रा. शं. श.)

वि० त्रि०—'गिरिजा संत समागम...' इति। (क) 'गिरिजा' सम्बोधनसे ही इस कथाका उपक्रम किया था। यथा 'गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गयउँ खग पासा। अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गयउ काग पहिं खगकुलकेतू। ५८। १, २।' अब उसी सम्बोधनके साथ उपसंहार करते हैं। (ख) 'न लाभ कछु आन', क्योंकि 'मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥ बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई। १। ३। ५—७।', 'संतमिलन सम सुख कछु नाहीं।' (ग) 'बिनु हरि कृपा न होइ सो'—भाव कि कोई काल या देश ऐसा नहीं है जहाँ संत दुर्लभ हों, यथा—'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।'; पर उनसे भेंट नहीं होती। निकट रहते हुए भी पता नहीं चलता कि अमुक व्यक्ति संत हैं। जब भगवान्‌की कृपा होती है तभी उनसे संग होता है, मनमें पश्चात्ताप होता है, आश्चर्य होता है कि इतने दिनों तक इन्हें क्यों नहीं जाना। अतः जब सत्संग हो तो हरिकृपा समझनी चाहिए। (घ) 'गावहिं बेद पुरान'—वेद स्वतः प्रमाण हैं और पुराण परतः प्रमाण हैं, उनका कहना अभ्रान्त सत्य है। वे ही कल्याणका मार्ग दिखानेवाले हैं।

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव-पासा॥ १॥
प्रनत-कल्पतरु करुना-पुंजा। उपजै प्रीति रामपद-कंजा॥ २॥
मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥ ३॥

अर्थ—(श्रीशिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं) मैंने परम पवित्र इतिहास कहा, जिसे कानोंसे सुनते ही भवपाश (संसार-बन्धन) छूट जाता है। १। शरणागत लोगोंके कल्पवृक्ष और करुणाकी राशि श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें प्रीति उत्पन्न होती है। २। जो कथाको मन लगाकर सुनते हैं उनके मन, वचन और कर्म तीनोंसे उत्पन्न पाप जाते रहते हैं। ३।

नोट—१ (क) 'कहेउँ' से इतिहासकी समाप्ति सूचित की। (ख) 'परम पुनीत इतिहासा।' भुशुंडि-गरुड़-संवाद इतिहास है। 'परम पुनीत' पद देकर इतिहासका उपसंहार किया। 'सुनहु परम पुनीत इतिहासा। ५५। ८।' उपक्रम है।—भाव वहीं देखिए। पुनः, परम-पुनीतता आगेभी दिखाते हैं—'सुनत श्रवन०' से 'सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई' तक। (प्र० सं०)। 'इतिहासा' बहु बचनका प्रयोग किया क्योंकि इसमें भगवत्-भागवत दोनोंका इतिहास है। अथवा, और अवतारोंके चरित पुराण हैं, श्रीराम और श्रीकृष्णके चरित रामायण और महाभारत इतिहास हैं। जिससे पाप कटे वह पुनीत और जिससे भवबन्धन कटे वह परम पुनीत है। (वि० त्रि०)। (ग) 'सुनत श्रवन' से साधन-सौकर्य कहा। इससे बढ़कर सुभीता और क्या होगा कि केवल कानसे सुना करे और फल इतना बड़ा कि भवपाश छूट जाय। (वि० त्रि०)। (घ) 'सुनत श्रवन' यहाँ कहा और आगे बताते हैं कि किस प्रकार सुननेपर भवपाश छूटेगा—'सुनहिं...मन लाई', मन लगाकर सुनेगा तब।

२ 'प्रनत कल्पतरु...' इति। (क) 'कल्पतरु' के भाव पूर्व आ चुके हैं। संक्षेपमें भाव यह है कि प्रभु न तो किसीके सम्मुख हैं न विमुख, जो भी शरणमें जाता वा प्रणाम मात्र करता है उसके अभीष्टको

वे पूरा करते हैं, उनके समीप जाने भर की देरी है, उनके देनेमें देर नहीं। 'करुणापुंज' का भाव कि शीघ्र द्रवीभूत हो जाते हैं, किसीका दुःख देख नहीं सकते, तुरत उसका दुःख दूर करते हैं। यथा 'करुनामय रघुनाथ गोसांई। बेगि पाइअहि पीर पराई। २। ८५। १।' (ख) 'उपजै प्रीति रामपदकंजा' इति। उपक्रममें भी यही कहा है, यथा—'उपजै रामचरन बिस्वासा। ५५। ६।' दोनों एक ही हैं, क्योंकि बिना विश्वासके भक्ति वा प्रीति नहीं होती। यथा 'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। ८९। ७।', 'बिनु बिस्वास भगति नहिं।'

३—'मन क्रम बचन जनित अघ', यथा—'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं। अ० १६७ (७) देखिए। मन वचन कर्मके पाप पूर्व आ चुके हैं। पुनः, मनके पाप तृष्णा, क्रोध, रागद्वेष इत्यादि। वचनके निन्दा, कठोर वचन, इत्यादि। कर्मके चोरी, लंपटता, इत्यादि।

रा० शं०—'सुनत श्रवन छूटहिं' यह लाभ सबको है। भक्तोंके लिए विशेषता यह है कि उनके स्वार्थ परमार्थ सब सिद्ध होते हैं, उनको भक्ति मिलती है। और जो मन लगाकर सुनते हैं उनके मन, कर्म और वचनके पाप छूटते हैं।

वि० त्रि०—इन तीन अर्धालियोंमें क्रमशः तीनों काण्डका फल कहा। 'सुनत श्रवन छूटै भवपासा' से ज्ञानकाण्डका, 'उपजै प्रीति रामपदकंजा' से उपासनाकाण्डका और 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई' से कर्मकाण्डका फल कहा। कर्मकाण्ड पापापनोदनके लिये किया जाता है सो कथाश्रवणमात्रसे निवृत्त होता है।

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ ४॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ ५॥
भूत-दया द्विज-गुर-सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ ६॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि-भगति भवानी॥ ७॥
सो रघुनाथ-भगति श्रुति गाई। रामकृपा काहूँ एक पाई॥ ८॥

अर्थ—तीर्थयात्रा (आदि) साधन-समूह (वा तीर्थयात्रा और उसके साधन समूह), योग, वैराग्य और ज्ञान तीनोंमें निपुणता। ४। अनेक प्रकारके कर्म, धर्म, व्रत और दान, अनेकों संयम, दम, जप, तप और यज्ञ। ५। प्राणीमात्रपर दया, द्विज और गुरुकी सेवा, विद्या, विनम्रता, विवेक, और बड़ाई। ६। इत्यादि जहाँ तक साधन वेदोंने बखान किए हैं, हे भवानी! उन सबका फल भगवद्भक्ति है। ७। वह श्रुतियों की गाई हुई रघुनाथजीकी भक्ति श्रीरामजीकी कृपासेही किसी एक-आधने पाई है। ८।

खर्रा—'बिद्या बिनय बिबेक' तीनोंमें बड़ाईकी अन्वय है।

नोट—१ वशिष्ठजीने ४९ (१-८) में लगभग यही सब कहा है। वहाँ 'जप[१], तप[२], नियम[३], जोग[४], निजधर्मा[५], श्रुति-संभव नाना कर्मा[६], ज्ञान[७], दया[८], दम[९], तीरथ-[१०]मज्जन, जहँ लगि धर्म कहत श्रुति[११] सज्जन, आगमनिगमपुराणके[१२] पाठ, इत्यादिको कहकर उनका फल 'तव पद पंकज प्रीति निरंतर' बताया, वैसे ही यहाँ तीर्थाटन[१०], जोग[४], बिराग, ज्ञान[७], नाना कर्म धर्म[५,११], व्रत, दान[८], संजम[३], दम[९], जप[१], तप[२], मष नाना, जहँ लगि साधन[१२] बेद बषानी, बिद्या[१२], इत्यादिका फल हरिभक्ति बताया। जो भाव वहाँ हैं वही यहाँ जानिए। २—'रामकृपा काहूँ एक पाई' अर्थात् सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, अत्रि, शंकरजी, ब्रह्माजी, भुशुण्डि इत्यादिने पाई वह भी माँगनेपर प्रभुकी कृपासे ही। यही बात पार्वतीजीने विस्तारसे कथा समाप्ति पर ५४ (१८) में कही है। 'नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी' से 'सो हरिभगति०' तक।—वहीं विशेष भाव देखिए। ऐसा ही भुशुंडिमत है—'जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव'। दोहा ८४ में देखिए। समस्त ऋषियों आदिने दर्शन होने पर भी भक्ति ही माँगी है।

वि० त्रि०—१ (क) 'तीर्थाटन साधन समुदाई'—जीवको तारता है, इसी लिये तीर्थ कहलाता है।

सब लोग तीर्थयात्रा संसार-सागरसे तरनेके लिये करते हैं, परन्तु तीर्थका फल सबको नहीं होता, जो तीर्थोचित साधनके साथ यात्रा करता है, उसीको यात्राका फल मिलता है। संक्षेपमें उन साधनोंका वर्णन रामवनयात्रा-प्रकरणमें श्रीभरतजी द्वारा दिखलाया है। यथा 'सहित समाज साज सब सादे। चले राम-बन अटन पयादे।२।३११।३।' से दोहा ३१२ तक। (ख) 'जोग बिराग ज्ञान निपुनाई।' इति। किसी विषयमें निपुणता तभी होती है जब उसके विरोधी विषय अच्छे न लगें; यथा 'अति नय निपुन न भाव अनीती।' अतः योग, वैराग्य और ज्ञानमें वही निपुण है जिसे राग, वैषम्य और बहिर्मुखता अप्रिय हो। (ग) 'बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई' इति। विद्यासे ही विनय होता है, विनयसे पात्रता होती है, पात्रता से धन, धनसे धर्म और धर्मसे सुख होता है। विद्यासे ही विवेक होता है। यथा 'बिद्या बिनु बिबेक उपजाये। श्रम फल पढ़े किये अरु पाये।' (घ) 'सब कर फल हरिभगति'—भाव कि साधन तो इतने हैं, और सिद्धि एक है। वह सिद्धि फलरूपा हरिभक्ति है। यदि साधनोंसे हरिभक्ति न हुई तो श्रममात्र हुआ। कथाश्रवणसे तीनों काण्डकी फलसिद्धि कह आए, अब भक्तिमें सबका पर्यवसान करते हैं।

२ 'सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई।...' इति। भाव कि वेदान्तशास्त्र उपनिषद् आदि उपासनाओं से ही भरे पड़े हैं, और वे उपासनाएँ मुख्यतः सगुण ब्रह्मकी ही हैं। मन्त्रभागमें भी उपासना ही उपासना है।

दोहा—मुनिदुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥१२६॥

अर्थ—जो मनुष्य विश्वास मानकर यह कथा निरंतर सुनते हैं वे विना परिश्रमके वह हरिभक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो मुनियोंको भी दुर्लभ है। १२६।

नोट—१ 'मुनि दुर्लभ', यथा—'जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं। ८५।४।' देखिये। इससे जनाया कि जैसी भक्ति भुशुंडीजीको मिली वैसी उनकी कथाके विश्वासपूर्वक निरन्तर श्रवणसे सहजही प्राप्त हो सकती है। मुनियोंको परिश्रम करनेपर भी कहीं ही मिलती है, भुशुंडीजी को भी परिश्रम हुआ और कथाके श्रोताको सहज है। २—शर्त एक तो यह है कि 'मानि बिस्वास' सुने। विश्वास कैसे हो? इसका उपाय प्रारम्भमें बता आए। इस कथाके ही सुननेसे 'उपजइ रामचरन बिस्वासा' तब विश्वाससे सुनेगा, उससे भक्ति प्राप्त होगी। ३—दूसरी शर्त है कि 'निरंतर' सुने अर्थात् नियमपूर्वक। कथाकी प्यास सदा बनी रहे।

सोइ सर्बज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महिपंडित मंडित दाता॥१॥
धर्मपरायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जाकर मन राता॥२॥
नीति-निपुन सोइ परम सयाना। श्रुतिसिद्धांत नीक तेहिं जाना॥३॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा॥४॥

शब्दार्थ—गुनी (गुणी)=गुणवान्।=जो दैव या मानुष शिल्पका जानकार हो, यथा 'जोरिय कोउ बड़ गुनी बुलाई।', 'पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना', 'पूछा गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।' (वि० त्रि०)। ज्ञाता=नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ इन चारों ज्ञेयोंका जिसे ज्ञान हो।

अर्थ—जिसका मन रामचरणमें अनुरक्त है (यथार्थ) वही सर्वज्ञ है, वही गुणवान् है, वही ज्ञानवान् है, वही पृथ्वीका भूषण है, पंडित है, (वा, पृथ्वीभरमें शोभित है), दानी है। वही धर्मपरायण है और वही कुलका रक्षक है। जो छल छोड़कर रघुबीर श्रीरामचन्द्रजीका भजन करे। १-२। वही नीतिमें कुशल है, उसीने श्रुतियोंका सिद्धान्त भली प्रकार (यथार्थ) जाना है। ३। वही कवि है, वही कोविद है और वही रणधीर है। ४।

नोट—१ (क) महिमंडित (पृथ्वीका भूषण) कहनेका भाव कि जिस पृथिवी पर वह विचरता है वह पवित्र और सुन्दर गिनी जाती है। (पं०)। महिमंडित पंडित=सार्वभौम शास्त्रज्ञ। (वि० त्रि०)। महिमंडित पदका अनुवर्तन 'दाता' के साथ भी होगा। अर्थात् सर्वोपकारी दानवीर। धर्माचरणसे भगवच्चरणों में अनुराग न हुआ तो वह व्यर्थ है और यदि अनुराग हुआ तो वह पापी होने पर भी सद्यः धर्मानुरागी हो जायगा। प्रभुका वाक्य है कि 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना।' (वि० त्रि०)। 'कुल-त्राता' है, क्योंकि भगवद्भक्त हो जानेसे पितृ तर जाते हैं। पुत्रकी उत्पत्ति इसी लिये की जाती है कि वह नरकसे बचावे। श्रीराम चरणानुरागसे वह भी हो जाता है और पितृ भवबंधनसे विमुक्त भी हो जाते हैं, इसीसे रामानुरागीको कुल-त्राता कहा। ध्वनित अर्थ यह भी है कि यदि पुत्र कुपुत्र हुआ तो वह कुलका नाशक ही होता है; यथा 'जिमि कपूतके उपजें कुल सद्धर्म नसाहिं। ४। १९।' श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं—'रामभक्त कुलत्राता कैसे होता है? इसके लिए एक विशेष कारण यह है कि नौ धन्योंमें उस कुलकी भी गिनती है जिसमें भक्त जन्म ग्रहण करता है।' (ये नौ धन्य आगे गिनाये गए हैं—चौ० ५ से दोहा १२६ तक)।

पं० रा० व० श०—१ (क) 'राता'। यह 'रंज रागे' धातुसे है। सं० रक्त। अर्थात् भीतर बाहर रामचरण-प्रीतिका रंग रँग गया हो। 'नीति निपुन'—यहाँ नीतिसे धर्मनीति अभिप्रेत है न कि राजनीति। याज्ञवल्क्यजी शुद्धिका प्रकरण लिखते हुए जीवकी शुद्धि ईश्वरके ज्ञानसे बताते हैं—'क्षेत्रज्ञस्य विशुद्धिः ईश्वर ज्ञानात्' इत्यादि। [धर्मका किसी प्रकार उल्लंघन न हो, धर्म-विरोधी अर्थ और धर्मार्थाविरोधी कामका सेवन करते चलना, संक्षेपमें यही नीति है; पर ऐसी नीतिका लक्ष्य भगवत्प्राप्तिही है। अतः जिस मार्गसे भगवत्प्राप्ति हो, उसीका अवलम्बन करना नीतिकी निपुणता है। यथा 'उपरोहिती कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृति कर निंदा। जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही॥ परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा। तब मैं हृदय बिचारा जोग जग्य ब्रत दान। जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन। ४८।' (वि० त्रि०)] (ख) 'परमसयाना'—भाव कि जगत्की चतुराईमें सयाना सयाना नहीं है, जिस कार्य्यके लिये शरीर मिला है वह कार्य्य सिद्ध कर लेना ही सयानपन है। (ग) 'श्रुतिसिद्धान्त'। भगवान्ने कहा है कि वेदके कर्त्ता हम हैं, हमाराही प्रतिपादन वेदमें है, जिसने हमको जान लिया उसने सब जान लिया। ['श्रुतिसिद्धांत नीक तेहि जाना'—भाव कि यही श्रुतिसिद्धान्त है, यथा—'श्रुतिसिद्धांत इहै उरगारी। राम भजिय सब काज बिसारी। १२३। २।' देखो। मिलान कीजिए—'सोइ सर्बज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिज्ञान अखंडित॥ दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥ ४९। ७-८।']

वि० त्रि०—'सोइ कबि कोबिद' इति। वाणीकी चार अवस्थायें हैं—परा, यथा 'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई', पश्यन्ती यथा 'चितै पितहि दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना', मध्यमा यथा 'मानस ते मुखपंकज आई') और वैखरी यथा 'भा जनु गूँगहिं गिरा प्रसादू'। कवि-कोविद जाने या बिना जाने वर्णनके समय वाणीका स्मरण करते हैं। स्मरण करनेपर परा वाणी पश्यन्ती, मध्यमामें अवतरित होती हुई वैखरी रूपमें प्रकट होती है। उस वाणीको हरियशगानमें ही विश्राम मिलता है। पापमें डूबे हुए जीवोंके चरितका वर्णन उससे करवाना सरस्वतीको रुलानेके समान है। यथा 'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई। रामचरितसर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें॥ कबि कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमल हारी॥ कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना। १। ११। ४-७।' अतः वाणीको दुःख देनेवाला कवि कोविदपदके योग्य नहीं।

पं०—रणधीर-पद यहाँ इस विचारसे कहा कि भगवान्ने गीतामें योद्धाकी गति योगियोंकी गतिके तुल्य कही है। अथवा, 'रनधीर' से विषयरूपी शत्रुका जीतनेवाला जनाया। सन्त तो सभी श्रेष्ठ हैं पर जिनपर सत्संगकी छाया पड़ी वेभी धन्य हैं, उन्हींको आगे कहते हैं।

नोट—श्रीत्रिपाठीजीका भी यही मत है। जो काम-क्रोधादि शत्रुओंको जीत ले वही रणधीर है।

जो निष्काम भावसे भगवान्‌का भजन करता है वही कामादि शत्रुओंको जीतने समर्थ होगा। देखिए रावण जगद्विजयी वीर था पर कामादि शत्रुओंके वशमेंही रहा। विभीषणजीके उचित मंत्र देनेमें उसने उनको लात मारी और उसी बातको मंदोदरीने अति कठोर शब्दोंमें चार-चार बार कहा और वह ऐंठकर रहगया, उससे कुछ करते न बना। 'छल छाँड़ि=निष्काम होकर। फलान्तरकी आशा करके सेवा करना स्वार्थ है, छल है। प्रह्लादजीने कहा है कि जो सेवक आपसे कामनाओंकी पूर्तिकी इच्छा रखता है वह तो सेवक नहीं किन्तु लेन-देन करनेवाला कोरा व्यापारी है। यथा 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्। भा० ७। १०।४। आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।' क्योंकि उसने तो भगवान्‌को मानों अपनी इच्छाओंकी पूर्तिका साधन ठहराया है।

नोट—३ भाव यह है कि रामचरणानुरागविहीन मनुष्य सर्वज्ञादि होते हुये भी इन विशेषणोंके योग्य नहीं है और यदि श्रीरामचरणानुराग हो और ये कोई गुण न भी हों तो भी वह अनुरागी इन विशेषणों के योग्य है। सच्चा सर्वज्ञ आदि वह अनुरागी ही है।

धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रतअनुसरी * ॥ ५ ॥
धन्य सो भूप नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई ॥ ६ ॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्यरत मति सोइ पाकी ॥ ७ ॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज-भगति अभंगा ॥ ८ ॥

अर्थ—वह देश धन्य है जहाँ गङ्गाजी हैं, वह स्त्री धन्य है जो पतिव्रत धर्मका अनुसरण करे (अर्थात् उसपर चले)। ५। वह राजा धन्य है जो नीति का पालन करता है (अन्याय नहीं करता)। वह ब्राह्मण धन्य है जो धर्मसे नहीं टलता। ६। वह धन धन्य है जिसकी प्रथम गति होती है, पुण्यमें परिपक्व लगी हुई बुद्धिही धन्य है और वही बुद्धि पकी (=दृढ़ एवं तत्पर) है। ७। वही घड़ी धन्य है जिसमें सत्संग हो। वह जन्म धन्य है जिसमें ब्राह्मणकी अखण्ड भक्ति हो। ८।

नोट—१ (क) सुरसरि पुनीत हैं, इनके चरित मनोहर हैं, ये पाप तथा त्रिविधताप नाशिनी हैं। अतः जहाँ ये हैं वह देश भाग्यवान् है। क्योंकि वहाँके वासी प्रभुके नखसे निकली हुई गंगाके 'दरस परस मज्जन' से कृतार्थ और पावन होते हैं। स्वामी शंकराचार्यजीने भी इनकी महिमा कही है। यथा 'गङ्गाजल लवकणिका पीता...'। गंगाजीकी महिमा सब जानते हैं। बाल अयोध्यामेंभी कही गई है। (ख) पतिव्रताके धर्म्म अनुसूया-सीता-मिलनमें देखिए। धन्य क्योंकि 'सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभगति लहइ', 'बिनु श्रम नारि परमगति लहई'—आ० ५ (१८), आ० ५ देखिए। पतिव्रतासे पति और पिता दोनोंके कुल पवित्र होते हैं, यथा—'पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ'। पतिव्रता स्वाभाविक ममतासेही तरण-तारण हो जाती है और भगवान् को प्रिय है, अतः धन्य है।

२ 'धन्य सो भूप नीति जो करई।' इति। (क) नीति करना यह है कि प्रजाको पुत्रवत् पाले—'प्रजा रक्षति पुत्रवत्'; प्रजा उसे प्राणप्रिय हो। जो ऐसा नहीं करता वह शोचनीय है। यथा 'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना। २। १७२। ४।' राजाको चाहिए कि प्रजाका धन उसके काममें लगावे, चारों नीतियोंका यथार्थ पालन करे, इत्यादि। केवल नीतिपूर्वक आचरण करनेसे वह धन्य होता है अन्य साधनोंसे नहीं, यह सूचित किया। (पं० रा० व श०, वि० त्रि०)। (ख) 'द्विज निज

* इस अर्धालीमें दोनों चरणोंमें १५, १५ मात्राएँ हैं। पूर्व ८४ (४), १११ (१५), ११७ (४), १२१ (३३), १२२ (४), १२२ (१०), १२५ (२, ३) में भी मात्राओंकी कमी है। मात्राओंकी न्यूनताके भाव पूर्व कई बार काण्डोंमें लिखे जा चुके हैं, वैसेही पाठक यहाँ भी लगा लें। (प० प० प्र०)।

धर्म न टरई'—ब्राह्मणमें तप और श्रुत दोनों होने चाहिए, विना इन दोनोंके उसका ब्राह्मणत्व ही पूरा नहीं होता। अतः श्रोत्रिय और तपस्वी ब्राह्मण धन्य है, अशोच्य है। यथा 'सोचिअ बिप्र जो वेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लयलीना।'

३—धनकी तीन गतियाँ कही गई हैं,—दान, भोग और नाश। जो धन परोपकारमें लगाया जाय, दानमें दिया जाय, वह पूर्ण सफल है, यह सर्वोत्तम गति उस धनकी है, क्योंकि 'येन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान'। धन होनेका जो मुख्य आदेश है वह सफल हुआ, उसकी उत्तम गति हुई और जिसके पास वह था उसकीभी सद्गति हुई, अतः वह धन्य कहा गया। जो अपने शरीरके काममें आवे वह मध्यमगतिवाला है और जो न दानमें ही लगा न अपने भोगनेमें ही आया वरन् नष्ट ही हुआ वह निकृष्ट है। श्रीभर्तृहरिजीने कहा है—'दानं भोगो नाशः तिस्रः गतयो भवति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥'

४—'मति सोइ पाकी'। भाव कि वही बुद्धि श्रेष्ठ है।—परिपक्व मति पुण्यमें हो अर्थात् मन-कर्म-वचनसे पवित्र हो। (करु०, वै०)। ['पक्की पुण्यरत मति'=जिसमें फलाभिकांक्षाकी कचाई न हो। जिसे फलकी इच्छा है उसकी मति कच्ची है। यथा 'जो कछु करइ कर्म मन बानी। बासुदेव अरपित नृप ज्ञानी।' इससे कर्मयोग कहा। (वि० त्रि०)]

५ (क) सत्संगकी घड़ी धन्य है क्योंकि लवमात्र सत्संगका सुख स्वर्ग-अपवर्ग-सुखसेभी अधिक है तब घड़ीभर सत्संगके भाग्यका क्या कहा जाय? (प्र० सं०)। पुनः, सत्संगही सब पुरुषार्थोंका समान-रूपसे साधन है, यथा 'सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकौ बारा।' अतः सत्संगकी घड़ीको धन्य कहा। यहाँ काल कहा, 'धन्य सो देस' में देश कहा गया है। (वि० त्रि०)। (ख) 'धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा'—ब्राह्मणमें अटलभक्ति होनेसे ही जन्म धन्य है, क्योंकि ब्राह्मणभक्ति-मूलक ही कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड हैं। यथा 'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती।' इस भाँति अन्य वर्णोंके ब्राह्मण पूज्य हैं। यद्यपि प्रधानतः 'द्विज' शब्दसे ब्राह्मणका ग्रहण होता है तथापि क्षत्रिय और वैश्य भी द्विज हैं और शूद्रके लिये विधान है कि ब्राह्मणकी शिव-बुद्धिसे, क्षत्रियकी बिष्णु-बुद्धिसे और वैश्यकी ब्रह्मा-बुद्धिसे सेवा करे। अतः यहाँ शूद्रधर्म भी कहा। 'सो धन धन्य' में वैश्यधर्म कहा गया है। (वि० त्रि०)

६ ☞ यहाँ बताया कि धन्य कौन हैं और ठीक इसीका उलटा अ० १७२ में बताया है कि येही कब शोचनीय हैं? मिलान करनेसे भाव भी स्पष्ट हो जायँगे। भाव वहाँ पाठक देख लें। मिलान—

सोचिय बिप्र जो बेद विहीना। तजि निज धर्म बिषय लयलीना	१ धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई।
सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना	२ धन्य सो भूप नीति जो करई।
सोचिय बयसु कृपिन धनवानू। जो न अतिथि सिव-भगति सुजानू	३ सो धन धन्य प्रथम गति जाकी
सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी।०	४ धन्य जनम द्विज भगति अभंगा
सोचिय पुनि पतिबंचक नारी।०	५ धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी
पर अपकारी, पिशुन, अकारण क्रोधी तनुपोषक निर्दय मातुपितागुरुबंधुबिरोधी	६ धन्य पुन्यरतमति सोइ पाकी
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाँडि छल हरिजन होई	७ जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा।
	सो कुल धन्य···श्रीरघुबीर परायन

दोहा—सो कुल धन्य उमा सुनु जगत-पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर-परायन जेहि नर उपज बिनीत॥१२७॥

अर्थ—हे उमा! सुनो। वह कुल धन्य है, जगत्पूज्य है, परम पवित्र है जिसमें श्रीरघुबीरानुरागी विनम्र स्वभाववाला मनुष्य पैदा हो॥ * १२७॥

* पं०—अर्थ है कि 'श्रीराम परायण जो सन्त हैं उनमें जिस कुलके लोगोंको प्रीति और नम्रता उपजे वह कुल धन्य है'।

नोट—१ 'सो कुल धन्य जेहि...', यथा—'धन्य धन्य मातापिता धन्य पुत्रबर सोइ। तुलसी जो रामहि भजै जैसहु कैसहु होइ'—(वैराग्य संदीपिनी)। इससे जनाया कि यहाँ वर्णाश्रमका कोई भेद वा विचार नहीं है। अधमाधमही वर्ण क्यों न हो, यदि एकभी भगवत-परायण भक्त उसमें उत्पन्न हो गया तो वह अन्य उच्च वर्णोंसे ही नहीं वरन् देवतादिसे भी पूजनीय हो जाता है और पावन है। इसमें यहभी जनाया कि कैसाही उच्च कुल क्यों न हो, जगत्में उसका यश ख्यात क्यों न हो, तोभी भक्तिहीन होनेसे वह कुल न तो जगत्पूज्य है और न सुपुनीत ही है। यथा 'तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम। ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥ वै० सं० ३८॥ अति ऊँचे भूधरनि पर, भुजँगन के अस्थान। तुलसी अति नीचे सुखद, ऊख अन्न अरु पान। ३९।···जदपि साधु सबही बिधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना। यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नित मान-अगिनि में जरै। ४१।' * पुनः भाव कि अन्य (ब्राह्मण, देवता, इत्यादि) कुल पूज्य और पुनीत हैं और भक्तिपरायण प्राणीवाला नीच कुल जगत्पूज्य और सुपुनीत है। वे अपनेकोही पावन कर सकते हैं और यह जगत्कोभी पावन करनेवाला है।—(करु०—विनीत अर्थात् आर्त्त और दीन)।

वि० त्रि०—(क) 'जगत पूज्य सुपुनीत'—जगत्पूज्यता और पवित्रता कुलपर निर्भर नहीं करती, अच्छे और बुरेकी उत्पत्तिसे कुल पवित्र और अपवित्र होता है। यथा 'उपजे जदपि पुलस्त्य कुल पावन अमल अनूप। तदपि महीसुर साप बस भये सकल अघ रूप।' (ख) 'श्रीरघुबीर परायन···'—भाव कि रामभक्त ही धर्मपरायण और कुलत्राता होता है। उसीसे कुलकी रक्षा होती है। यथा 'पितर पार करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लै पार।', 'धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयहु तात निसिचर कुल भूषन।' जो विनीत नहीं है वह श्रीरघुबीर-परायण भी नहीं है। रामपरायणताका प्रधान लक्षण विनय है। यथा 'अहंकारकी अगिनिमें दहत सकल संसार। तुलसी बाँचे संतजन केवल सांति अधार॥ जहाँ सांति सतगुरु की दई। तहाँ क्रोध की जरि जरि गई।'

जिस भाँति गंगाजीके होनेसे 'देश' धन्य, पतिव्रतासे 'स्त्री' धन्य, इसी भाँति श्रीरघुबीर-परायण विनीत पुरुषके उत्पन्न होनेसे 'कुल' धन्य होता है। जिस भाँति अपने धर्ममें अटल रहनेवाला ब्राह्मण जगत्पूज्य होता है, उसी भाँति वह कुल भी जगत्पूज्य है। जैसे दानसे धन, कर्मयोगसे बुद्धि, सत्सङ्गसे घड़ी और द्विज भक्तिसे शूद्र पुनीत होता है, वैसेही भक्तसे वह कुल पुनीत होता है।

शंकरभगवान्ने 'धन्य धन्य' कहकर कथा प्रारम्भ किया था। यथा 'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारा। १। ११२। ६।' अब भी धन्य धन्य कहकर कथा समाप्त करते हैं। प्रारम्भमें भी गंगाका उल्लेख था। यथा 'पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा। १। ११२। ७।' वैसेही समाप्तिमें भी गंगाका उल्लेख हो रहा है—'धन्य सो देस जहँ सुरसरी।'

(कथाके अधिकारी)

मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥ १॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब † मैं रघुपति-कथा सुनाई॥ २॥

अर्थ—मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार कथा कही। यद्यपि मैंने पहले गुप्त कर रक्खी थी। १। जब मैंने तुम्हारे मनमें (कथापर) प्रीतिकी अधिकता देखी तब मैंने तुमको रघुनाथजीकी कथा सुनाई। २।

नोट—१ 'मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु। बा० १२०।' उपक्रम है और 'मति

---

* 'एकांगसंगिनी गंगा पावयेदखिलं जगत्। अंग प्रत्यङ्ग संव्यापिनाम किं कर्त्तु मक्षमम्।।' पुनश्च यथा—'कुलं पवित्रं जननी कृतार्थं वसुन्धरा भागवती च धन्या। स्वर्गेस्थिता ये पितरोऽपि धन्या येषां कुले वैष्णवनामधेयम्।' पद्म पु०॥

† तव—रा० गु० द्वि०। तब—(का०)। तौं—(भा० दा०)।

अनुरूप कथा मैं भाषी' उपसंहार है।—(बा० १२० देखिए। २—'जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी', यथा—'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा। बा० ३५। ११।' ☞इससे यह दिखाया कि यह कितना गोप्य पदार्थ है। सबके सामने इसका फेंकना उचित नहीं है।

वि० त्रि०—भगवान्‌शङ्कर रामभक्तिके भण्डारी हैं। इनकी कृपाके बिना न भगवद्भक्ति मिलती है, न भगवच्चरण और न भगवत् कथा। यथा—'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि। ४५।', 'जे हर हृदय कमल महँ गोए।', 'पुनि रघुपतिपद पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद', 'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा', 'तेहि सन जागबलिक पुनि पावा', 'रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभुप्रसाद तात मैं पावा।'

नोट–'तव मन प्रीति देखि०' यथा—'जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। १।१०८।१।' से 'प्रश्न उमाके सहज सुहाई। १११। ६।' तक फिर, 'बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेमरस सानि बा० ११९।' से 'उमा बचन सुनि परम बिनीता। रामकथापर प्रीति पुनीता। १२०। ८। हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान।१२०।' तक।

यह न कहिय ‡ सठही हठसीलहिं। जो मन लाइ न सुन हरि-लीलहिं ॥ ३ ॥
कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहिं। जो न भजइ सचराचर-स्वामिहिं ॥४॥
द्विज-द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप तबहूँ* ॥५॥

शब्दार्थ—सठ (शठ)=मन्दबुद्धि जो वचनोंको सुरस नहीं समझते। (पं०)।=जिसकी सुपथमें बुद्धि-विद्यादि-व्यय नहीं। (रा. प्र.)।=जो हानि पहुँचाते और मीठी बातें करके अपनी करनीको छिपाना चाहे, ऐसे कपटीको शठ कहते हैं। (वि. त्रि.)। हठशील=हठ जिसका स्वभाव है। दुराग्रही।=हठी और कुशील (करु०)।

अर्थ—इसे शठसे, दुराग्रही हठी स्वभाववालेसे, जो हरि लीलाको मन लगाकर नहीं सुनते उनसे न कहना चाहिए। ३। लोभी, क्रोधी और कामीसे न कहे कि जो सचराचरस्वामी श्रीरामजीको नहीं भजते।४। द्विजद्रोहीको, चाहे वह इन्द्रके समान राजा ही क्यों न हो तब भी, कभी न सुनाना चाहिए। ५।

नोट—१ इन तीन अर्धालियोंमें अनधिकारीके लक्षण कहे। पार्वतीजीने भी अनधिकारी और अधिकारी कुछ गिनाये हैं—बा० ११० (१-३) 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।००' देखिए। मिलान कीजिए—

'रामभगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं। ११२ (१३)
अति खल जे बिषई बक कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा। बा० ३८ (३)
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे। ,, (५)

२ (क) लोभी=जिसका मन धन बटोरने और उसकी रक्षामेंही लगा रहता है, कथामें जानेपर भी मन उसका न लगेगा। क्रोधी=जो अपने जामेमें ही नहीं रहता। कामी होनेसे और भी दुर्गुण लोभ, क्रोध आप ही आ जाते हैं। (रा. प्र.)। लोभी, क्रोधी और कामी परधन, परद्रोह और परदाराका भजन करते हैं, नरकपन्थके पथिक हैं। ये दूसरे समाजके लोग हैं। इनके इष्टदेव मोह हैं। ये भी हरिकथा मनसे न सुनेंगे और उपद्रव उठावेंगे। यथा 'तेहि बहुबिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना। १। १८३।' (वि. त्रि.)। ☞ इनको सुनाना ऊसरमें बीज बोना है, यथा—'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा।' (ख) 'न भजइ सचराचर स्वामी' में भाव कि चराचरनायकका भजन नहीं करता इससे वह चराचरमात्रका बिरोधी जान पड़ता है। (करु०)

वि० त्रि०—'सचराचर स्वामी' इति। यहाँ नाम न देनेमें भाव यह है कि नामपर आग्रह नहीं

‡ 'नहि कहिय सठहि'—(करु०)। 'कहीजे सठ'—(का०)।
* 'जबहूँ'—रा. गु. द्वि.।

है, चराचरके स्वामीके भजनपर आग्रह है; हम सचराचर-स्वामीको राम, रघुपति, हरि इत्यादि कहते हैं, दूसरे उनको यदि वासुदेव, महालक्ष्मी, सदाशिव कहते हों और भजन करते हों तो वे भी अधिकारी हैं। जो जीवका भजन करते हैं वे अधिकारी नहीं हैं।

नोट—३ 'द्विजद्रोही अधिकारी नहीं है, क्योंकि उसको प्रभुके वाक्य—कि द्विज मेरी मूर्त्ति हैं, पूज्य हैं—अच्छे न लगेंगे। प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, यह उसे नहीं भाता। 'सुरपति सरिस' अर्थात् संसारभरमें सबसे बढ़कर ऐश्वर्य भोगविलासकोभी जो प्राप्त हों। (प्र. सं.)। पुनः, भाव कि उसके अधिकारका भय न करे अथवा कृपाका लोभ न करे। इन्द्रने सौ यज्ञ किये, सो उसके याज्ञिक होनेका भी कोई विचार न करे। (वि. त्रि.)।

नोट-यह अधिकारी-अनधिकारी-निर्णय कुछ कुछ उससे मिलता है जो भा० ११, २९ में श्रीउद्धवजीसे भगवान्ने कहा है—

नै तत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ।३०।
एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्यायप्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्वाच्छूद्रयोषिताम् ।३१।

यह न कहिय सठ ही हठसीलहिं
जो मन लाइ न सुनु हरिलीलहि
गुरपदप्रीति नीतिरत जेई
द्विजसेवक अधिकारी तेई। जिनके सत्संगति अति प्यारी

(अधिकारी)

रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी॥ ६॥
गुर-पद प्रीति नीति-रत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई॥ ७॥
ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई॥ ८॥

अर्थ—रामकथाके वही लोग अधिकारी हैं जिनको सत्संगति अत्यन्त प्रिय है। ६। जो गुरुचरणानुरागमें तत्पर हैं, नीतिमें तत्पर हैं, और जो द्विजसेवक हैं वे ही अधिकारी हैं। ७। जिसको श्रीरघुनाथजी प्राणोंके समान प्रिय हैं उसको तो यह बहुत ही सुख देनेवाली है। ८।

वि० त्रि०—१ 'तेइ अधिकारी' इति। तीन प्रकारके अधिकारी कहकर अब तीन प्रकारके अनधिकारी कहते हैं। अधिकारीके लिये ही विषयनिरूपण होता है, परन्तु ग्रन्थका निर्माण होनेपर तो वह अधिकारी अनधिकारी सबके हाथ पड़ता है। तथापि लाभ उससे अधिकारी ही उठा सकते हैं, अनधिकारी उससे लाभ उठानेमें सर्वथा असमर्थ रहते हैं। यथा 'प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी। कबित रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू।'

२ गुरुपद प्रीति होनेसे जाना गया कि वह परमार्थपथका पथिक है। गुरुपद-प्रेमी प्रभुको प्रिय है, यथा 'गुरपदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान। ३। ३५।...सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। ३। ३६। ७।' नीति रत भी प्रिय है, यथा 'नीति बिरोध सोहाइ न मोही।' जो नीतिरत होगा वह गुरुभक्त भी होगा, फिर भी दोनोंको पृथक्-पृथक् गिननेका कारण गुणविशेषका प्राधान्य है, एकमें गुरुभक्तिकी प्रधानता है, दूसरेमें नीतिनिपुणताकी। द्विजसेवक भी प्रभुको प्रिय है, द्विजद्रोही नहीं। यथा 'मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही। मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव।३।३३।'

३ परमार्थ पथके पथिकको छोड़कर दूसरा द्विजसेवक नहीं हो सकता। अभिमानी कभी दरिद्र दीन ब्राह्मणको बड़ा नहीं मान सकता, ऐसा करने पर उसे ईश्वरके न्याय तथा समदर्शितामें दोष दिखाई पड़ने लगेगा। जो अभिमानरहित नहीं है वह शापत ताड़त परुषवक्ताको पूज्य कैसे मानेगा? जो ईश्वरको कर्मफलदाता नहीं मानता वह शीलगुणहीन ब्राह्मणपर पूज्यदृष्टि कैसे रख सकेगा? अतः द्विजसेवक ही इस कथाका अधिकारी है। द्विजसेवक रामभक्त होगा और विप्रद्रोहीके घर रावणकी डायरी निकलेगी। वह

रावणके गुणोंपर मुग्ध होगा।

४ 'बिसेषि सुखदाई' का भाव कि यह हास्यरूपसे तो खलको भी सुख देती है पर यथार्थरूपसे सज्जनोंको ही सुख देती है और जिसे श्रीरामजी प्राणप्रिय हैं, उसे यह विशेष सुख देती है। यथा 'हरिहर-पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की॥', 'श्रवनामृत जेहि कथा सोहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई।'

पं० रा० ब० श० १—'ता कहँ' यह एकवचन दिया क्योंकि रामरूप और रामनामको परात्पर जाननेवाले बहुत नहीं हैं। ब्रह्मकी स्थिति दो प्रकारकी कही गई है—एक तो यह कि वह अग्राह्य, व्यापक, अगोचर, इत्यादि है; दूसरे त्रिपाद विभूतिमें स्थित। उपासकभी दो प्रकारके हैं। मुक्तिभी दो प्रकारकी है—एक तो यह कि सूक्ष्माति सूक्ष्म जीवरूप होकर लीन हो जाय। दूसरी यह कि उपासना भक्ति करके भगवान् के नित्य विभूतिमें सम्मिलित हो जाय—ये उपासक सदा कैंकर्य चाहते हैं, जैसा कि कपिल भगवानने माता से कहा है। यथा 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। भा० ३। २६। १३।'

नोट—२ सत्संगके प्रेमी, गुरुपदप्रेमी, नीतिरत और द्विजसेवक बहुत होते हैं, और श्रीरघुनाथजी जिसको प्राणप्रिय हों ऐसा कोई कोई ही होता है। अतः उनके साथ बहुवचन 'जिन्ह' 'जेई, तेई' का प्रयोग किया और 'प्रानप्रिय श्रीरघुराई' के साथ एकवचन 'जाहि' कहा। मिलान कीजिए—

जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सत्संग करउ मन लाई। बा० ३९ (८)
सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुर बर मानस अधिकारी। बा० ३८ (२)

अनधिकारी	अधिकारी
द्विजद्रोही	द्विजसेवक
'जो न भजइ सचराचरनायक'	जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई
जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि	सदा सुनहिं सादर नर नारी

☞ यहाँ यह दिखाया कि यदि ये गुण हों तो वह अधिकारी है, यद्यपि और प्रकारसे शास्त्र उसे अधिकारी न कहता हो, यथा—'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी। १। ११०। १।' देखिए। भा० १०। १३। ३ 'श्रृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते। ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत' में श्रीशुकदेवजी भी कहते हैं कि मैं तुमसे गोप्य विषय कहता हूँ, क्योंकि स्नेही शिष्यसे गुरु गुह्य रहस्य भी कह देते हैं। 'बिसेष' का भाव कि अपने इष्ट होनेसे उनके चरित्रमें इनको औरोंसे बहुत अधिक सुख मिलता है।

दोहा—रामचरन रति जो चहै* अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करौ श्रवन-पुट पान ॥१२८॥

अर्थ—जो श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रेम चाहे अथवा निर्वाणपद (मोक्ष) चाहे वह इस कथा (रूपी अमृत) को भाव (प्रेम और श्रद्धा इत्यादि) सहित कानरूपी दोनेसे पिये। १२८।

नोट—१ श्रवणपुटपान—'श्रवनपुटन्हि मन पान करि०। ५२।' देखिए। 'भाव सहित' बहुत बार आया है। २—भक्तलोग 'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने' अतः उनको 'रामपदमें रति' मिलती है, यथा—'राम उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं।' और जो मुक्तिके इच्छुक हैं उनको इसीसे मुक्ति मिलेगी। दो तरहके भक्त हैं, इसलिये दोनों प्रकारके फलकी प्राप्ति बताई।

वि० त्रि०—(क) परम पुरुषार्थ दो हैं—प्रेमभक्ति और कैवल्य मुक्ति (निर्वाण)। पराभक्तिमें

* चह—(भा० दा०)। चहै—(का०)।

मुक्ति सुख बराबर रहता है, पर भक्त मुक्त नहीं होता, उसे भजन ही प्रिय है, मुक्ति नहीं और कैवल्य मुक्तिमें साधक 'ब्रह्म' ही हो जाता है, बिन्दु सिंधु हो जाता है। (ख) यहाँ गोस्वामीजीने प्रयोजन और सम्बन्ध कहा। रामकथाके ये ही दो प्रयोजन हैं, या तो पराभक्ति या कैवल्य मुक्ति। विषय और प्रयोजनसे साधक-साध्यभाव सम्बन्ध है। साध्य है भक्ति और मुक्ति तथा इन दोनोंका साधक रामकथा है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—भक्त चार प्रकारके होते हैं, वे सब रामचरणरतिके चाहनेवालोंमें ही हैं, ये भक्तिका कुछ फल नहीं चाहते, केवल प्रभुको ही चाहते हैं, अतएव देहावसानपर प्रभु ही को प्राप्त होते हैं, वहाँ सायुज्य मुक्तिके ही भोक्ता होकर रहते हैं, पर यहाँ उनकी फलपर दृष्टि नहीं रहती। दूसरे प्रकारके अधिकारी वे हैं जो योग आदि साधनोंके द्वारा कैवल्य पद चाहते हैं जिसे ज्ञानदीपकके प्रसंगमें कहा है। वे 'अहं ब्रह्मास्मि' की वृत्तिसे निर्वाण पद पाते हैं, वे रामपदप्रीतिरहित हैं, इससे उन्हें वहाँ भगवत्कैंकर्यका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। पुनः, और भी रामपदप्रीतिरहित राक्षस लोगोंने राम-बाण आदिसे पापमुक्त होकर निर्वाण पद पाया है।

कथाके सुननेसे पापरहित होकर एवं कैवल्यसाधननिष्ठ होनेपर कैवल्य-पद भी मिल सकता है। यथा 'बिबेक पावक कहँ अरनी। बा० दो० ३१।' कहा ही है। इसी तरह गीतामें भी कर्मयोग और सांख्य-योगके दो प्रकारके विधान हैं, उन्हें भी ये ही दो प्रकारकी मुक्तियाँ मिलती हैं—कर्मयोगीको रामचरणरति और सांख्य-योगीको कैवल्य-पद।

नोट—२ श्रवण दोना (पात्र) हुआ। पात्रसे जल मुखमें आकर पेटमें जाता है; यही यहाँ सुनकर हृदयमें धारण कर मनन करना है।=[वीर—यहाँ निरङ्गरूपक है] मिलान कीजिये—

जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ बा० १५ (१०)
होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥ ,, (११)

वि० त्रि०—(क) भावसहित अर्थात् मन लगाकर सुने जिसमें इस कथाकी छाप मनपर पड़े। छाप पड़नेसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होगी, नहीं तो कथाश्रवणजन्य पुण्यमात्र होगा। (ख) 'श्रवन पुट पान'—भाव कि कथा बड़ी है, एक घूँटमें नहीं पी जा सकेगी, इसलिये कानके दोने (प्याले) बनाकर स्वाद ले-लेकर कथामृतका पान करो।

रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल-समनि मनोमल-हरनी॥ १॥
संसृति-रोग सजीवन-मूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी*॥ २॥

शब्दार्थ—सूरी (सं० सूरिन्)=परमार्थज्ञाता विद्वान, पण्डित, आचार्य।—(करु०)। 'धीमान सूरि इत्यमरः।

अर्थ हे गिरिजे! मैंने कलिमलकी नाश करने और मनके मलको हरनेवाली रामकथा वर्णन की। १। रामकथा भवरोग (नाश करने) के लिए संजीवनी जड़ी है ऐसा श्रुतियोंके निपुण पण्डित कहते हैं वा श्रुति और पंडित इसे गाते हैं। २।

नोट—१ 'सजीवन मूरी' भवरोगको नाशकर मनुष्यको अमर करती है—१२२ (७) देखिए। २—'कलिमल समनि०', यथा—'मंगल करनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। बा० १० छन्द।' ३—शिव जी अपनी कथाकी इति यहाँ लगाते हैं। क्रमसे जो चार संवाद मानसकविने बालकाण्डमें कहे हैं उनकी

* वीर कवि—गुटकामें 'श्रुति सूरी' पाठ है। परन्तु 'सूरी' शब्दका कोई अर्थ ही ठीक नहीं लगता जो प्रसंगमें अनुकूल पड़ता हो। सूरी फाँसीको कहते हैं। यहाँ रामकथा किसके लिए फाँसी है? क्या संसृति रोगोंके लिये? उनका रूपक शरीरधारियोंसे नहीं कहा गया है; अतः इस अर्थको आत्मा स्वीकार नहीं करती है। इसीसे 'मूरी' पाठ दिया।—(मूरी—का०)।

इति वा उपसंहार इस काण्डमें क्रमसे देते हैं।

वि० त्रि०—'रामकथा····' इति। (क) जब तक विषयका निरूपणभर करना था तब तक तो इतिहास था। यथा 'यह इतिहास पुनीत अति उमहि कही वृषकेतु। १। १५२।', 'यह इतिहास सकल जग जाना।'; 'उमा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि भाँति गयउँ खग पासा।', इत्यादि। वही इतिहास जब फल श्रुति, प्रयोजन, अधिकारी तथा सम्बन्ध-वर्णनसे संयुक्त हुआ तब उसकी संज्ञा कथा हो गई। अतः कहते हैं कि 'रामकथा गिरिजा मैं बरनी'। प्रश्न हुआ था—'बरनहु रघुबर बिसद जस श्रुति सिद्धांत निचोरि। १। १०९।', उत्तर हो रहा है कि रामकथा गिरिजा मैं बरनी।' (ख) समयकृत दोष जिसका प्रभाव सबपर पड़ता है उसे 'कलिमल' से उपलक्षित किया और व्यक्तिगत अन्तः करणके मलको 'मनोमल' कहा। (ग) इस रामचरितमानस नामक भक्तिशास्त्रका हृदय अयोध्याकाण्ड है जिसमें भक्तोंके चौदह लक्षण वाल्मीकिजीने कहे हैं, जिनमें संपूर्ण रामायण अनुस्यूत है। अतः संपूर्ण रामचरितकी फल श्रुति शिवजी अयोध्याकांडकी फल श्रुतिके अनुकूलही कह रहे हैं। 'कलिमल समन दमन मन रामसुजस सुखमूल। सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल। २। ६।' (यह उस कांडकी फलश्रुति है जो अरण्यकांडमें दी गई है)।

२ 'संसृति रोग····'इति। (क) चूर्ण, गोली (क्योंकि इसमें अनुपानकी आवश्यकता है, चूर्ण और अर्कमें अनुपान नहीं होता) और अर्क (क्योंकि श्रवणपुटसे पान करना कहा है) ये तीन प्रकारकी दवायें रामचरितमानसमें भवरोगके लिये लिखी हैं। यथा 'अमिय मूरिमय चूरन चारु। समन सकल भवरुज परिवारू। १। १। २।', 'रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति रूरी।' 'संसृतिरोग सजीवन मूरी।', (यह अर्क है क्योंकि इसीमें कहा है—'करै श्रवन पुटपान') इससे भवरोग जाता है अतः सुखमूल है। (ख) वेदमें जो कुछ कहा गया है उसका साक्षात् या परंपरागत रामसे सम्बन्ध है, अतः वेदमें रामकथाही है। यथा 'जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जस।'

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पंथाना॥ ३॥
अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई॥ ४॥
मनकामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥ ५॥
कहहिं सुनहिं† अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—केर = के। पाँउ (पाँव) देना=पैर रखना। पंथाना=मार्ग, रास्ते। अनुमोदन (सं०)= प्रसन्नताका प्रकाशक; खुश होना, समर्थन (श० सा०)। कहने सुननेमें सहायता करना। (त्रि० त्रि०)।

अर्थ—इसमें सुंदर सात सोपान (सीढ़ियाँ) हैं। ये सब श्रीरघुनाथजीकी भक्तिके मार्ग हैं। ३। जिसपर अत्यन्त भगवत् कृपा होती है वही इस मार्गपर पैर देता (रखता) है। ४। जो यह कथा कपट छोड़कर गाते हैं वे मनुष्य मनोरथकी सिद्धि पाते हैं।५। जो इसे कहते, सुनते, अनुमोदन करते हैं वे भवसागर को गौके खुरके (जलके) समान पार कर जाते। ६।

नोट—१ 'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना।०' 'अति हरिकृपा जाहि पर होई।०' इति।—ऐसाही बालकांडमें कहा है, यथा—'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मनु माना॥ बा० ३७।१।' 'आवत एहि सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई॥ बा० ३८। ६।', 'जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥ बा० ३८।'

† 'कहे सुने' (का०)। रा० प्र०—भाव यह है कि जो स्वयं कह नहीं सकते वे औरोंके कहनेसे सुनकर अनुमोदन करें तो वे अपार भवसागरको गोपद सरीखे पार कर जायँ। अनुमोदनमें यह भी भाव है कि सुनकर प्रसन्न होते हैं और अघाते नहीं, यथा—'रामकथा जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं'॥ 'कहहिं सुनहिं' पाठका भाव कि 'कहैं आपसे, सुनहिं आनसे'।

२—श्रीरामसमीप पहुँचानेके लिए यह राजमार्ग है, शाहराह है, इसी भावसे इसको पन्थ अर्थात् मार्ग कहा, यथा—'गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो'—(वि० १७३)। पुनः, यथा—'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई' (बा० १३)।

३—प्रत्येक सोपानका नाम भी उस सोपानके अंतमें ग्रन्थकारने स्वयं बता दिया है। कि० ३० की टिप्पणी २ देखिए।

वि० त्रि०—१ (क) 'सप्त सोपाना' इति। गोस्वामीजीने रामचरितमानसको काण्डोंमें विभक्त न करके सोपानोंमें विभक्त किया। बाल आदि नाम संभवतः लोगोंने पीछेसे रख लिया। (ख) सब सोपान पृथक्-पृथक् भक्तिमार्ग हैं। यह अद्भुत सरोवर है। जिसमें प्रत्येक सोपानसे जलकी प्राप्ति होती है और प्रत्येक सोपानके जलके पृथक् पृथक् गुण हैं, उसीको फलश्रुति कहते हैं। सातों सोपानोंके जलके गुण क्रमशः ये हैं—(१) 'तिन्ह कहँ सदा उछाह मंगलायतन रामजस', (२) 'सादर सुनहिं जे तिन्हपर राम रहहिं अनुकूल', (३) 'रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग', (४) 'तिन्हके सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि', (५) 'सादर सुनहिं ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान', (६) 'बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान' और (७) 'बिमल कथा हरिपददायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी। ५२। ५।'

२ 'अति हरिकृपा…' इति। (क) भक्तिशास्त्रमें सब कुछ हरिकृपा परही अवलम्बित है। 'अति' का भाव कि हरिकृपासे नर-शरीर मिला, विशेष कृपासे सत्संग मिला, रामकथा सुनी, पर उस कथामें जो सात रास्ते हैं, उन रास्तोंमें पाँव रखना हरिकी 'अति कृपा' सेही संभव है। (ख) 'पाँव देइ'—भाव कि कथा सुन लेना दूसरी बात है, परन्तु तदनुसार बर्तना महादुष्कर है। बर्तनेकी ओर प्रवृत्तिही नहीं होती।

३ 'मन कामना सिद्धि नर पावा।…' इति। भाव कि मनः कामनाकी सिद्धिके लिये लोग संकल्प पूर्वक अनुष्ठान करते हैं, संकल्प न करनेसे अनुष्ठानका यथावत् फल नहीं होता। फिर अनुष्ठानके असंख्य कठिन नियम हैं। परन्तु यहाँ दूसरी बात है, यहाँ कोई नियम नहीं। यहाँ तो किसी फलकी आकांक्षा न रखकर इस कथाका आनन्दमें विभोर होकर गान मात्र करनेसे मनः कामना आपसे आप सिद्ध हो जाती है। बस यही एक गुण अपेक्षित।—[वर्णाश्रमकी गंध, मान, बड़ाई, लोकरंजना आदि सब कामनायें 'कपट' हैं। (करु०)। १२७ (४) देखिए]

४ 'कहहिं सुनहिं…' इति। भाव कि रामायण प्रतिपादित 'राम' को ब्रह्म जानकर उनकी कथा कहना, सुनना या कहने-सुननेमें सहायता करनेका यह फल है कि अनायास लोग भवसागर पार कर जाते हैं और जो ब्रह्मसे भिन्न मानकर कहते सुनते हैं वे अधम हैं। यथा 'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।' 'गोपद इव' का भाव कि इनके लिये भवसिंधु बिल्कुल सूखा-सा हो जाता है, वे उसे अनायास पार कर जाते हैं जैसे गौके खुरके गढ़ेको लाँघ जानेमें परिश्रम नहीं होता।

नोट—४ 'अनुमोदन' में गीताके 'तुष्यन्ति च रमन्ति च। १०। ९।' का भाव भी आ जाता है। अर्थात् जो वक्तागण प्रभुके गुण-प्रवचनसे सन्तुष्ट हो जाते हैं और जो श्रोतागण उस असीम अतिशय प्रिय गुण श्रवणसे परम आनंद लाभ करते हैं वे भवसागरको अनायास तर जाते हैं।

रा० प्र०—कोई ऐसा कहते हैं कि कथाका माहात्म्य ग्रन्थमें कई ठौर लिखा है जैसे कि 'रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि०', फिर बा० ३१ (४) 'निज संदेह मोह भ्रमहरनी' से दोहा ३२ तक, जन्म समय, उपवीत, विवाह, भरतचरित्र, इत्यादि अनेक स्थलोंपर माहात्म्य कहा गया। यहाँ जो कहा गया वह सबका सार है। [यहाँ प्रथम निदर्शना अलंकार है। 'गोपद इव०' में पूर्णोपमा है]

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोलीं गिरा सोहाई ॥ ७ ॥
नाथ-कृपा गत मम संदेहा। रामचरन उपजेउ नव नेहा ॥ ८ ॥

दोहा—मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी रामभगति दृढ़ बीते सकल कलेस ॥ १२६ ॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) सब कथा सुनकर श्रीपार्वतीजीके हृदयमें वह बहुत अच्छी लगी और वे सुंदर वाणी बोलीं। ७। हे नाथ! आपकी कृपासे मेरा संदेह जाता रहा और श्रीरामजीके चरणोंमें नया (अपूर्व) प्रेम उत्पन्न हुआ। ८। हे विश्वेश (जगत्के स्वामी)! आपके प्रसादसे मैं अब कृतकृत्य हुई, मुझमें दृढ़ रामभक्ति उत्पन्न हुई और मेरे समस्त क्लेश बीत गए। १२६।

नोट—शिवजीका कथन समाप्त हुआ। याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीसे यह सम्वाद कहा है; अतः अब वे उसकी इति लगाते हैं। 'सुनु सुभ कथा भवानि०। बा० १२०।' उपक्रम है, 'सुनि सुभ कथा०' उपसंहार है। बीचमें शिवपार्वतीसंवाद है। अब पार्वतीजी अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हैं। गरुड़जी और पार्वती-जीको समानही संदेह थे, अतः दोनोंके अन्तिम वाक्यभी एकसे हैं, मिलानसे स्पष्ट हो जायगा। जो भाव एक जगह लिखे गए वेही दूसरी जगह हैं—

श्रीगरुड़जी	श्रीपार्वतीजी
१२४ बोलेउ प्रेमसहित गिरा गरुड़ बिगत०	१ गिरिजा बोलीं गिरा सुहाई १२६। ७
१२५ (१) मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी	२ मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद १२६
,, (२) रामचरन नूतन रति भई	३ रामचरन उपजेउ नवनेहा,
,, (३) मायाजनित बिपति सब गई	४ बीते सकल कलेस १२६
,, (६) तव प्रसाद सब संसय गएऊ	५ नाथकृपा मम गत संदेहा १२६। ८

६—'गएउ गरुड़ बैकुंठ तब १२५' क्योंकि वे वैकुण्ठमें रहते हैं और कथा नीलगिरिपर सुनी है। उमा-महेश्वर-सम्बाद कैलाशपरही हुआ है, यह 'सदा जहाँ सिव-उमा निवासू बा० १०५। ८।' में प्रसंगके प्रारम्भमें ही कह आए हैं, अतः इनका जाना न कहा गया।

☞ मिलानसे यह भी स्पष्ट कर दिया कि १—कथाके श्रवणका फल है—बिगत संदेह होना और श्रीरामपदमें अनुरक्ति होना। यदि ये न हुए तो विश्वास माने कि उसने कथा नहीं सुनी। २—'गिरा सोहाई'=प्रेमसहित बिगत-सन्देह सुन्दर वाणी। नवनेह=नूतन रति। क्लेश=मायाजनित सब विपत्ति (मोह, सन्देह, इत्यादि)।—[करु०—अति भाई=अत्यंत भावसे।] ३—रामचरणमें 'नूतन रति', तथा 'नवनेह' अब अन्तमें कहनेका तात्पर्य्य कि अब रामरहस्य और ज्ञानभक्ति-भेद दोनों सुन चुके हैं जिसका फल भुशुण्डीजीने यही कहा था कि—'जो सुनि होइ रामपद प्रीति सदा अवछीन। ११६।' अतः उसके सुननेपर 'नूतन रति' कहा अर्थात् अब अविच्छिन्न प्रेम होगया।

प्रारम्भमें पार्वतीजीने सम्बोधन किया था—'विश्वनाथ मम नाथ (पुरारी)'। यहींसे उमामहेश्वर संवादका प्रसंग है, अतः उसका उपसंहार भी उन्हीं शब्दों पर किया गया है—'तव प्रसाद बिस्वेस' 'नाथ कृपा गत संदेहा'। उपक्रममें बारंबार कृपा करके कथा कहनेको कहा है और यह भी 'कि जासु भवन सुर-तरु तर होई। सह कि दरिद्रजनित दुख सोई' इत्यादि; अतः अन्तमें 'तव प्रसाद' 'नाथ कृपा' से कृतकृत्य होना कहा।

वि० त्रि०—१ (क) 'हृदय अति भाई'—गिरिजाजीके प्रश्न शंकरजीको अच्छे लगे थे, यथा 'प्रश्न उमाके सहज सुहाई। छलबिहीन सुनि शिव मन भाई। १। १११। ६।', इसी भाँति शंकरजीके उत्तर गिरिजा-जीको भाये। पुनः भाव कि पहले उन्हें कथा नहीं भाई थी, (अगस्त्यजी कहते रहे, इन्होंने सुना ही नहीं, केवल शिवजी सुनते रहे ये। यथा 'रामकथा मुनि बर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी।' (ख) 'सोहाई' गिरा वही कहलाती है जो अच्छी लगे; अतः 'सोहाई' और 'भाई' का साथ रहता है। यथा 'जामवंत के बचन

सोहाए। सुनि हनुमान हृदय अति भाए।', 'आश्रम एक पुनीत सोहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा।', 'तासु कनकमय सिखर सोहाए। चारि चारु मोरे मन भाए।', इत्यादि।

२ (क) 'मम संदेहा'—'संदेह यह था कि 'जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि। १। १०८।' वह संदेह जाता रहा, यथा 'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह। जानेउँ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह। ५२।' (ख) 'नव नेहा' का भाव कि नेह पहले भी था, यथा 'तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं।'; पर अब जो नेह है वह दूसरा है। नव=अपूर्व; यथा 'ये दारिका परिचारिका करि पालबी करुना नई।', 'बिगरी सुधारै कृपानिधि की कृपा नई।' (ग) प्रभुमें नव नेह कहकर अस्मिताका दूर होना कहा, यथा 'हित हमार सियपति सेवकाई।'

३ (क) कृतकृत्य भइउँ अब'—जबतक कोई कृत्य शेष रहता है तब तक कोई कृतकृत्य नहीं होता और जबतक रागद्वेष है तब तक कृत्य भी निःशेष नहीं होता। जगत्को राममय देखनेसे ही राग-द्वेषकी सम्यक् प्रकारसे हानि होती है; यथा 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।' अतः कृतकृत्य कहकर रागद्वेषकी हानि कही। (ख) 'तव प्रसाद'—प्रश्न किया था कि 'जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिअ सत्य मोहि निज दासी॥ तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥'; अतः समाधान सुनकर कहती हैं कि 'मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद०'। (ग) 'रामभगति दृढ़ ऊपजी'—भाव कि संशय का नाश होनेपर भक्तिमें दृढ़ता आई। दृढ़ भक्तिवालेको देहकी ममता नहीं रह जाती; यथा 'तुलसी मंगल मरन तरु रामप्रेमपय सींचु।'—इससे अभिनिवेशका नाश कहा। (घ) 'बीते सकल कलेस'—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेश और अभिनिवेशको क्लेश कहते हैं। यथा 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। योगसूत्र।'; ये पाँचों दूर हो गए। (जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है)।

यह सुभ संभु-उमा-संबादा। सुख संपादन समन बिषादा॥ १॥
भव-भंजन गंजन संदेहा। जन-रंजन सज्जन-प्रिय एहा॥ २॥

अर्थ—(महर्षि याज्ञवल्क्यजी श्रीभरद्वाजजीसे कहते हैं कि) यह मंगलकारक शंभु-उमा-संवाद, सुख प्रदान करनेवाला और दुःखोंका नाशक है। १। यह भवका भंजन करनेवाला, संदेहोंका नाश करनेवाला, भक्तोंको एवं प्राणीमात्रको आनन्द देनेवाला और सज्जनोंको प्रिय है। २।

नोट—१ अब याज्ञवल्क्यजी शम्भु-उमा-सम्वादकी फल-श्रुति कहते हैं जैसे शिवजीने भुशुंडि-गरुड़-सम्वादकी कही थी। १२६ (१-३) देखो। शम्भु-उमा-संवादके वक्ता वा श्रोताको कहीं आना-जाना नहीं है, दोनों कैलास पर रहते हैं और वहीं संवाद हुआ; अतः याज्ञवल्क्यजी 'यह सुभ संभु उमा संबादा' कहकर उस संवादकी इति लगाते हैं। संवाद समाप्त होते ही कहा है, अतः 'यह' कहा। २—'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा-संभु-संबाद। १। ४७।' उपक्रम है और 'यह सुभ संभु उमा संबादा' उपसंहार है। उपक्रममें इसका फल कहा था—'सुनु मुनि मिटिहि बिषाद। बा० ४७।' और उपसंहारमें 'सुखसंपादन समन बिषादा' कहा।

वि० त्रि०—१ 'समन बिषादा' इति। विषादयोग होनेपर ही हमारे यहाँ उपदेशकी विधि है। भगवद्गीतामें पहले ही 'अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः' चलता है। यहाँ पहले उमाको विषाद हुआ। यथा 'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा।' (और संशयमें ही तर्कसे विषाद होता है, यथा 'संसय सर्प ग्रसन उरगादा। समन सुकर्कस तर्क बिषादा।')। फिर गरुड़को विषाद हुआ; यथा 'बंधन काटि गएउ उरगादा। उपजा हृदय प्रचंड बिषादा।' तत्पश्चात् भरद्वाजको विषाद हुआ, यथा 'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा-संभु-संबाद। भएउ समय जेहि हेतु जेहि सुनि मुनि मिटिहि बिषाद।'—

सो यह श्रीरामचरित तो विषाद मिटानेकी औषधि ही है; अतः कहते हैं कि 'समन बिषादा।' इसमें केवल विषादाभावात्मक सुख ही नहीं है बल्कि भावात्मक सुख भी है; यथा 'मोह-जलधि बोहित तुम्ह भए। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दये।' संसार वृक्षके दो ही फल हैं—सुख और दुःख, और 'दुःखका नाश तथा सुख की प्राप्ति', इतना ही पुरुषार्थ है। उमा-शंभु-संवादसे ये दोनों होते हैं।

२ 'भवभंजन...'—उमा-शंभु-संवादके श्रवणमात्रसे भवभंजन हो जाना है, यह इस संवादकी विशेषता है। भक्तिलाभ भुशुंडिगरुड़संवादकी विशेषता है, यथा 'मुनि दुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।' संदेहोंका नाश होना, हृदयका रामरंगमें रँग जाना (जनरंजन) और सज्जनोंको प्रिय होना ये गुण तो संवादोंमें है।

नोट—३ 'भवभंजन गंजन संदेहा।...', यही रामकथाका फल कहा है, यथा—'निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भवसरिता तरनी॥' 'बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।' बा० ३१ (४-५), 'सज्जन कुमुद चकोरचित हित बिसेषि बड़ लाहु। बा० ३२।' संवादमें श्रीरामकथा है ही। इसके भाव बा० ३१ (४-५), बा० ३२ में देखिए।

करु०—'सुखसंपादन' इति। भाव कि परमानन्दस्वरूपको तो उद्यत करता है और वर्णन 'करत संते' (करनेमें) वह सुख सुकृती जीवोंको जना देता है, दिखा देता है और प्राप्त कर देता है।

राम-उपासक जे जग माहीं। यह सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं॥ ३॥
रघुपति-कृपा जथा-मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥ ४॥

अर्थ—संसारमें जो रामोपासक हैं, उनको इसके समान प्रिय कछु नहीं है। ३। श्रीरघुनाथजीकी कृपासे मैंने यह सुंदर पवित्र चरित अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन किया। ४।

पं०—जैसी मति श्रीरामचन्द्रजीने कृपा करके दी उसके अनुसार गाई।

नोट—१ यह भरद्वाजप्रति याज्ञवल्क्य-वाक्य हैं। अपने कथाकी इति वे यहाँ लगाते हैं। 'तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई। १। ४७। ५।' उपक्रम है और '...गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा' उपसंहार है। २—'पावन चरित', 'जथा मति', 'गावा' और 'सुहावा' के भाव पूर्व आ चुके हैं।

राम उपासक

करु०—'राम उपासक जे जग माहीं।' इति। (क) उपासना, यथा—'गुरुमंत्रानुसारेण लयं ध्यानं जपं तथा। पाठं तीर्थञ्च संस्कारमिष्टं सर्वपरात्परम्॥ इष्टपूजां प्रकुर्याद्धि तत्कथां शृणुयात् पठेत्। तदंशव्यापकं विश्वं कथ्यते ह्युपासना॥ न विधिर्ननिषेधश्च प्रेमयुक्तं रघूत्तमे। इन्द्रियाणामभावः स्यात्सोनन्योपासकः स्मृतः॥ ध्याने पाठे जपे होमे ज्ञाने योगे समाधिभिः। विनोपासनया मुक्ति नास्ति सत्यं ब्रवीमि ते॥ यैः कृतं भक्ति विज्ञानमनन्योपासनां विना। न प्राप्ति भावद्रूपे सत्यं सत्यं वदामि ते॥' (इति महारामायणे)। (करु०)।

नोट—जन (भक्तों) और सज्जनोंके लिये ऊपर कह चुके अब सम्प्रदायविशेषको लक्ष्य करके कहते हैं। उपासकका देश पतिव्रताकासा है। जैसे पतिव्रता अपने पतिसे ही अनुराग करती है और अपने पतिकी प्रसन्नता हेतु पतिके मनके अनुकूल उसके सम्बन्धियोंको सामान्य रीतिसे मानती है, वैसे ही उपासक जन परमेश्वरके अनन्तस्वरूपोंमेंसे उस एक स्वरूपमें, जो गुरुसे प्राप्त हुआ है, रति मानते हैं और अपर स्वरूपोंको, अंश, कला वा विभूति मानते हैं। जैसे चातक एक स्वातिबुंदको छोड़ अपर मेघ (आदिके) जलको मानता ही नहीं—उन्हीं रामोपासकोंसे यहाँ तात्पर्य है। ऐसे उपासकोंको इसके समान दूसरा कुछ प्रिय नहीं है। (ख) 'क्यों दूसरा ग्रन्थ प्रिय नहीं होगा ?', उसका कारण यह है कि इसमें श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप, किशोरमूर्त्ति, द्विभुज अखण्ड एकरस सर्वोपरि निर्विशेष परब्रह्मविग्रहशेष सच्चिदानन्द चिन्मय सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक सर्वशरण्यत्व-कृपा-करुणा-शील इत्यादि विशेषणयुक्त—श्रीब्रह्माशिववाल्मीकि-सनका-

दिक इत्यादिने बताया है उन्हीं श्रीरामचन्द्रजीका प्रतिपादक यह ग्रंथ है, श्रीरामचन्द्र प्रतिपाद्य हैं।

☞ रामोपासक वह हैं जिनको द्विभुज शरचापधारी रघुकुलभूषण राम छोड़ स्वप्नमें भी दूसरे स्वरूपकी शरण नहीं है, जिनके परात्परपरब्रह्म श्रुतिप्रतिपाद्य सर्वावतारी एवं सर्वस्व नित्य द्विभुज 'राम' ही हैं, जिनकी रामही गति हैं, जो चराचरमात्रमें अपने राघव-रामको ही देखते हैं; यथा 'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं', 'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत०'।

उपासनायोग्य वही है जो परात्परतरतत्त्व है, जिससे परे फिर कोई नहीं, जो अशेष-कारणका भी कारण है और स्वयं उसका कोई कारण नहीं है, जो सर्वावतारी है, इत्यादि, इत्यादि। श्रुतियोंमें विरोध-सा भासता है; पर बाबा हरिदासजीकृत भाष्य जो श्रीरामस्तवराज और श्रीरामतापनीयोपनिषद्पर है, उसमें उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया है कि श्रुतिप्रतिपाद्य परात्परतत्व द्विभुज रामही हैं। गोस्वामीजीने भी अपने इष्टदेवको इसी स्वरूप और नामसे दिखाया और प्रतिपादन किया है। कोई भी नाम क्यों न हों, वे सब रामजीके ही हैं पर रामनाम मुख्य है और अन्य सब गौण (गुण वा क्रिया वाचक) हैं।

इसी तरह श्रीमन्नारायणको परात्परतर माननेवाले नारायणोपासक, रुद्रको परात्परतर माननेवाले रुद्रोपासक, विष्णुको माननेवाले विष्णूपासक इत्यादि हुए। परात्परतर तत्व एक ही है, दो नहीं। अतः परात्परतरतत्व मानकर किसीभी नामसे उपासना करें तो वह परात्परको ही प्राप्त होगा, क्योंकि वह चराचर-मात्रमें उसी एक प्रभुको देख रहा है। भजन करते करते वह समय आ जायगा कि प्रभु अपना वास्तविक स्वरूप उसको जना देंगे।

रामोपासकका भाव यह है कि जो अन्यके उपासक हैं वे इस ग्रंथमें रामरूप, रामचरित इत्यादिमें कुतर्क करेंगे, जो रामको परात्परतर नहीं जानते उनको इस चरितमें आनंद नहीं प्राप्त होगा। जिनके 'राम' इष्ट हैं उनको इसके समान कुछ भी प्रिय न होगा, क्योंकि इसमें सर्वत्र 'राम' ही भगवान् प्रतिपाद्य हैं, अन्य नहीं।

श्रुतियों-स्मृतियों-पुराणोंमें जो विरोध भास रहा है वह हमारी ही दुराग्रहका है। वस्तुतः वे सब एक परात्परतत्वको ही विभिन्न रूपोंमें वर्णन करके हमें स्पष्ट करके परमोच्च शिक्षा दे रहे हैं कि ये सब भगवान् उपास्य देव ही हैं, जिस स्वरूपमें तुम्हारी रुचि हो उसीको दृढ़ ग्रहण करो, उसी एकको परात्परतर-तत्व समझो, अन्य सबको उसके रूपान्तर, अंशावतार, सेवक, अंग इत्यादि मानकर एककी दृढ़ श्रद्धा-विश्वाससे उपासना करो। हमारा वही एक 'राम' ही तो सबमें रमण कर रहा है।

यही शिक्षा देनेके लिए श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीका अवतार हुआ और उन्होंने यही किया भी। सर्व श्रुतियोंका सारसिद्धान्त तथा जगद्गुरुभगवान् शंकरसे प्राप्त सिद्धान्त श्रीराम-द्विभुज-शार्ङ्गधर स्वरूप को ही उन्होंने हमारे सामने परात्परतत्व रूपसे खड़ा कर दिया है। उसीको वे निर्गुण, उसीको सगुण, उसीको विराट्, उसीको ज्योति, उसीको सबका नियन्ता, सबका प्रेरक, अशेषकारणपर इत्यादि दिखाया है और सब भगवत् स्वरूपोंको उन्हींसे उत्पन्न, उन्हींके अधीन, उन्हींके रूपान्तर इत्यादि बताये हैं और हमको उपदेश देते हैं कि शास्त्रोंके झगड़ेमें न पड़ो, जो हम कहते हैं वही ठीक मानो और उसीमें लग जाओ। रामनामको रटो, यही नाम सर्वोपरि है, रामरूप धनुर्धरको हृदयमें बसाओ, रामचरित गाओ और सुनो—बस यही उपदेश ग्रन्थमें उनका सार सिद्धान्त है—

'बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजनु नीको मोहि लागत राज-डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥' वि० १७३॥

वै०—रामोपासकोंको इसके समान कुछ प्रिय नहीं है क्योंकि इससे उपासनाके सर्वाङ्ग दृढ़ हो जाते हैं।

वि० त्रि०—१ 'एहि सम प्रिय...' का भाव कि यह देह और प्राणसे भी बढ़कर प्यारा है। क्योंकि 'देह प्रान सम प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं।' पर श्रीरामजीसे प्यारा भी कोई नहीं है, यथा 'राम देत नहिं बनै गोसाईं।' इस तरह सूचित किया कि श्रीरामोपासकों राम-समान प्रिय है। यह कथा सबको सुखदाई है पर रामोपासकोंको विशेष सुखदाई है; यथा 'ता कहँ यह बिसेषि सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई।' और जो जितना सुखदाई है वह उतना ही विशेष प्रिय है।

२ एक ही कथाके प्रति-संवादकी फलश्रुतिमें भेद होनेका कारण यह है कि प्रतिसंवादमें भगवत चरित्र वही होनेपर भी भागवत चरितोंमें न्यूनाधिक्य है। जैसे कि, उमाशम्भु संवादमें गरुड़जीकी कथा अधिक है, भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवादमें उमा-शंभुचरित अधिक है और तुलसीकृतमें भरद्वाजकथा अधिक है।

३ याज्ञवल्क्यजीका जाना नहीं कहा, क्योंकि वे वहीं रह गए। यथा 'भरद्वाज राखे पद टेकी।' नहीं जाने दिया। यहाँ पर भरद्वाजजीका कृतज्ञता प्रकाश भी नहीं लिखा, क्योंकि वे ऐसे प्रेममें मग्न हो गये थे कि उनके मुखसे वाणी ही नहीं निकली। शंकरचरित सुनकर ही उनकी यह अवस्था हुई थी कि 'प्रेम बिबस मुख आव न बानी।' तबसे फिर बोले ही नहीं; कथा पूरी हो गई पर बीचमें एक प्रश्न भी नहीं किया। बीच-बीचमें मुनि (याज्ञवल्क्य) जी बराबर सावधान करते रहे, पर वे कथामें ऐसे डूबे कि भगवान् याज्ञवल्क्यने भी 'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा' कहनेके बाद सम्बोधन करना भी बन्द कर दिया। भरद्वाज जीकी समाहित अवस्था बढ़ती ही गई, अतः कृतज्ञता-प्रकाश न कर सके। दक्षिण घाट समाप्त हुआ।

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥ ५॥
रामहि सुमिरिय गाइअ रामहि। संतत सुनिय राम-गुन-ग्रामहि॥ ६॥

अर्थ—इस कलिकालमें योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत और पूजन आदि दूसरा कोई साधन नहीं है।५। श्रीरामहीका स्मरण, श्रीरामजीका ही यश गान कीर्त्तन करना चाहिए तथा करो और श्रीरामजीके गुण-समूह को ही सदा सुनो—(यही एकमात्र कलिकालमें साधन है)। ६।

नोट—१ (क) ☞ अब गोस्वाजी अपने संवादकी इति लगाते हैं। यहाँसे अब उनके वाक्य हैं। (ख) 'न साधन दूजा' का भाव कि अल्पायु, अल्पबुद्धि, अल्पबल, रोगी शरीर, अल्प धन इत्यादि, यज्ञ, योग, तप, व्रतके बाधक हैं। यज्ञके लिए सामग्री, ऋत्विज जैसे चाहियें वैसे नहीं मिलते। जप और पूजा तथा योगमें मनकी एकाग्रता चाहिए सोभी कलिमें संभव नहीं। अतः इनका साधन हो नहीं सकता। विशेष 'कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार रामगुनगाना। १०३। ५।' में देखिए। जपमें न्यास, प्राण-प्रतिष्ठा, अपनेमें मन वचन आचारकी शुद्धि इत्यादि करना वेद तंत्रमें विधान है; सो अब हो नहीं सकता। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि 'प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन्युगे जनाः। मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥ भा० १। १। १०॥ भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः। ११।' पुनश्च—'तस्मादेकेन मनसा भगवान्सात्वतां पतिः। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा। १। २। १४।' अर्थात् इस कलियुगमें प्रायः समस्त प्राणी अल्पायु, मंदबुद्धि, शिथिल स्वभाववाले, मंदभाग्य और रोगी होते हैं। संसारमें विभागपूर्वक सुनने योग्य और नाना प्रकारके कर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र बहुत हैं। और बड़े-बड़े यज्ञादि कर्म तो बहुत दिनोंमें करने योग्य हैं (अतः वे निबह नहीं सकते)। सूतजी कहते हैं कि सबका नित्य धर्म यही है कि एकाग्रचित्त होकर भगवान्के गुण सुनें, उनका कीर्त्तन, ध्यान और पूजन करें। [भावकि कालके प्रभावको अन्यथा करनेमें कोई समर्थ नहीं है, किसीकी शक्ति नहीं कि ग्रीष्मऋतुमें गर्मी न पड़ने दे, पर खसकी टट्टी, पंखा आदिसे अपनी रक्षा कर सकता है। सो गोस्वामीजी अपने मनसे कह रहे

हैं कि इस समय घोर कलिकाल तप रहा है, यथा 'सुनु ब्यालाद कराल कलिमल अवगुन आगार।' खल मंडलीमें रहते हुये धर्म निबहने नहीं पाता और जहाँ संसारका संसार पापी होगया, वहाँ धर्म कैसे निबहेगा ? यथा 'खलमंडली बसहु दिन राती। सखा धर्म निबहै केहि भाँती।' (वि० त्रि०)]

२ 'रामहि सुमिरिय गाइय रामहिं०' का भाव कि—(क) ऐकान्तिक स्मरणमें मन लगता हो तो इन्हींका भजन स्मरण करो, एकान्त वा समाज सहित कीर्त्तन अच्छा लगता हो तो श्रीरामजीका ही कीर्त्तन करो, सांसारिक राजाओं इत्यादिका नहीं, यदि गान-विद्यामें निपुण हो अथवा अच्छे वक्ता हो तो रामयशके गवैया एवं वक्ताभी बनो, कथा कहनेका शौक हो तो रामकथाही कहो और सुननेका शौक हो तो रामयशही सुनो, पर-अपवाद वा राजाओं रईसों तथा अन्य-विषयरसकी कथाओंको न सुनो। पुनः, (ख) एकान्तमें अकेले हो तो स्मरण करो, सज्जन सुशील अधिकारी श्रोता मिलें तो उनके साथ मिलकर कीर्त्तन करो, उनसे कथा कहो और यदि अच्छे वक्ताका समागम हो तो उससे चरित सुनो—(पां०)। पुनः भाव कि रामनामका स्मरण करना चाहिए, मुखसे बोलना चाहिए, केवल मानसिक इस कालमें पर्याप्त नहीं है। यथा 'रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे।' उससे मन थके तो गुणगान करना चाहिए। (वि० त्रि०)। मिलान कीजिए—'श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं' (विनय १०४), 'पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं' (विनय १०५)

करु०—चित्तकी वृत्तिमें सुमिरण करे।

खर्रा—मनसे रामगुणोंका स्मरण करे, मुखसे रामगुण गान करे और कानसे रामचन्द्रजीके गुण सुने। यहाँ मन, वचन और कर्म तीनों कहे।

वै०—जब दूसरा साधन है ही नहीं तब उचित कर्त्तव्य यही है कि 'रामहि सुमिरिय०'। 'संतत सुनिय राम-गुन-ग्रामहि' सदा सुनिये। यदि वक्ता न मिले तो रामचरितका गाइए, अधिकारी श्रोताओंको सुनाइये। यदि अच्छे वक्ता श्रोता न मिलें तो रघुनाथजीका सुमिरण कीजिए। भाव कि रामचरितका चिन्तवन कीजिए, अकेलेही ग्रन्थका अवलोकन किया करिये। ऐसा क्यों करें ? इसके लिए आगे कहते हैं कि 'जासु पतित पावन०'। ऐसेही बिरदवालेको भजनेसे काम चलेगा, अन्य से नहीं।

जासु पतितपावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥ ७॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहिं पाई॥ ८॥

अर्थ—'जिसका पतितोंको पवित्र करना बड़ा बाना है' कवि श्रुति, संत और पुराण यही गाते हैं। ७। हे मन! कुटिलता छोड़कर उसे भज। रामभजन करके किसने सद्‌गति नहीं पाई ? अर्थात सभीने पाई है। ८।

नोट—१ (क) 'पतित पावन बड़ बाना'। भाव कि बाने तो बहुत हैं, यथा—'मृषा न कहउँ मोर यह बाना। १६। ७।', 'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रनन्य जाके गति न आन की। ३। १०। ८।' पुनः, यथा—'कोटि बिप्रबध लागहिं जाही। आए सरन तजउँ नहिं ताही। ५। ४४। १।', 'अपि चेत्सुदुराचारो०' (सुं० दोहा ४३ (७) से ४४ तक देखो), 'दीनदयाल बिरदु संभारी। ५। २७। ४।', 'सहज बानि सेवक सुख-दायक। ५।१४। ५।', 'उथपे थपन उजारि बसावन गई बहोरि बिरुद सदई है। वि० १३६।', 'बाँह पगार द्वार तेरें तें सभय न कबहूँ फिरि गए। तुलसी असरन-सरन स्वामि के बिरद बिराजत नित नए। गी० ५। ३२।' इत्यादि। पर यह बाना सबसे बड़ा है। (ख) 'गावहिं कबि श्रुति···' इति। यथा 'बिरद गरीबनिवाज राम को। गावत बेद पुरान संभु सुक प्रगट प्रभाउ नाम को। वि० ९९।', 'दीनदुखदवन श्रीरमन करुनाभवन पतितपावन बिरद बेद गायो। वि० १०६।' (ग) [यहाँ कवि और संत आप्त हैं और श्रुति-पुराण आप्त-वाक्य हैं। अतः शब्दप्रमाणसे सिद्ध हुआ कि श्रीरामचन्द्रका बड़ा बिरद पतितपावन है। कविकी कबिताकी

व्याख्या संत लोग किया करते हैं अतः दोनों को कहा। पुराण वेदके कहे हुए अर्थका ही उपबृंहण (पोषण) करते हैं। अतः इन दोनोंको कहा। (वि. त्रि.)]

२—गोस्वामीजीका सम्वाद अपने मनसे है—'मोरे मन प्रबोध जेहि होई', 'स्वान्तः सुखाय', 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'—यह बा० ३१ (२) उपक्रम है, अतः मनको उपदेश करते हुए वे कथाका उपसंहार करते हैं—'ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई' इत्यादि।

३ (क) 'कुटिलाई'—भक्तिपथमें मनकी कुटिलता बाधक है। भगवान्‌ने श्रीमुखसे भक्तिमार्गमें चलनेवालोंके लिए इसका त्याग कहा है; यथा—'सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई। ४६।२।' वैर, विग्रह, आशा भरोसा (दूसरे का), भय, दुष्ट तर्क, असंतोष इत्यादि 'कुटिलतायें' हैं [लोकमर्यादा (का भय) मनकी कुटिलता है (करु०)। मनके द्वारा जगत्‌मात्रको उपदेशमे 'गुढ़ोक्ति' है। (वीर।)] (ख) 'राम भजे…' का भाव कि तू भजन कर, तेरा इतना ही कर्तव्य है, गति की चिन्ता न कर वह तो वे देंगे ही।

छंद—पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥ १॥

अर्थ—अरे शठ मन! पतितपावन रामको भजकर किसने गति नहीं पाई (कोई हो तो बता)? गणिका (पिंगला, कान्होयात्रा, इत्यादि), अजामिल, व्याध, गृध्र (जटायु, संपाती, इत्यादि) और गजादि अनेक खलसमूहको उन्होंने तार दिया। आभीर (जो समुद्रको दुःख दिया करते थे), यवन (जिसने हराम कहा था), किरात (निषाद भील), खस (खश देशवासी, खासिया पहाड़ी देशवासी), श्वपच (वाल्मीकि नामक, इत्यादि) इत्यादि जो अत्यन्तपापकी मूर्त्ति ही हैं वे भी एक बार जिन..ा नाम लेकर पवित्र हो जाते हैं उन श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ। १।

वि० त्रि०—१ 'पाई न केहि गति सुनु सठ मना' इति। चौपाइयाँ पुरइन हैं और छन्द-सोरठा-दोहा कमल हैं। यथा 'परइनि सघन चारु चौपाई।... छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा। १। ३७। ४-५।' पुरइनमें कली लगती है, पीछेसे वही कली विकसित होकर फूल हो जाती है। यहाँ 'ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहिं पाई।' इस पुरइनमें कली लगी है, इसीका विकसित रूप छन्द है। 'मन। राम भजे गति केहि नहिं पाई' यह कलीका रूप है। मनको शठ कहते हैं क्योंकि यह अनुनय-विनय एक नहीं सुनता। उसीसे पूछते हैं कि तू किसी अधर्मीका नाम बता, जो भजन करने पर भी परमपदका भागी न हुआ हो।

☞ गोस्वामीजी दीनघाटके वक्ता हैं, अतः कथामें जहाँ दैन्यका प्रधान है, वहाँ ये ही बोलते हैं। यथा 'तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकै सरित सनेह की।', 'तुलसी देखि सुबेष भूलहिं मूढ़' इत्यादि। यहाँ भी दैन्यका प्राधान्य है; अतः अपने श्रोता मनको सम्बोधन करते हैं! [☞ पूर्व यह बताया जा चुका है कि जहाँ भक्तिका प्राधान्य है वहाँ भुशुंडिजी और जहाँ कर्मका प्राधन्य है वहाँ याज्ञवल्क्यजीका वाक्य आता है।]

२ 'गनिका अजामिल...' इति। पाँच खलोंकी नजीर (उदाहरण) दी जाती है, जो भजन करनेसे तर गए। गणिकाके अज्ञानकी कौन सीमा, जिसने क्षणिक सुखके लिये शतकोटि कल्पके दुःखपर ध्यान नहीं दिया; अजामिलकी अस्मिताका क्या अन्त, जिसने जन्मभर पाप ही कमाया और घोर संकटके समय

भी परमेश्वरको न पुकारकर अपने लड़केको पुकारा। व्याधके रागका क्या ठिकाना जो कुटुम्बके रागमें पड़ा हुआ हिंसा ही करता रहा। गीधकी द्वेषयुक्त जीविका ही थी, यथा 'गीध अधम खग आमिष भोगी।' गजने अभिनिवेशके वश होकर ही भगवानको पुकारा। अतः इन पाँचोंमें प्रधानतः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशका आधिक्य था। इसीलिये पाँच उदाहरण दिये गये।

३ 'आभीर जमन...' इति। ये जातियाँ अघरूप हैं, इन योनियोंमें जन्म होना पूर्व पापका परिणाम है। इन योनियोंमें भी जो जन्म लेकर भगवान्‌को भजता है वह पवित्र हो जाता है।

[नोट—इनमेंसे बहुतोंकी कथायें पूर्व आ चुकी हैं। 'अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम प्रभाऊ। १। २६। ७।', 'बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥ श्वपच सबरि खस जमन जड़ पावँर कोल किरात। रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात। २। १९४।', ५। ६०। ५ देखिए।]

४ पतित दो प्रकारके हुए, एक जातिसे पतित और एक कर्मसे पतित। (गणिका अजामिल आदि खल थे और आभीर, यमनादि अति अघरूप थे) दोनों प्रकारके पतितोंका उद्धार श्रीरामजीके भजनसे दिखाया।

नोट—व्याधसे 'जरा', 'वाल्मीकि' तथा 'कपोतीको जिसने मारा था कि जिसने वर्षा शीतादिसे उसकी रक्षा की थी, वाल्मीकीयमें विभीषणशरणागतिमें जिसकी कथा है' इत्यादि व्याधा यहाँ अभिप्रेत हैं।

'खस'—इस वंशका वर्णन महाभारत और राजतरंगिणीमें तथा मनुसंहितामेंभी आया है। खश देश वर्तमान गढ़वाल और उसके उत्तरवर्ती प्रान्तका प्राचीन नाम है। इस जातिके वंशज नेपाल, और किस्तवाड़ (काश्मीर) में अब भी इसी नामसे विख्यात् हैं। अ० १९४ में देखिए।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'गनिका...' इति। मन यदि कहे कि 'मुझे बहुत कालसे दसो इन्द्रियोंके द्वारा मलिनता छा गई है, वह कैसे शुद्ध होगी?' उस पर गणिका आदिकी गति दिखाते हैं। जैसे गणिका का पृथ्वीके गुण्डोंका संग था, वह तोतेको नाम रटानेके संयोगसे तर गई। वैसे जीवकी बुद्धि विषयोंके पीछे इन्द्रियदेवोंके साथ व्यभिचारिणी वेश्या हो गई। हृदयमें एकाग्रता नहीं आती, तब मन्त्रार्थ एवं रूपपर वृत्ति रक्खे विना नामजप करना तोतेको रटानेके समान है, जीभ ही तोता है, यथा 'कीर ज्यों नाम रटै तुलसी...'। जैसे तोतेको पढ़ाती हुई वेश्याकी और उस तोतेकी साथ ही मृत्यु हुई, दोनों तर गए, वैसे ही पूरी आयु तक नाम रटन करते हुए इस तरह जपसे भी मुक्ति हो जायगी, इसमें संदेह नहीं। वेश्यागामी अजामिल लिंगेन्द्रियका प्रमादी था। व्याध वाल्मीकिजी पूर्वावस्थामें हजारों ब्राह्मणोंकी हिंसा करनेवाले थे; हस्तेन्द्रियके प्रमादी थे। गृध्र जटायुजी पैरके प्रमादी थे, पक्षियोंमें पक्ष ही पैर हैं, उन्हींसे उड़कर उन्होंने सूर्य का अपमान करना चाहा था। गजेन्द्र मुखके प्रमादी थे, हाथीकी सूँड़ ही उसका मुख है, वह उसीसे वृक्षादि उखाड़नेका प्रमाद करता है। इस एक श्रेणीमें कर्मेन्द्रियके प्रमादी कहे गए।

म्लेच्छ यवन स्पर्श योग्य नहीं था, त्वचाका प्रमादी था। किरात नेत्रोंसे देखकर लोगोंके धन-वस्त्र आदि चुराते थे और हिंसा भी करते थे; अतः नेत्रके प्रमादी थे। खस जातिके लोगोंमें प्रसिद्ध भक्त नहीं पाया जाता। अतः क्रमानुसार इसे रसनाका प्रमादी जानना चाहिए। ऐसे ही आभीरोंको श्रवणका प्रमादी जानना चाहिए। श्वपच जाति नासिकाके मलिन होते हैं, श्वान गीदड़ आदिको भी खाकर पचा जाते हैं, उसकी दुर्गन्धसे उन्हें वमन नहीं होता, इत्यादि इस श्रेणीमें ज्ञानेन्द्रियके प्रमादियोंको कहा है।

अब मनको दिखाते हैं कि देखा? क्या तेरे प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा इन दसोंसे अधिक पाप हुए हैं? जब ये सब जैसे-तैसे नाम लेनेसे तर गए। तब तू क्यों नहीं तरेगा? अतएव श्रद्धा-विश्वासपूर्वक नाम जप, अवश्य कल्याण होगा?

नोट—१ 'कहि नाम बारक...' इति। यथा 'बारक नाम जपत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ।' इससे दिखाया कि नाममें ऐसी महान् शक्ति है कि ऐसे पापरूप लोगोंके पापसमूहोंको तथा उनके पाप

संस्कारोंको भी भस्म कर देती हैं। पूर्व भी कहा है, 'विवसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं। सादर सुमिरन जे नर करहीं। भववारिधि गोपद इव तरहीं। १। ११६। ३-४।' मनुष्यके शरीर में तभीतक पाप ठहरते हैं जबतक वह अपनी जिह्वासे श्रीरामनामका उच्चारण नहीं करता। यथा 'तावत्पापं मनुष्याणामङ्गेषु नृप तिष्ठति। यावद्रामं रसनया न गृह्णाति सुदुर्मतिः। प० पु० पाताल० ३०।५१।', 'सर्ववेदेतिहासानां सारार्थोऽयमिति स्फुटम्। यद्रामरामस्मरणं क्रियते पापतारकम्। तावद्गर्जन्ति पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। न यावत्प्रोच्यते नाम रामचन्द्र तव स्फुटम्॥ त्वन्नामगर्जनं श्रुत्वा महापातककुञ्जराः। पलायन्ते महाराज कुत्र चित्स्थानलिप्सया।...तावत्पापभियः पुंसां कातराणां सुपापिनाम्। यावन्न वदते वाचा रामनाम मनोहरम्। प. पु. पाताल० ३७। ५१-५३, ५६।' (अर्थात्) सभी वेदों और इतिहासोंका यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि रामनामका स्मरण पापोंसे उद्धार करनेवाला है। (श्री आरण्यक मुनिने श्रीरघुनाथजीसे कहा कि) ब्रह्महत्या जैसे पाप भी तभी तक गर्जना करते हैं, जब तक आपके नामोंका स्पष्टरूपसे उच्चारण नहीं किया जाता। आपके नामोंकी गर्जना सुनकर महापातकरूपी गजराज कहीं छिपनेके लिये स्थान ढूँढ़ते हुये भाग खड़े होते हैं।...महापाप करनेके कारण कातर हृदयवाले पुरुषोंको तभीतक पापका भय बना रहता है, जबतक वे अपनी जिह्वासे परम मनोहर रामनामका उच्चारण नहीं करते। रामनाम पापसमूहको इस तरह भस्म कर देता है जैसे अग्नि रूईके पर्वतको क्षणमात्रमें जला डालता है। यथा 'जासु नाम पावक अघतूला', 'अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः। भा० ६।२।१८।' इत्यादि। पूर्वभी बहुत प्रमाण यथास्थान दिये जा चुके हैं। भगवान्‌ने जीवोंके कल्याणके लिये अपने नाममें अपनेसे अधिक शक्ति स्थापित कर दी है। यथा 'स्वयं नारायणोदेवः स्वनाम्नि जगतां गुरुः। आत्मनोऽभ्यधिका शक्तिं स्थापयामास सुव्रताः। प. पु. स्वर्ग० ५०। २४।'—ऐसे पतितपावनको गोस्वामीजी मंगलार्थ नमस्कार करते हैं।

☞ "श्रुतियों स्मृतियों पुराणों सभीमें नामकी महिमा गाई गई है। हम लोगोंको लाख-लाख नाम जपते देखते हैं और स्वयं जपते हैं, फिरभी जो फल सुननेमें आता है वह कहीं देख नहीं पड़ता, इससे हमको उसमें विश्वास नहीं होता",—ऐसा बहुतसे श्रद्धालु नामजापकोंको कहते देखते हैं। इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि हमको उसमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास नहीं है, इसीसे हमको उसमें जो फल हम अनुभव करना चाहते हैं वह नहीं देख पड़ता।—'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई' और 'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा'। हम श्रीमद्गोस्वामीजी, श्रीनामदेवजी, श्रीकबीरजी इत्यादिको अपने सामने आदर्श क्यों नहीं रखते? उनके समयमेंभी तो नाममें विश्वास रखनेवाले कितने थे? पर इन महापुरुषोंने विश्वाससे उसी नाम-बलपर क्या नहीं कर दिखाया? आजभी श्रीअवधमें हमें श्री १०८ महाराज रामशरण मौनीजी इत्यादि श्रीराम-नामकी ध्वजा फहराते दिख रहे हैं, और जो नामका प्रभाव यहाँ जंगलमें प्रत्यक्ष दिख रहा है उसे कौन नहीं जानता? भगवान् श्रीरूपकलाजीसे किसीने प्रश्न किया था उसपर उन्होंनेभी विश्वासके विषयमें ये वचन कहे थे कि श्रीरामनाम मुख्य हैं, विश्वास शून्यवत् है; पर वही विश्वास जब नामके साथ लग जाता है तब उसकी कीमत दशगुण हो जाती है—'रामनाम को अंक है सब साधन हैं सून। अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून॥' †

नामजपका फल यह तो अवश्य होगा कि जापकका कल्याण होगा, वह भवसागरपार हो जायगा, इसमें तो किंचित् संदेह है ही नहीं; पर यदि इससे प्रत्यक्ष लाभ देखना चाहते हैं तो इसमें श्रद्धा और विश्वास चाहिए। फिर पूर्ण विश्वास होनेपर क्या नहीं हो सकता? शिवजी कालकूट पी लेते हैं, प्रह्लादजीकी रक्षा सब आपत्तियोंसे एक रामनाम ही कर लेता है, अगस्त्यजी श्रीरामनामकेही प्रभावसे समुद्र सोख लेते हैं।

† ये महात्मा इस संस्करणके पूर्व ही साकेतवासी हो चुके हैं।

नाममें जैसे जैसे विश्वास होगा तैसे तैसे उसमें प्रेमभी बढ़ेगा, एकएक नामके उच्चारणमें दशा यह होगी—'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। नाम जीह जपु लोचन नीरू'। सोते-जागते, उठते-बैठते, नामबिना कब चैन पड़ेगा ? यह दशा हो जायगी।—'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती', 'प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई'। नामजपका प्रत्यक्ष फल अपनेमें न देख पड़नेका दूसरा कारण और यह है कि हम नाम तो जपते हैं पर दशनामापराध जो पद्मपुराण इत्यादिमें बताए गए हैं, उनसे बचनेका प्रयत्न न करके नित्यप्रति उन अपराधोंको किया करते हैं। अपराधोंकी व्याख्या महात्मा श्रीहरिदासजी रसिकने अपने अप्रकाशित भाष्यमें बड़े विस्तारसे की है। श्रीकृष्णप्रेमभिखारीजी (अंग्रेज़ वैरागी वैष्णव महात्मा) ने पिछली बार मुँगेरमें श्रीहरिनामयशसंकीर्त्तन-सम्मेलनके अवसरपर अपने व्याख्यानमें इनके विषयमें जो कहा था उसका सारांश हम यहाँ देते हैं—

"दश अपराध ये हैं—१ भागवतनिन्दा, २ हरिहरमें भेदबुद्धि, ३ गुरुमें मनुष्यबुद्धि, ४ श्रुतिस्मृति आदिकी निंदा, ५ नाममहिमाको अर्थवाद बतलाना, ६ नामकी कुव्याख्या, ७ नामबलपर पाप करना, ८ अन्य साधनको नामके तुल्य कहना, ९ श्रद्धाहीनको नामोपदेश करना, और १० नाममाहात्म्य सुनकर प्रसन्न न होना।

इनमेंसे और सब तो लोग साधारणतया समझ सकते हैं। यहाँ केवल तीसरे और दशवें पर कुछ लिखा जाता है—३ गुरु भगवान्कीही मूर्त्ति हैं, भगवान्ही हैं, जो किसी खास भक्तके लिए उसके अधिकारके अनुकूलही खास रूप धारणकर उसका हित करते हैं, जितनेके हम अधिकारी होते हैं उतनी ही बुद्धि, उतनीही योग्यताके अनुकूल हमारे भगवान् हमारे लिए गुरुरूप धारण करते हैं। उनमें शक्ति पूर्ण है, पर हममें उसकी योग्यता न होनेसे वह शक्ति प्रकट नहीं होती। वे मनुष्य नहीं हैं पर हम उनमें मनुष्यबुद्धि रखते हैं, उनके उपदेशका तभीतक पालन करते हैं जबतक वह हमारे सिद्धान्तके अनुकूल होता है।" श्रीकृष्णप्रेमीजी अपना अनुभव बतलाते थे कि—"कई बार ऐसा हुआ कि मेरे चित्तमें आया कि हमारे गुरु तो अंग्रेजीशिक्षा पाए नहीं हैं तब उनसे सांसारिक संबंधी बातोंमें उपदेश लेना अथवा उस उपदेशपर चलना ठीक नहीं। उसका फल क्या हुआ ? यही कि मुझे उन कामोंमें सफलता न हुई। और, जब-जब उनके बलपर कार्य किया तब सफलता हुई। तबसे प्रत्येक कार्यमें चाहे वह भगवत्संबंधी हो चाहे सांसारिक उनकेही उपदेशोंका अनुसरण करता हूँ। यह कहना भूल है कि आजकल वैसे गुरु नहीं देखनेमें आते जैसे शास्त्रों, इतिहासोंमें सुने जाते हैं; क्योंकि हमारी योग्यता, हमारे अधिकारके योग्यही भगवान् गुरुरूपसे मिलेंगे। आलू काटनेके लिए छुरीकी ही जरूरत होती है, तलवारकी नहीं।"

गुरु आजभी वैसेही हैं। यदि हम श्रद्धापूर्वक उनकी इच्छा करें तो मिलतेही हैं। हमारे हृदयमें मैल भरा है तब हम दूसरेको मलरहित कब देख सकते हैं ?

१०—"दशवाँ अपराध किससे बचता है ? बिचारिये तो कि यदि हमारे सामने कोई हरिगुण, वा हरिनामका सत्संग करता है तो थोड़ी देर बाद हमारा धैर्य जाता रहता है, हम कहते हैं कि अरे ! यह तो बहुत सुना है, कब ये महात्मा समाप्त करें। सच्चे नामजापक या कथारसिक तो इनके सत्संगमें दिन और रात जानतेही नहीं कि कब आए और कब गए।"

पं० श्रीकान्तशरण—ग्रंथकारने इस छन्दमें अपने दैन्य (प्रपत्ति) घाटके अन्तर्गत कर्मकाण्डके फलकी प्राप्ति दिखाई है। पतितोंका पावन होना शुभकर्मका फल है। तीनों घाटोंके वक्ताओंका आवाहन उन्होंने ही किया है, अतएव यहाँ कर्मघाटवाले याज्ञवल्क्यजीका मत प्रपत्तिके अन्तर्गत दिखाया। आगे छन्दमें अविद्यानिवृत्तिसे ज्ञानका फल और फिर तीसरे छन्द 'सुंदर सुजान...' में स्वरूपका वर्णन एवं महत्व होनेसे उपासनाका सर्वस्व होना दिखावेंगे, क्योंकि शरणागतिमें काण्डत्रयकी व्यवस्था अनायास स्वयं हो जाती है। यथा—'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैषत्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥ इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः। भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति

साक्षात्। भा० ११। २। ४२ ४३।' अर्थात् जैसे भोजन करते हुए प्रत्येक ग्रासपर क्रमशः तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति साथ ही होती जाती हैं, वैसे ही शरणागति करते हुए भक्ति, परेशानुभव (ज्ञान) और विधिवत्कर्मानुष्ठानका फल वैराग्य स्वतः होता जाता है।

नोट—'पाई न केहिं गति...कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते।' इति। श्रीमद्भागवतकी समाप्ति भी इसी प्रकार हुई है। यथा 'नामसंकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्। प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्। १२। १३। २३।' दोनोंने भगवान्के नामका महत्व कहते हुए उनको नमस्कार किया है।

रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥

अर्थ—जो मनुष्य श्रीरघुवंशभूषणजीका यह चरित कहते हैं, सुनते हैं या गाते हैं वे कलिमल और मनके मलको धोकर विना परिश्रमही रामधामको सीधे जाते हैं। †

नोट—'रघुबंसभूषनचरित जे नर...' इति। (क) श्रीरामजी रघुकुलभूषण हैं; यथा 'परमातमा ब्रह्मनररूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा। ४८। ८।', 'निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‍यो। ७। २ छन्द।' 'जे नर' कहकर जनाया कि कोई भी हो, किसी वर्ण या आश्रमका हो, अथवा, चतुर्वर्णोंसे बाहरका हो, किसी भी जाति पाँतिका हो, सबको रामचरितके कहने, सुनने और गानेका अधिकार है। यथा 'जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई। ४। ३०।', 'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी। १। १५। १०-११। (ख) कलिमल = कालकृत दोष। 'कलि केवल मलमूल मलीना' है। मनोमल=व्यक्तिगत अन्तःकरणके दोष। कलिमें लोगोंका मन पापमें डूबा रहता है। श्रीरामचरितके कहने सुनने आदिसे कालकृत दोष और मनोमल दोनों नष्ट हो जाते हैं, मन स्वच्छ हो जाता है, कलिके विकार नहीं रह जाते। कहने, सुनने, गाने मात्रसे ऐसा हो जाता है, रामधामकी प्राप्ति होती है; अतः कहा कि 'बिनु श्रम'। कहने सुनने गानेबजानेमें कौन श्रम! (ग) 'धोइ...सिधावहीं' का भाव कि कलिमल और मनोमलके नष्ट हुए विना रामधामकी प्राप्ति नहीं होती। अतः चरित वह काम पहले ही कर देता है।

पं०—'श्रीरामधाम०'=श्रीरामस्वरूपको प्राप्त होंगे।—[पर यहाँ 'सिधावहीं' क्रिया इस अर्थका निषेध करती है। इससे धामका 'लोक' ही अर्थ यहाँ पर गृहीत है। श्रीरामधामके विषयमें दोहा ४ (४-८) और १५ (३-४) इत्यादिमें लेख आ चुके हैं। 'रघुबंसभूषण' 'कहहिं सुनहिं गावहिं' इत्यादि भी पूर्व आ चुके हैं]।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'इस छन्दमें श्रीशिवजीके ज्ञानघाटका तात्पर्य आना दिखाते हैं, पहले चरितके द्वारा हृदयकी शुद्धि कहते हैं, साथ ही श्रीरामधामकी प्राप्ति भी अभी ही छन्दके पूर्वार्द्धमें कह देते हैं, हृदय-शुद्धिके पीछे अविद्यानिवृत्ति होनेपर परधामकी प्राप्ति होती है; यथा 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमस्नुते। ईशा०।'; अर्थात् अविद्यावाच्यकर्मसे पाप शुद्ध कर विद्यावाच्य ज्ञानोपासनासे मुक्ति होती है। अविद्यानिवृत्ति आगे उत्तरार्धमें कहेंगे, वही ज्ञानोपासनाका कार्य है। फिर वहाँ धामप्राप्ति न कहकर इसो पूर्वार्धके 'रामधाम सिधावहीं' से तात्पर्य जनावेंगे। कलिमल और मनोमल छूटना निष्काम शुभकर्मका फल है, वह चरितसे कहा गया, क्योंकि 'धर्ममार्ग चरित्रेण' (राम० ता० उ०) पूर्व भी कहा है—'रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी।' पुनः सम्पूर्ण चरितके पठन-पाठनसे जब कोई इस

† दशरथसुत जन्मकारणं यः पठति शृणोत्यनुमोदते द्विजेन्द्रः। व्रजति स भगवत्गृहातिथित्वं न हि शमनस्य भयं कुतश्चिदासीत्॥ (अद्भुतोत्तर रामायण ४·८०)। अर्थात् जो पढ़ता, सुनता या अनुमोदन करता है वह भगवद्धामका अतिथि होता है उसे यमका भय कभी कहीं रहता।

ग्रन्थका तात्पर्य समझकर उसे हृदयमें धारण करेगा, तब उसका अविद्याजनित विकार सदाके लिये नहीं रह जायगा, यही आगे 'सतपच चौपाई ..' से कहते हैं।

सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै*।
दारुन अविद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर† हरै ॥ २ ॥

अर्थ—जो मनुष्य 'सतपंच' चौपाइयोंको मनोहर जानकर हृदयमें धारण करते हैं, करेंगे और जिन्होंने धारण किया है उनके दारुण पंचपर्वा-अविद्या-जनित विकारोंको श्रीरघुबर रामचन्द्रजी हरण करते हैं, करेंगे और किया है। २।

नोट—'धरै' 'हरै' में भूतभविष्यत्कालभी जना दिया है।

"सत पंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरे।" इति।

गौड़जी—'सतपंच' का अर्थ लोगोंने अनेक तरहसे किया है। परन्तु मेरा मत है कि यहाँ ग्रंथकार ने एक बहुत आवश्यक और प्रयोजनीय काम किया है। रामचरितमानस भगवान् शंकरका रचा ग्रन्थ है। गोस्वामीजीने इसे भाषा-पद्यमें इस ढंगपर लिखा है कि मूलकी कोई बात छूट न जाय और बाहरसे कोई बात निराधार और अप्रामाणिक जुड़ न जाय। जिस ग्रन्थकी फल-श्रुति—'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहि समुझि सचेता। १। १५। १०। होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगलभागी। ११। सपनेहुँ साँचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहउँ सब भाषाभनिति प्रभाउ।१५।', आरंभमें ही इस प्रकार दी गई है, उसका महत्त्व किसी मंत्र शास्त्र या संहितासे कम नहीं है। इसलिये ग्रन्थकारको इस बातका पूरा ख़याल है कि इसमें किसी तरहके क्षेपक न जोड़े जायँ। यह अंतिम छन्द है, जहाँ मानसकारको ग्रन्थ-संख्या देना ज़रूरी है। रामचरितमानस 'चौपाई रामायण' के नामसे प्रसिद्ध है और बातभी ऐसी ही है कि चौपाई छन्द ही इस ग्रन्थमें प्रधान हैं। पाठकका जी ऊब न जाय इसीलिये बीच-बीचमें छन्द, सोरठा, दोहा इत्यादि देकर चौपाइयोंकी शोभा बढ़ाई गई है। यथा—'पुरइन सघन......सोहा'। इसका प्रमाण यह भी है कि दोहों या सोरठोंके अन्तमें जो संख्या लगाई गई है वह चौपाइयोंके समूहकी संख्या है, दोहों या सोरठोंकी संख्या नहीं है। जैसे बालकाण्डमें १२०वें चौपाई-समूहके अन्तमें तीन सोरठे हैं, परन्तु केवल अन्तिम सोरठेपर चौपाईसमूहका अंकमात्र १२० दिया हुआ है जो कि समूहका अंक है सोरठोंका नहीं। चौपाई पुरइनके पत्ते हैं जो कि रामकी महिमारूपी जलको पूर्णतया ढके हुए हैं। अर्थात् रामयश इन्हीं चौपाइयोंके भीतर है। छन्द, सोरठा और दोहा तो कमलकी तरह निकले हुए हैं, ये शोभा-मात्रके लिये रंग-बिरंगे कमल हैं। ग्रन्थकार जब चौपाइयोंको ही इतना महत्व देता है तो अन्तमें चौपाइयों की ही संख्या वह देदे तो ग्रंथके पद्य-संख्याकी सीमा ऐसी बँध जाती है कि बाहरकी मिलावटका पता तुरन्त लग सकता है। 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार 'सतपंच' का अर्थ होता है—५१००। अर्थात् रामचरितमानसमें आदिसे अन्ततक कुल ५१०० चौपाइयाँ हैं।

इन चौपाइयोंकी गणना कैसे की जाय? छन्दः शास्त्रके पंडित प्रत्येक छन्दके चार चरण मानते हैं। एक चौपाईके चार चरण तो उनके नामसे ही स्पष्ट हैं। परन्तु रूढ़ि इस बातका समर्थन नहीं करती। मानसकारके पहले मलिक-मुहम्मद-जायसीने पद्मावत लिखा, यह भी चौपाईमय ग्रन्थ है। इसमें नियमसे चौदह चरण चौपाइयोंके देकर दोहा रखा गया है। यदि चार चरणोंका प्रमाण माना जाय तो जायसीने सर्वत्र साढ़ेतीन चौपाइयाँ दी हैं। परन्तु साढ़ेतीनका कोई हिसाब नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि जायसीने चौपाईको उसी तरह द्विपदी माना है जैसे उर्दू, फ़ारसीवाले 'बैत' को द्विपदी मानते हैं। गोस्वामीजीने दोनों परिपाटी रक्खी हैं। अयोध्याकाण्डमें आदिसे अन्ततक चारचार चौपाइयोंके समूह हैं इसका

* 'धरहिं' 'हरहिं'—(गौड़जी)। † रघुपति—(पाठान्तर)।

अपवाद कहीं नहीं है।† परन्तु और काण्डोंमें ऐसे नियमका पालन नहीं किया है। किसी चौपाईपुंजमें ग्यारह द्विपदी हैं, किसीमें तेरह और किसीमें आठ, दस और बारहभी हैं। कहीं ऐसे बड़े पुञ्ज हैं कि छत्तीस द्विपदियाँ भी आ गई हैं। अब चौपाइयोंकी गणना किस प्रकार की जाय? पण्डित महावीरप्रसाद जी मालवीयने अपनी टीकामें छन्दः शास्त्रके नियमानुसार चार चार चरणकी चौपाइयाँ गिनी हैं और विषम संख्यावाले पुञ्जकी बची हुई द्विपदीको अर्द्धाली माना है। इस तरह चौपाइयोंकी संख्या पाँच हजार एक सौ नहीं आती।

मालवीयजीकी गणना-पद्धति छन्दः शास्त्रके नियमसे तो ठीक है परन्तु उन्होंने जायसी आदि पूर्व कवियों द्वारा स्थापित रूढ़िपर ध्यान नहीं दिया। मेरी समझमें जिस चौपाई पुञ्जमें द्विपदियोंकी विषम संख्या है उसमें द्विपदीको ही पूरी चौपाई मानना पड़ेगा। यदि पुञ्जमें तेरह द्विपदियाँ हैं तो उन्हें तेरह चौपाइयाँ गिनना पड़ेगा। परन्तु यदि पुञ्जमें सम संख्या है तो चारचार चरणोंकी एक-एक चौपाई गिनना उचित होगा। इस तरह जब हम सातों काण्डोंकी चौपाइयोंकी पूरी संख्या लेते हैं तो वह पाँच हजार एक सौ हो जाती है।

इसका सीधा सादा अर्थ यह है—'पाँच हजार एक सौ मनोहर चौपाइयोंको जान ले। भाव यह है कि आदिसे अन्त तक रामचरितमानसके मनोहर भावोंको अच्छी तरह समझ ले, हृदयंगम कर ले, उनके मनोहर अर्थोंको जो मनुष्य (उर धरे) हृदयंगम कर ले उसके दारुण पंच पर्वा अविद्या जनित सारे विकार भगवान हर लें। अर्थात् वह अपने स्वरूपको पहचान ले। और प्रभुके चरणोंमें पहुँच जाय।'

'सतपंच चौपाई मनोहर जानि'

नोट—रामायणी पंडितोंने इसके अनेक प्रकारके अर्थ किये हैं जैसे कि—

वि० टी०—शतपंच अर्थात् ५०० मनोहर चौपाइयोंको छाँटकर।

मा० म०—इस रामचरित मानसमें ५१०० चौपाईका होना सिद्ध है और छन्द, सोरठा, दोहरा सब मिलकर ६६६० श्लोक हैं।

मा. शं.—रामायण सतपंच है, सच्चा पंच है। इसमें सत्यकी प्रशंसा और असत्यका खण्डन है। जैसे कि 'राज कि रहै नीति बिनु जाने। अघ कि रहै हरिचरित बखाने'। रामायणको सत्यपंच जानकर धारण करे, उसके वचनों पर तत्पर हो जाय, अथवा ५१०० दंडकपद रामायणमें हैं उनको धारण करे।

करु.—(क) अब गोसाईं तुलसीदासजी सातों कांडोंके दोहा चौपाई छन्द समेटकर अनुष्टुप श्लोक की गिनती कहते हैं। 'शत' अर्थात् शत लिखकर उसके वामदिशिमें फिर पाँचका अंक लिखे तो ५१०० होवे हैं। एक चौपाई चार चरणकी होती है। एक एक चरण १६ मात्राका होता है। ऐसे चार चरणका एक चौपाई छन्द होता है। ५१०० छंद इसमें हैं।

(ख) और अर्थ 'सतपंच' शब्दोंको लेकर अपनी उक्तिसे करते हैं—'सतपंच' से तीन प्रकारके पंचोंका बोध होता है। एक तो सतपंच, दूसरे पंच, तीसरे असत्पंच। सतपंच वे हैं जो पंच नियुक्त होनेपर चाहे अपना पुत्र पिता बंधु मित्रही क्यों न हो और चाहे दूसरा शत्रुही क्यों न हो, वे यथार्थही कहते हैं। पंच वह हैं जो समझकर तो कहते हैं पर अपने हित मित्रादिके पक्षमें अधिक कहते हैं। और, असत् पंच वे हैं जो सच्चेको झूठा और झूठेको सच्चा करते हैं।—यह दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टान्त कहते हैं—ग्रन्थकर्त्ता और ग्रंथ तीन प्रकारके हैं। एक शुद्धसात्विक जहाँ केवल परमेश्वर रामचंद्रजी प्रतिपाद्य हों और उनके आश्रय सात्विक देवता, कर्मधर्म, वैराग्य योग ज्ञान ध्यान समाधि भक्तिका शुद्ध वर्णन हो अर्थात् केवल परमेश्वरकी

† अपवाद कहीं-कहीं देखनेमें आता है। जैसे कि दोहा ८, ६४, १७३ में सात सात अर्धालियाँ हैं। पर ऐसा बहुत कम है।

प्राप्ति हेतु इनका वर्णन हो, ऐसा ग्रंथ सतपंच है। जहाँ इन सत पदार्थोंका वर्णन स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये है, वे राजस ग्रंथ पंच हैं। और जिन ग्रंथोंमें तामसी देवताओंका आराधन साधन तथा अर्थ धर्म कामकी प्राप्ति वर्णन है वह असतपंच हैं।............

गोसाईंजी कहते हैं कि यह जो चौपाईछन्द प्रबंध ग्रंथ मैंने किया है, यह सतपंच है, मनोहर है और सत्यवादी है। जीव और मनका जो झगड़ा अनादिकालसे चला आता है उसके चुकानेके लिये यह सतपंच है।

पं०—सतपंच = ५०० । मनोहरका भाव कि भगवद्यशमिश्रित जो परमसुंदर मैंने बनाई है। कलि-वर्णन, रावणदिग्विजय, गंगा, नारदका आगमन, विराधयुद्ध, कपिसंख्या इत्यादि कथायें क्षेपक मानकर इस ग्रंथमें उनको अलग कर दिया है। इसीतरह औरभी क्षेपक होंगी। अथवा, 'सतपंच'=द्वादश। इत्यादि।

शीला—(१) सत पंच=सात पाँच, यह लोकोक्ति है, बोलचाल है। सात कह कर पाँच कहनेका भाव कि अविद्याके सप्तावरण हैं सो सात चौपाइयोंसे सातों आवरण टूटजायँगे, फिर पंच चौपाईसे पंच-विकार श्रीरघुनाथजी हरेंगे। पुनः, (२) ७+५=१२। १२ ही राशिपर सारा जहान और सारे जीव हैं अतः १२ हीसे सबको मंगलकारी होंगे। १२ मासका वर्ष होता है, एक-एक माससे पातक हरनेको एकही एक भी पर्याप्त है। इत्यादि। थोड़ेसे बहुत काम होनेमें चोखापन रहता है, 'बात बहुत काम थोड़ा' में न्यूनता होती है। १०५ बहुत हैं, ऐसा अर्थ करनेमें बहुतसी छटनीमें पड़ जाती हैं।-(रा० प०—सतपंच अर्थात् अल्पसे अल्प।)

पां०—गोसाईंजी अपने काव्यका माहात्म्य कहते हैं कि—(क) इसकी पाँच सात मनोहर चौपा-इयोंको जानकर जो हृदयमें धारण करते हैं उनके कामादि पंच विकार हरण होते हैं। पुनः, (ख) इस पदसे ग्रन्थकी संख्या लिखते हैं। ५१०० ही चौपाइयाँ इसमें हैं, श्लोक छन्द दोहे और सोरठे इसके अतिरिक्त हैं। पुनः, (ग) सब चौपाइयाँ सच्चे पंच हैं इनको जो मनोहर जानकर हृदयमें धरे...। पंच विवाद निबटाते हैं, ये पंचदेवोपासनावालोंके विवादके पंच हैं, जिसका जैसा माहात्म्य है उसका निर्णय करती हैं। इसमें शंका यह होती है कि पंच तो चौपाइयाँ ठहरीं तब पंचविकारको रघुनाथजी क्यों हरते हैं। समाधान यह है कि जो पंच वादी प्रतिवादीसे निर्मल हों तो निबटेरा करके राजसभामें भेज देते हैं और राजा उसीके अनुसार आज्ञा देता है। सो, इन चौपाइयोंके न्यायको रघुनाथजी अंगीकार (करके) वादियोंके आग्रहविकारको हर लेते हैं।

वीरकवि—चौपाइयोंपर सतपंचका आरोप और अविद्यामायाके सहायकोंपर असतपंचका आरो-पण 'समअभेदरूपक अलंकार' है। सतपंचोंके सहायक श्रीरघुनाथजी हैं, यह उनमें अधिकता है। सतपंच चौपाईके अर्थमें बड़ी धींगाधींगी लोगोंने मचा रक्खी है। कोई १०५, कोई ५००, और कोई ५१०० चौपा-इयोंको सतपंच मानते हैं और शेष रामचरितमानसकी चौपाइयाँ उनके विचारसे असतपंच हैं। इसपर लोगोंने अनेक पुस्तकें लिख डाली हैं, यहीं तक इसकी समाप्ति नहीं हुई है। एक सज्जनने गोस्वामीजीके नामसे पुस्तिका लिखकर यही बात कही है। इस महाजालकी कोई हद नहीं है। उन महापुरुषोंको यह नहीं सूझपड़ा कि जिस रामायणकी आदिसे अन्ततक स्थान स्थानमें गोस्वामीजीने भूरि भूरि प्रशंसा की है, फिर वे अपने मुखसे यह कैसे कहेंगे कि केवल ५०० चौपाइयाँ सतपंच हैं और बाकी 'असतपंच'। उनके कहनेका तात्पर्य्य तो यह है कि रामायणकी चौपाइयाँ सच्चेपंचके समान हैं और सच्चा फैसला देती हैं, इनकी सचाईकी सहायता करनेवाले रघुनाथजी हैं। जो इनके निर्णयको हृदयमें धारण करेंगे उनके हृदयसे अवि-द्याके असतपंचोंकी धींगाधींगीका दोष रामचंद्रजी मिटा देते हैं। जैसे लोकमें जो प्रतिष्ठित पंचोंके फैसलेको नहीं मानता उसको अदालत विवश करके मनवाती है। उसी प्रकार रामायणकी चौपाई रूपी सतपंच फैसलेको न मानकर विकार हृदयमें आना चाहेंगे तो बड़ी अदालतके हाकिम उन्हें रोक रक्खेंगे, आने नहीं देंगे।

रा० प०, रा० प० प०, रा० प्र०—सतपंच अर्थात् एक दो भी, अल्पसे अल्प। यहाँ माहात्म्य कथनमें थोड़े कथनका मर्याद है।

नोट—इसी प्रकार कोई 'सतपंच' से ३५ का अर्थ करके इस कांडमें भुशुण्डि द्वारा कही हुई मूल-रामायणकोही अभिप्रेत समझते हैं, क्योंकि उसमें 'कहइ लाग रघुपति गुनगाहा' से 'सुनि सब रामकथा खगनाहा' ॥ तक ३५ अर्धालियाँ हैं। कोई इससे ५७ और कोई ७५ का अर्थ लेते हैं। और अपनी-अपनी भावना अनुकूल महानुभावोंने उस भावनाको गुप्त न रखकर छपाछपाकर प्रकट किया है—ये नामपरत्वकी, ये रूपपरत्वपरक, ये ध्यानवर्णनवाली, ये स्तुतिवाली (इत्यादि)—ही १०५, ५००, ३५, ५७ या ७५ 'संतपंच' चौपाइयाँ मनोहर हैं। जिसका आशय ध्वनिसे यही निकलता है कि अन्य मनोहर नहीं हैं।

श्री स्वामी पं० रामवल्लभाशरणजीका मत है कि 'सतपंच' से पाँच सात (अर्थात थोड़ी बहुत कुछभी) का अर्थ सर्वोत्तम है। यहाँ ग्रन्थकार रामचरितमानसका माहात्म्य कहते हैं कि पाँचसात (अर्थात् कुछभी) चौपाइयोंकोभी जो हृदयमें धारण करेंगे उनकेभी मनोमल धोजायँगे। इसकी तो प्रायः प्रत्येक चौपाई रामनामके अक्षरोंसे युक्त है, अंकित है, पाँचसातका यह फल है, तब समग्रके धारणके फलका तो कहनाही क्या? वह तो अकथनीय है।

"रामचरित तो अपार है—'रामायन सतकोटि अपारा'। तब यह समग्र ग्रंथ उस अपारके सामने ५-७ चौपाइयोंके ही सदृश है। ५-७ बोलचाल है। इससे कविने सारा ग्रन्थ सूचित किया है। अर्थात् यह थोड़ा बहुत जो कुछ मैंने कहा है इसे जो मनोहर जानकर हृदयमें धारण करें उनके कलिमल धुल जायँगे।" यह अर्थभी संगत है पर महत्त्व अधिक श्री पं० रामवल्लभाशरणजी-वालेमें है। बाबा हरिदासजीने जो कहा है कि बात थोड़ी और काम बहुत हो वह यथार्थ ही है।

अच्छे कवि अपने ग्रन्थकी संख्या अवश्य कहीं न कहीं गुप्तरूपसे दे देते हैं वैसेही यहाँ माहात्म्य कहते समय 'सतपंच' से महाकविने ग्रंथकी संख्याभी कर दी है। यहभी अनुमान विशेष ठीक समझ पड़ता है।

भगवान्‌के सभी चरित मनोहर हैं और यह काव्य तो 'शिवकृपा' से सुशोभित है, इसकी चौपाइयाँ साबरमंत्र सदृश फलप्रद हैं तब यह कहना कि अमुक ३५,५७,७५,१०५,५०० चौपाइयाँही मनोहर हैं, कहाँतक ठीक हो सकता है, इसपर विचारवान् पाठक स्वयं विचार करें। क्या राम-रावण-समर-चरित, जिसके विषयमें कहा है कि—'यह रावनारिचरित पावन रामपदरतिप्रद सदा। कामादि हर विज्ञानकर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा ॥' मनोहर नहीं है? नहीं है तो उसे सुरसिद्धादि क्यों प्रसन्नता सहित गान करते हैं और इस चरितके विषयमें शिवजी क्यों कहते कि 'हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रन रंगा'।

इसी तरह चित्रकूट, दण्डकारण्यमें श्रीसीता और लक्ष्मणजीसहित बस कर जो १३ वर्षके लगभग चरितवाली चौपाइयाँ, मारीचकी हार्दिक प्रीति, जटायू और शबरीकी अनुपम गति, यत्रतत्रके श्रीवचनामृत, मगवासियों तथा गुप्त तापसके प्रेमकी कथाएँ, श्रीभरत और पुरवासियोंका प्रेमदर्शन, चित्रकूट दरबार, इत्यादि इत्यादि प्रसंगोंकी चौपाइयाँ क्या मनोहर नहीं हैं? आपको कौनसी अमनोहर लगती हैं? और तो और श्रीरामविलाप तथा श्रीरामप्रलाप ये दोनोंभी मनकी कुटिलता दूर करनेवाले प्रसंग हैं, श्रीरामजीका तिलक सुनकर, पछतानाभी ऐसाही कहा गया है—'हरउ भगत मन की कुटिलाई'। जो मनको हरण करके प्रभुमें लगा दे वही मनोहर है। मनकी कुटिलताको दूर करनेवाला प्रसंग इस प्रकार अवश्यही मनोहर हुआ। सरकारी चरितमें उपदेशही उपदेश तो भरा है। तब ग्रंथको छाँट डालना केवल कुछ इनी-गिनी चौपाइयोंको मनोहर कहना ठीक नहीं जान पड़ता। जिसको इस ग्रंथकी इन इनीगिनी चौपाइयोंमें ही प्रेम हो अन्यमें नहीं, वह कविके मतानुसार रामोपासक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे रामोपासकका लक्षण यह कहते हैं—

'रामउपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं ॥'

'एहि' का निर्देश ऊपर कथित वाक्यकी ओर है—'यह सुभ संभु उमा संबादा।'

☞ अतएव मुख्य तात्पर्य्य तो यही विशेष संगत जान पड़ता है कि जैसे वाल्मीकि, भागवतकार आदिने उन ग्रंथोंका माहात्म्य कहा है कि इसका एक श्लोक, आधा श्लोक या चौथायीही श्लोक पाठ कर लेनेसे परमगति प्राप्त हो सकती है, क्योंकि इसका एक-एक अक्षर अनेक पातकोंका हरण करनेवाला है। यथा—'श्लोकार्द्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्। पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परांगतिम्॥ भा० माहात्म्य ३।३३।' 'गीतायाः श्लोकदशकं सप्तपंच चतुष्टयम्। द्वित्रिएक द्वदये वा श्लोकानां य पठेन्नरः।', 'एकैकमक्षरं पुंसां महापातक नाशनम्'—वाल्मी० माहात्म्य।'

वैसेही यहाँ श्रीमद्गोस्वामीजी इस ग्रंथका माहात्म्य कहते हैं कि ५-७ भी चौपाइयोंका मनन स्मरण करनेसे यह फल प्राप्त हो सकता है। (गीतामाहात्म्य में भी 'सप्तपंच' पद आया है, यह भावकी पुष्टिभी करता है। और साथही साथ गुप्त रीतिसे संख्याभी कर दी गई है जिसमें लोग मेल न कर दें। यही एक ढंग शुद्ध प्रतिकी खोजका है।

हाँ ? अल्पवाचक पाँच सातसे लोग चाहे १०५, चाहे ५००, चाहे १२,३५, ५७, ७५ इत्यादि चाहे जितनी चौपाइयोंका पाठ करें तो हर्ज नहीं, जो उनको बहुत रुचिकर हों वही पाठके लिये चुन लें तो हर्ज नहीं, यह मानसकार उपासककी रुचिपर छोड़ते हैं। है तो साराका सारा ग्रंथ मनोहर, यहाँ तक कि वनगमन तक के लिए कवि 'सुहावा' विशेषण दे आए हैं—'कहेउँ राम बन गवन सुहावा' पर उसमेंसे पाँच सातसे लेकर जितनी और जो जिसके भावानुकूल हों, जितनेकी जिसको प्यास हो, जितनेसे जिसकी तृप्ति हो जाय, जितना जिससे सधे वह उसीका पाठ कर सकता है। इसमें कोई आपत्ति नहीं, आपत्ति इसमें है कि वे हठ करते हैं कि बस हमारी चुनी हुई यही १०५, ३५ इत्यादि मनोहर हैं और इसीको कविने हृदयमें धारण करनेका उपदेश किया है।

यह वादियों-प्रतिवादियोंको स्मरण रहे कि गोस्वामीजीकी लेख-शैलीमें 'स' का ही प्रयोग 'श' के स्थानपर भी है। इस तरह 'सत' के तीनों अर्थ ग्रन्थमें प्रयुक्त हुए हैं—'सात, सौ, सत्य। जैसे कि—'सतसई' (= सप्तशती), 'जौ सत संकर करै सहाई', 'सत हरिभजन०'।

एक महाशय लिखते हैं कि—'शतपंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै', इस पदमें श्रीग्रन्थकारने विशेष प्रेमी उपासकोंको दम्पतिके दिव्य स्वरूप-द्योतक ध्यानकी शतपंचचौपाईरूप गुह्यतम उपायविशेषका उपदेश दिया है। अर्थात् 'पाई न गति' से यहाँतक दोनों छन्दोंमें नाम लीलारूपादि तीनोंका क्रमशः वर्णन किया है।', 'शतपंच चौपाईके नानार्थ तथा नाना भेदपूर्ण अनेक संग्रह हो चुके हैं किन्तु यथार्थ में गोस्वामीजीकी मूल मुखोक्ति पर ठीक विचार कर लेने पर एक अनूत्तम सिद्धान्त स्वतः ही हो जाता है। यह सिद्धान्त प्रमाण तथा युक्तियोंसे भरपूर है, अचल है, अकाट्य है, शंका समाधानसे रहित है।'...'वह है शतपंच चौपाईका निर्णय'। अस्तु 'शतपंच चौपाईके विशेषण कितने हैं ?' 'शतपंचका पूर्णांक विशेषण 'मनोहर' प्रथम विशेषण है। ज्ञातृत्वज्ञेय धर्मविशिष्ट 'जानि' शब्द द्वितीय विशेषण है। कर्तृ अधिष्ठानार्थ पूर्ण 'जो नर उर धरै' यह तृतीय विशेषण है। एवं फलश्रुति प्रधानार्थ पूर्ण 'दारुन अविद्या पंचजनित विकार श्रीरघुपति हरै' यह चतुर्थविशेषण है। इन चार विशेषणों पर गम्भीर गवेषणा कर लेनेसे यथार्थ होने योग्य शतपंच चौपाइयाँ स्पष्ट व्यक्त हो जायँगी।

'शतपंच शब्दमें 'अंकानां वामतो गतिः' लगा देनेसे पंच ५ तथा शत १०० सौ अर्थात् ५१०० चौपाइयाँ होंगी किन्तु यह हो नहीं सकता क्योंकि 'कवितावली रामायण' के बालकाण्डमें श्रीगोस्वामीजीने लिखा है कि 'तुलसी तेहि अवसर लावणतादृश चारि नौ तीन इक्कीस सबै।' यहाँ पर यदि अंकानां वामतोगति लगा दी जाय तो अर्थका अनर्थ ही हो जायगा। इसी प्रकार 'शतपंच' शब्दमें भी वामांकगति

लगानेसे अनर्थ होगा। श्रीगोस्वामीजीके ग्रन्थमें वामांकगत लगानेका अवकाश ही नहीं है। यदि कहो कि शतपंचसे ५०० चौपाइयाँ ही क्यों न ली जायँ तो यह कथन भी असंगत है क्योंकि शास्त्रोंमें संख्या गणना की प्रथा ऐसी है ही नहीं, यदि पाँच सौ कहना होगा तो शतपंच न कहकर पञ्चशत ही कहेंगे, जैसे अष्टोत्तर शत…… इत्यादि क्रम शास्त्र विहित है। अतः शतपञ्चसे १०५ ही चौपाइयोंका ग्रहण होना निर्भ्रान्त निश्चित है।…'

'अब यह प्रश्न उठता है कि ये १०५ चौपाइयाँ किस विषय की होनी चाहिये? इस विषयमें विशेष्य विशेषणपर ध्यान देनेसे पता लगता है। विशेषणके अर्थानुकूल विशेष्य होना ही शास्त्रनिर्णय है। विशेषण 'मनोहर' है अतः मनहरण करनेवाली प्राणधन जीवन प्यारेकी रूपसुधामाधुरीमय छबिछटाको सहजहीमें दर्शादेनेवाली सुंदर मनोहर शतपञ्च चौपाइयाँ होनी चाहियें। और यह 'मनोहर' शब्द शतपञ्च चौपाइयों के कई स्थानोंमें व्यापक भी है, यथा—'सहज मनोहर मूरति दोऊ', 'परम मनोहर चरित अपारा', 'नाभि मनोहर लेत जनु'...इत्यादि।'......'शतपंच चौपाई मनोहर जानि' अर्थात् मनमोहनी प्यारी छबिको शीघ्र ही हृदयमें प्रकट कर देनेवाली 'मनोहर' १०५ चौपाइयाँ श्रीगुरुउपदेश द्वारा सम्यक् ज्ञानद्वारा लक्ष कर लेवे। जो नर 'उर धरे' अर्थात् जो नर जान जाय तो उनको कण्ठ कर ले।

गौड़जी—कुछ लोग 'सत पंच' का अर्थ 'सच्चे' या 'सात्विक' पंच करते हैं। भाव यह है कि इस ग्रंथकी मनोहर चौपाइयाँ सात्विक या सच्चे पञ्चका काम देती हैं। सच्चा फ़ैसला करती हैं और दारुण 'पञ्च पर्वा' अविद्याके बन्धनमें फँसे जीवको रिहाईका हुक्म देती हैं।'—यह भाव बड़ा अच्छा है परन्तु खेद यह है कि पञ्चका रूपक चौपाइयोंके साथ सुसंगत नहीं बैठता। एक तो यहाँ पञ्चायतका कोई प्रसंग नहीं है। दूसरे चौपाई शब्द स्त्रीलिंग है और 'पञ्च' शब्द पुल्लिग है। गोस्वामीजी जैसे उद्भट विद्वान और चतुर कलाकार कवि स्त्रीलिंग उपमेयके लिए पुल्लिंग उपमान रख नहीं सकते और सो भी इतने बड़े महाकाव्यकी रचना करके जिसमें कि ऐसी भूल कहीं नहीं हुई है, यहाँ आकर करें और 'पतत प्रकर्षके' दोषी हों। यह बात कोई टीकाकार स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए 'सच्चे पंच' वाला अर्थ कदापि ग्राह्य नहीं है।

कुछ लोग 'सत पञ्चका' अर्थ करते हैं 'बारह', कुछ पैंतीस, कुछ सत्तावन, कुछ 'एक सौ पाँच' और कुछ पाँच सौ भी अर्थ करते हैं। भुशुंडिजीने जो संक्षिप्त कथा कही है वह पैंतीस अर्द्धालियोंमें है। कहनेवाले समझते हैं कि गोस्वामीजीका इशारा इसी संक्षिप्त कथाकी ओर है। परन्तु इस विचारमें दोष यह है कि वह अंश इस छन्दसे बहुत दूर पड़ गया है। यदि उसका माहात्म्य कहना था तो वहीं कह देते। यहाँ उसका कोई प्रसंग नहीं है। इसलिये पैंतीस अर्थ करना ठीक नहीं है। 'सत्तावन, एक सौ पाँच, पाँच सौ और बारह' अर्थ करनेवाले कुछ चुनी हुई चौपाइयाँ बतलाकर यह कहते हैं कि इनको हृदयमें धारण करनेसे मुक्ति होती है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि गोस्वामीजीके रामचरित-संबंधमें यह कभी नहीं कह सकते कि इतनी ही कथा मनोहर है और शेष मनोहर नहीं है।

कुछ लोगोंका ऐसा कहना है कि मानसकारका यह भाव है कि कोई भी पाँच-सात चौपाइयाँ मनोहर समझकर हृदयमें धर ले। अर्थात् कंठ कर ले और उसपर मनन करता रहे, विचार करता रहे और तदनुसार आचरण करे तो अविद्याजनित विकारोंसे मुक्त हो जायगा। यह अर्थ समीचीन है परन्तु पाँच हज़ार चौपाइयोंमें पाँच-सात चौपाइयाँ कोई खास ऐसी जरूर हो सकती हैं जिनका हृदयमें इस प्रकार धारण कर लेना मुक्तिदायक हो सकता है; परन्तु इसमें भी चुननेकी बात आ गई। ग्रन्थकारका यदि यह अभिप्राय होता तो वह अवश्य ऐसे स्थलोंका निर्देश कर देता। इस लिये यह अर्थभी ग्राह्य नहीं है।

नोट—उपर्युक्त सब लेख प्रथम संस्करणमें दिये गये थे। इधर २० वर्षमें जो और टीकाकारों आदिके लेख हैं वे अब उद्धृत किये जाते हैं—

वि० त्रि—अन्तिम एक सौ पाँच चौपाइयोंको धारण करनेकी पृथक् फलश्रुति है। सम्पूर्ण ग्रन्थको धारण करनेमें जो असमर्थ हैं उनके लिये इसका विधान है। चौपाइयाँ भी मनोहर हैं, धारण करनेमें कोई असुविधा भी नहीं है। बात इतनी ही है कि तोतेकी तरह धारण न करे, जानकर (समझकर) धारण करनेसे ही कथित फल होगा।—वे १०५ चौपाइयाँ 'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी। ११५। १-२।' से प्रारंभ होकर 'जासु पतितपावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना। ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहि नहिं पाई। १३०। ७-८।' तक हैं।

श्रीबैजनाथजीने श्रीकरुणासिंधुजीके पृष्ठ ८३७में दिये हुए भावको विस्तारसे यों लिखा है-'''जो सदा सत्य ही कहते हैं वे सतपंच हैं। सो इस ग्रन्थमें मनोहर सुंदर चौपाईमें सत्पंच वर्णन किये गये हैं। यथा 'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार बिसारद॥ सब कर मत खगनायक एहा। करिय रामपद पंकज नेहा।' यहाँ मन और जीवमें विवाद है। मन संसारको सच्चा कहता है और जीव ईश्वरको। दोनोंमें पंचायत बदी गई। मनने लोककर्ता (प्रवृत्तिमार्गके) शिव और ब्रह्माको पंच किया और जीवने संसारको वृथा करनेवाले (निवृत्तिमार्गके) शुक-सनकादिको अपना पंच वरण किया। दोनोंके सम्मतसे पंचोंने नारदको सरपंच बनाया। पाँचोंने मिलकर यह निर्णय दिया कि यद्यपि संसार असत्य है तो भी उत्पन्न तो ईश्वरकी ही इच्छासे हुआ है, अतः संसारमें बना रहे और परलोक साध ले। सर्वसम्मतिसे यह निश्चित करने पर उपाय पर विचार किया तो यह सिद्धान्त किया कि संसारमें परलोक साधनका एकमात्र यही उपाय है कि 'करिय रामपद पंकज नेहा'। इसीसे ये पाँचों पंच सदा हरि-नाम-यशादिका श्रवण-कीर्त्तन करते रहते हैं। इत्यादि सत्पंचोंका मत समझकर जो नर उर धरैं अर्थात् श्रीरामस्नेह होनेके लिये श्रीरामयश श्रवण-कीर्तन करेंगे। पुनः, ग्रन्थकी चौपाइयाँ ऊपरसे मनोहर हैं। अर्थात् इनके श्रवण कीर्तन करनेमें ऐसा लालित्य कि वह मनको हर लेता है। और अन्तरभावसे 'सतपंच' हैं अर्थात् वेद, लोक और साधुमत सम्मत लिये हुए जिसकी जैसी मर्यादा चाहिए उसका वैसा ही कहती हैं, किसीका पक्ष नहीं खींचती हैं। भाव कि यद्यपि मैं अनन्य रामोपासक हूँ, तथापि मैंने सूर्य, शक्ति, शिव, गणेश आदि देवताओंका भी प्रसंग जहाँ आया है वहाँ उन-उनका यथार्थ माहात्म्य वर्णन किया है। इसी तरह ग्रन्थभरमें सब यथार्थ ही कहा है। अतएव इसकी चौपाई 'सतपञ्च' है, यह जानकर अर्थात् इसको सद्ग्रन्थ मानकर; 'जे नर' अर्थात् शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि किसी भी मतका कोई भी पुरुष; 'उर धरे' अर्थात् श्रवण कीर्तन द्वारा हृदयमें धारण करे—उसके विषय-विकार सब श्रीरघुनाथजी हर लेते हैं, उसका अन्तः करण शुद्ध हो जाता है।

सि. ति.—इस चौपाईके अर्थ लोगोंने बहुत प्रकारसे किये हैं, कोई सात-पाँचसे अल्पार्थ लेते हैं, पर उस अर्थमें 'जानि' व्यर्थ हो जाता है।'''५, १२, ३१, ५७, १०५, ५०० के चुननेसे शेषका अनादर होता है। अतः वैसा अर्थ करना अयोग्य है।

ऊपर 'रघुबंसभूषन चरित यह...' इस छंदके पूर्वार्धमें संपूर्ण चरितका फल समष्टिमें कह दिया गया। यहाँ इस 'सतपञ्च चौपाई' से ग्रंथके आवान्तरकी एक खास बात कहते हैं; वह है—ग्रन्थका मुख्य तात्पर्य जिसके जाननेकी बड़ी आवश्यकता है, इसीसे 'जानि' कहा गया है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति, ये छः तात्पर्य-निर्णयके साधन हैं।

उपक्रम—ग्रंथकर्त्ता जिस उद्देश्यसे ग्रन्थ लिखता है, उसे आरम्भ करते हुए प्रकट करता है और उस उद्देश्यकी पूर्त्ति पर ग्रन्थको समाप्त करता है। श्रीरामचरितमानसका प्रारम्भ (उपक्रम) 'जनकसुता जगजननि जानकी। १। १८। ७।' से हुआ है, क्योंकि इस ग्रन्थके प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं, ये दोनों अभिन्न हैं, इनकी चर्चा यहींसे है। अतः उपक्रमकी चौपाई इससे पूर्व रक्खी गई है; यथा 'सुकसनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर बिग्यान बिसारद। प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा।'

इसके पूर्व वन्दना ही है।

यह चौपाई वन्दना क्रमसे भिन्न रक्खी गई है, क्योंकि पूर्व व्यास आदि मुनि एवं वाल्मीकिजीकी वन्दना हो गई, वहीं इसे भी रखना चाहता था। सब वन्दनाके पीछे—'बंदउँ प्रथम भरतके चरना' से प्रारम्भ करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीअंगदादितक नित्य पार्षदोंकी वन्दना हुई। साथ ही 'रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते। जे बिनु काम रामके चेरे।' से जो मुक्त होकर 'बिनु काम' अर्थात् निष्काम भावसे नित्य पार्षदोंके साथ कैंकर्य-निष्ठ हैं उनकी भी वन्दना की, नहीं तो खगमृग आदिके प्राकृत रूपोंमें 'पद सरोज' पद असंगत है। यहीं पर वन्दना पूरी हुई। अब इन सबके सेव्य श्रीसीतारामजीकी वन्दनाकी आवश्यकता हो सकती थी, पर बीचमें 'सुकसनकादि' का वरण किया गया है। इसमें 'भगत' शब्द दीपदेहली है; अर्थात् हे शुक-सनकादि भक्तमें और हे भक्त नारद मुनि और जो मुनिश्रेष्ठ विज्ञानमें विशारद हैं, मैं आप सबसे पृथिवीपर शिर धरकर प्रणाम एवं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अपना जन जानकर मुझपर कृपा करो, अर्थात् इस अपने जनके यहाँ आओ और आकर इस ग्रन्थमें विराजो।

प्रयोजन यह है कि यह ग्रन्थ निवृत्तिपरक है। अतः प्रवृत्तिकी ओरसे माया विरोध करेगी, तब पञ्चायत होगी ही। इसलिये अपने पक्ष (मुमुक्षु जीव पक्ष) के दो सत्पञ्च शुक-सनकादिका वरण किया, क्योंकि ये लोग प्रतिपक्षीके मेली नहीं हैं।...और तीसरे सत्पञ्च श्रीनारदजी हैं, इन्हें सरपञ्च रूपमें वरण किया, क्योंकि इन्हें मुनि विशेषण अधिक भी दिया गया है, ये उभय पक्षके मान्य भी हैं, क्योंकि रावण-कंस आदिके यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधरके तो देवर्षि ही हैं। उभय पक्षके ज्ञाता भी हैं, यथा—'अस कहि चले देवरिषि करत रामगुन गान। हरिमाया बल बरनत पुनि पुनि परम सुजान।' तथा व्यास वाल्मीकिके भी गुरु हैं।

यहाँ अपने पक्षके पञ्चों और सरपञ्चको भी 'भगत' विशेषण देकर अपना तात्पर्य जनाया कि मैं भक्तिपरक ही विषय लिखूँगा। पुनः विज्ञानविशारद मुनियोंको सदस्य रूपमें बैठाया कि जिससे मेरा भक्तिमत विज्ञानयुक्त ही हो। अतः आप विज्ञानपरक अनुमति देते रहें। ऐसे ही शुक आदि तीनोंसे भक्ति परक सहायता चाहते हैं कि जिससे पञ्चायतमें मेरी हार नहीं हो! इस तरह उपक्रममें मुख्य तात्पर्य भक्ति की सिद्धिका है, इतना प्रबन्ध करके ग्रन्थारम्भ किया।

उपसंहार—'बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई। १२१। ११।' पर श्रीगरुड़जीके सातो प्रश्नोंके उत्तर पूरे हो गए। अन्तमें भक्तिका ही सिद्धान्त किया गया। आगे फिर कोई विषय नहीं है। बस, यहींपर पञ्चायत ठन पड़ी; यथा 'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥ सबकर मत खगनायक एहा। करिय रामपद पंकज नेहा।' यही सत्पञ्चोंकी चौपाई है। यही उपसंहारकी चौपाई है। उपक्रमकी चौपाईकी पहली अर्धाली 'सुक सनकादि...' में जो-जो शब्द थे प्रायः वे ही यहाँ भी आये हैं, केवल प्रथम 'सिव अज' ये दो नाम अधिक हैं। जैसे मानसके प्रत्येक प्रसंगमें उपक्रम उपसंहारके शब्दोंका मेल सर्वत्र है, वैसे ही यहाँ भी है। यहाँ पाँच पञ्चोंके नाम आये हैं। इनमें तीन उपक्रमोक्त ही हैं। दो (शिव-अज) के नाम प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि ये मायाकी ओरसे प्रवृत्ति-पक्षके सत्पंच हैं, माया मुद्दई (वादी) है, उसीकी ओरसे चैलेंज (ललकार) है। श्रीब्रह्माजी बुद्धिके देवता हैं और जीवोंके कर्मानुसार सृष्टिके विस्तारकर्त्ता हैं। श्रीशिवजी अहंकारके देवता हैं और कालानुसार संहारकर्त्ता हैं। दिन रात एवं प्रलयरूप कालके नियन्ता सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इनके (आश्रित) नेत्र-रूप हैं। बुद्धिकी कार्यावस्था त्रिधा अहंकार है, उसीसे सृष्टिका विस्तार होता है। कालसे गुण वैषम्य होता है; यथा 'कालाद्गुणव्यतिकरः। भा० २। ५। २२।' और प्रारब्ध कर्मसे स्वभाव निष्पन्न होता है। अतः काल, कर्म, गुण, स्वभावके नियन्ता ब्रह्मा-शिव ही हैं। यही चारों प्रवृत्तिके अंग हैं; यथा 'फिरत सदा

माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा।' और प्रवृत्तिके विकाररूप हिरण्यकशिपु और रावण आदिके वर देनेवाले भी ये ही दोनों हैं। पर ये सत् पक्षके भी पूर्ण ज्ञाता हैं। अतः ये ही दो उस पक्षके सत्पंच हैं।

मायाके प्रवृत्ति पक्षमें पिता-वर्ग हैं और निवृत्तिपरक जीवके पक्षमें पुत्र-वर्ग हैं। जैसे कि सनकादिके पिता श्रीब्रह्माजी हैं। और शुकदेवजीके पिता श्रीव्यासजी हैं और साथ ही ये श्रीशिवजीके अंश भी हैं; यथा 'यन्नामवैभवं श्रुत्वा शंकराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्तः पूजितोऽहं मुनीश्वरैः।' (शुकदेवसंहिता), 'व्यासपुत्रः शिवांशश्च शुकश्चं ज्ञानिनां वरः।' (ब्रह्मवैवर्त पू० अ० १०)।…कर्मवश जीवोंका जन्म होता है और प्रवृत्ति बढ़ती है। वह कर्म मायाके पक्षमें है। अतः उधर पितापक्ष है। दिगंबर और ज्ञानी श्रीशिवजीके प्रति वैसे ही दिगंबर और ज्ञानी शुकदेवजी वाद करते हैं। श्रीब्रह्माजीके चारों मुखोंके प्रति उनके चारो पुत्र (सनकादि) हैं। श्रीनारदजी ध्यान देते हुए विचारते जाते हैं और सदस्य रूप विज्ञान विशारद मुनि लोगभी सुन रहे हैं।

प्रवृत्ति पक्ष—मायाका व्यापार श्रीरामजीका खेल है; यथा 'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे।', 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।' और यह अनादि कालसे है; यथा 'बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।' अतः यह भी किसी भाँति संतुष्ट रक्खी जाय।

निवृत्ति पक्ष—सच्चिदानन्दस्वरूप जीव ईश्वरका अंश है और अविनाशी है। 'अंश' का अर्थ है भाग, हिस्सा। जो जिसका भाग होता है, वह उसके लिये होता है। अतः जीव ईश्वरके लिये है अर्थात् उसीका दास है। यह निज स्थितिसे पृथक् होकर मायावश नाना दुःख पाता है। इसका दुःख छूटना परम आवश्यक है।

इस तरह उभय पक्षके वादका बीजरूप कहा गया। वाद बहुत विस्तारसे हुआ; तब नारदजीने विचारा कि गोस्वामीजीके तात्पर्यसे दोनों पक्षोंका अविरोध है; यथा 'तब रह राम भगति उर छाई।' यह इनका अन्तिम सिद्धान्तवाक्य है। इसीसे दोनों पक्षवाले निर्विकार रहते हैं; यथा 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई।', 'सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ। वि० ८६।', 'जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।' फिर वाद क्यों ? इसके अन्तर्भावको मैं समझा दूँ तो अवश्य ही उभय पक्ष सन्तुष्ट हो जायँगे। ऐसा विचारकर आपने निर्णय किया—'करिय रामपद पंकज नेहा।' इसका भाव समझकर उभय पक्ष सन्तुष्ट हो गये। (भाव दोहा १२२ चौ० १३ में देखिए)।

इन्द्रियग्रामके साथ माया प्रसन्न हो गई क्योंकि इसमें उसे 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं' की विपत्ति अब नहीं होगी। जीवपक्ष भी प्रसन्न हो गया, क्योंकि वह इस पञ्चांग कमलके ध्यानसे भवसागरकी विपत्तिसे दूर हो जायगा, यथा 'पाथोदगात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भवभयमोचनं। आ०। ३२ छंद।'

निदान, ग्रन्थकारने अपना भक्ति सिद्धान्त सत्पञ्चों एवं सदस्योंके द्वारा भी निश्चित पाकर आगे नव असंभव दृष्टान्तोंसे इसे ही पुष्ट किया है; यथा 'श्रुति पुरान सद्ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।' से 'बारि मथे घृत होइ बरु…। १२२।' तक।…बस, इसके आगे मानसके चारों घाटोंका विसर्जन हो गया, अतः, उपक्रम और उपसंहारसे इस रामचरित मानस ग्रन्थका तात्पर्य 'करिय रामपदपंकज नेहा' जाना गया। शेष अभ्यास आदि पाँचोंसे भी दिखाते हैं।

अभ्यास—ग्रन्थभरमें भक्तिहीका सर्वोपरि महत्व बार-बार वर्णित है। यथा 'रामभगति जहँ सुरसरि धारा',…'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू', इत्यादि।

अपूर्वता—जिसके समान फल प्राप्ति प्रकारान्तरसे न हो सके। यथा 'सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जो सुख चाहहिं आन उपाई। ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी।११५।३-४।'

फल—अनेक प्रकारसे जिसे फल रूपमें कहा गया हो। 'जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल

हरि भगति भवानी । १२६ । ७ ।', 'जप तप नियम जोग निज धर्मा' से 'सब साधन कर फल यह सुंदर । ४६ । १-४ ।', 'सब कर फल हरि भगति सुहाई । १२० । १८ ।', इत्यादि ।

अर्थवाद—प्रशंसा-वचन । कवि अपने अभीष्टमतकी जहाँ-तहाँ प्रशंसा भी करता है और दृष्टान्तों एवं इतिहासोंसे भी उसे ही पुष्ट करता है ।···इसी तरह एक लोमश-भुशुंडि-शास्त्रार्थ भी है, जिसमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अत्यन्त अधिक कही गई है । तथा 'सब सुख-खानि भगति तैं माँगी । ८५ । ३ ।', इत्यादि ।

उपपत्ति—विपक्ष-मतका खंडन करके स्वसिद्धान्तका मंडन करना उपपत्ति है । भक्ति सेवक-सेव्य-भावमें होती है । रुक्षज्ञानमें 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहमस्मि' आदिके अनुसंधानसे ब्रह्मके समान होनेकी चेष्टा की जाती है । अतः वह भक्तिका विपक्षी है । भक्तिकी उपपत्ति ग्रन्थकारने प्रधानतया लोमश-भुशुंडि संवादसे की है । इसमें अनेक युक्तियोंसे सगुण-भक्तिका मंडन और निर्गुन-मतरूप रुक्ष ज्ञानका खंडन किया गया है ।

इस प्रकार उपर्युक्त छहों लिंगोंसे इस ग्रंथका मुख्य तात्पर्य 'करिय रामपदपंकज नेहा' यह सिद्ध हुआ, जिसे सत्पञ्चोंने निर्णय किया है ।

मूलके शब्दों पर विचार—सत्पञ्च वे हैं जो यथार्थ निर्णय करें । ऐसा ही यथार्थ निर्णय उक्त सत्पञ्चोंने किया है । उन सबकी चौपाईका सिद्धान्त वाक्य 'करिय रामपदपंकज नेहा' मनोहर है । क्योंकि उसके अर्थमें पाँचों प्राकृत विषयोंसे मनका हरा जाना कहा गया, पाँचों विषय ही भक्तिरूप हो गये । 'जानि' —उपक्रमादि लिंगोंसे वही चौपाई जानी भी गई । 'उर धरे'—उरमें धारण करना प्रेम करना ही उसका भाव है ।···'

यहाँ उक्त तात्पर्यरूपा भक्तिके द्वारा पञ्चपर्वाकेविकाररूप भवभयकी निवृत्ति दिखाई गई ।

'श्रीरघुबर हरे'—रघुबर श्रीरामजीने अपने पञ्च-अंग-कमलों की 'श्री' अर्थात् शोभा एवं उनके गुणोंसे पाँचों विकारोंको हरण किया—यह भी लिखा गया । (पं० श्रीकान्तशरण) ।

नं० प०—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी श्रीमानस-ग्रन्थका माहात्म्य कह रहे हैं कि चौपाइयाँ मनोहर 'सतपञ्च' हैं, ऐसा जानकर जो नर उरमें धारण करेंगे उनमें दारुण अविद्यासे जो पञ्चजनित विकार उत्पन्न हैं उसको श्रीरामजी हरण करेंगे । 'चौपाई' कहनेसे सोरठा, दोहा, छन्द आदि सब आ गये, क्योंकि सोरठा आदिमें भी चार पद होते हैं, जो चार चार चरणके होते हैं वे सब चतुष्पाद अर्थात् चौपाई कहे जाते हैं । 'सतपञ्च' का भाव यह है कि जो सत्पञ्च होते हैं वे सत्यवचन कहते हैं; इसी तरह इस ग्रन्थकी चौपाइयाँ सत्पञ्च हैं, उनका कथन सत्य है । 'सतपञ्च' का भाव समस्त ग्रंथके लिये है, न कि ५०० या १०५ आदि चौपाइयोंके लिये ।···

जो कोई जिस विषयका भावुक हो, वह उस विषयको अच्छा भी कहे और ग्रहण भी करे । परन्तु गोस्वामीजी स्वयं किसी विषयको उत्तम, मध्यम नहीं कहेंगे; क्योंकि उन्होंने सब विषयोंको अपने-अपने स्थल पर उत्तम ही समझकर रक्खा है । पुनः, 'सतपञ्च चौपाई···धरें' ये वचन ग्रन्थकारके हैं और ग्रन्थकारने परिश्रमसे रामचरितमानस ग्रन्थको रचकर तैयार किया है, अतः वे १०५ ही चौपाईको मनोहर नहीं कह सकते । क्योंकि ऐसा कहनेसे शेष सब ग्रन्थ अमनोहर हो जाता है ।

फिर, गोस्वामीजी ग्रन्थमें ऐसे संशयकी बात क्यों लिखेंगे कि १०५ (कुछ संख्यक) चौपाइयाँ मनोहर हैं और उनका पता न लिखें कि ग्रंथमें कहाँ हैं । यदि कोई कहे कि हमने तो पता लिख दिया है तो जैसी १०५ चौपाई उसने लिखा है वैसी चौपाइयाँ ग्रन्थमें और मौजूद हैं तब वही १०५ चौपाई कैसे यथार्थ हुईं । (स्मरण रहे कि ग्रन्थकारने समग्र ग्रन्थके लिये प्रारम्भमें ही ये वाक्य कहे हैं—'संभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी । रामचरितमानस कबि तुलसी ॥ करइ मनोहर मति अनुहारी । १ । ३६ । १-२ ।', 'बरषहिं रामसुजस बरबारी । मधुर मनोहर मंगलकारी । १ । ३६ । ४ ।', 'सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि । तेइ एहि

पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि । १ । ३६ ।']

प. प. प्र.—यद्यपि 'सतपञ्च' के अर्थके विषयमें बहुत मतमतान्तर है तथापि किसीने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया कि 'उर धरै'-पद मानसमें किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'जानि उर धरै' अर्थात् जानकर उरमें धरना कहा है। 'उर धरना' या उसका पर्याय पद मानसमें 'ध्यान करना', 'ध्यान धरना' अर्थमें ही सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है। यथा—'उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू।', 'उर धरि उमा प्रानपति चरना।', 'पौढ़े धरि उर पद जलजाता।', 'मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई।', 'रामचरन पंकज उर धरहू।', 'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई।', 'सोभासिंधु हृदय धरि।', 'संभु चरन उर राखि।', 'जे पद जनकसुता उर लाये।', 'जिन्ह पायन्हके पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ।'

सतपञ्च=७+५=१२। 'सतसई' शब्द गोस्वामीजीने प्रयुक्त ही किया है जिसमें सत=सप्त। श्री मानसमें केवल एक स्थान ऐसा है जहाँ ध्यान करने योग्य केवल बारह चौपाइयों (द्विपदियों) का समूह है और वह है बालकाण्ड दोहा १९९ की १२ चौपाइयाँ—'काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नीलकंज बारिद गंभीरा।' से लेकर 'सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा।' तक। ☞ यह बालरूप रामका ही ध्यान है। ध्यानसे ही अनात्म मल शीघ्र नष्ट होते हैं। 'अविद्यादि पञ्चक्लेशोंका विनाश 'रघुबर' हरै' कहा है, 'रघुबीर' नहीं। रघुबरको 'वीरता' बालकांड दोहा २०८ में दी गई है। ५००, १०५, ५१०० आदिका ध्यान करना भी असंभव सा ही है। सात या पाँच चौपाइयोंमें श्रीरामजीका ध्यान कहीं वर्णित भी नहीं है। पण्डित हरिप्रसाद व्यास (सूर्य महल्ला) का भी यही मत है।

करु०—'अविद्या पंचजनित विकार०' ।• पंच-अविद्या, यथा—'तमोऽविवेकोमोहस्य ह्यन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्यविज्ञेयो ग्रामभेदसुखेच्छ्या। मरणं ह्यंधतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते। अविद्या पंचपर्वैषां प्राहुर्भूतामहात्मनः॥'

गौड़जी—छठी सृष्टि अविद्या मायाकी है। यह पंचवर्ग या पाँच गाँठों वाली कहलाती है। पहली गाँठ है, तम, अंधकार—अपनी असलियतपर परदा पड़ जाना। दूसरी है, मोह अर्थात् अपनी देहको अपना आपा समझ बैठना, अहंबुद्धि। तीसरी है महामोह, अर्थात् विषय-भोगसे देहकी वासनाओंको तृप्त करनेकी इच्छा। तामिस्र चौथी गाँठ है। भोगेच्छाके प्रतिघातसे उपजे क्रोधादि विकारोंका नाम तामिस्र है। पाँचवीं गाँठ है अन्धतामिस्र जिसके भोगके साधन शरीरके छूटनेपर समझता है कि मैं मर गया। इस अविद्याकाभी खनिजोंसे विकास होते-होते मनुष्यों तक उसका पूर्ण उदय होता है। खनिजोंमें तमकी पूर्णता और मोहका उदय है। उद्भिज्जमें तम और मोहकी पूर्णता है, महामोहका उदय है। (तिर्यक्) योनिमें तीनोंकी पूर्णता है और तामिस्रका उदय है। मनुष्यमें चारोंकी पूर्णता है और अन्धतामिस्रका उदय है। अविद्याकी सृष्टि तक प्राकृतिक सृष्टियाँ हैं। इसी अविद्या मायासे जनित नैसर्गिक बुद्धि होती है। इसके आगेकी चार सृष्टियोंमें विद्यामायाका अनुभव जनित बुद्धिका विकास होता है जिससे उसे वैकृतिक सृष्टि कहते हैं। अविद्याकी यह पाँच गाँठें न पड़तीं तो सृष्टि आगे विकास न पाती। [गौड़जीके वैज्ञानिक सृष्टि और विकासवाद नामक लेखसे। विज्ञान भाग ३६, संख्या १]

नोट—यहाँ तक दो छन्दोंमें तीन बातें कही हैं। प्रथम छंदमें नामका महत्व कहा कि नामोच्चारणसे श्वपचादि जो अघरूप हैं वे भी पवित्र होते तथा सद्गति पाते हैं—'पाइ न केहि गति' से 'कहि नाम बारक

• १ करु०—भाव कि पंचप्रकारकी दारुण पंचपर्वा अविद्यासे उत्पन्न जो अनेक प्रकारके विकार हैं उनको दंड देकर ये शुद्ध कर देते हैं, यदि वह पञ्चायतमें आवे और उनका वचन सुने।

२ वीर—अर्थ यह है कि जो इन्हें सच्चापंच जानकर हृदयमें धरेंगे उनके हृदयमें अविद्यामायाके (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि फसादी) पंचोंसे उत्पन्न हुए दोषको श्रीरघुनाथजी हर लेंगे।

पं०—अविद्याजनित दारुण जो कामादिक पंचविकार हैं उनको हरेंगे।

तेऽपि पावन होत'। दूसरे छन्दके पूर्वार्द्धमें रघुनाथजीके इस रामचरितमानसमें कहे हुए समस्त चरितका माहात्म्य कहा कि जो इसे कहें, सुनें या गावेंगे उनके कलिमल विना यत्न वा परिश्रम धुल जायेंगे और वे विना परिश्रम श्रीरामधाममें जा प्राप्त होंगे और यहाँ उत्तरार्द्धमें पाँच सात अर्थात् थोड़ी बहुतभी किन्हीं चौपाइयोंको, हृदयमें धारण करनेका फल कहते हैं कि 'दारुन अविद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे।' दारुण पंचपर्वा अविद्याके बिकार रघुनाथजी हरण कर लेंगे।

इस तरह नाम और चरितका फल एक दिखाया। दोनों पापोंका नाश कर रामधामकी प्राप्ति करा देते हैं। इसके पश्चात् छन्द ३ में स्वयं रघुनाथजीके गुण, उनका निर्वाणप्रदत्व, कारणरहित-कृपालत्व, अनाथों-पर प्रेम—इत्यादि कहे। इस तरह गुण, रूप, नाम और चरित तीनोंका समान माहात्म्य कहा।

वि० त्रि०—'दारुन अविद्या…' इति। भाव कि इन सतपंच चौपाइयोंको जानकर केवल धारण कर लेना साधकका काम है, उसकी पंचपर्वा अविद्याका हरण स्वयं रघुवर करेंगे। पूरे ग्रन्थका गान करनेका फल रामधामप्राप्ति और शतपंच चौपाई ग्रन्थको धारण करनेका फल अविद्याका नाश है; और अविद्यानिशा का नाश तथा रामप्रतापसूर्यका उदय दो वस्तुयें नहीं हैं। निशा समाप्त ही नहीं होतो जब तक सूर्योदय नहीं होता और जब तक निशा समाप्त न हो तब तक सूर्योदयभी नहीं होता, फलतः सतपंच चौपाईको हृदयमें धारण करनेसे अविद्यानिशा नष्ट होती है और रामप्रतापरूपी सूर्यका उदय होता है। रामधामकी प्राप्ति तो मरनेके बाद होगी, और जीते ही रामप्रतापरूपी दिनेशका उदय होनेसे रामराज्यका सुख करतलगत होजाता है

सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम-हित निर्बानप्रद सम आन को॥

अर्थ—सौन्दर्यनिधान, सुजान और दयासागर, जो अनाथोंपर प्रीति करते हैं—ऐसे (विशेषणयुक्त) एक श्रीरामचंद्रजी ही हैं;* इनके समान, विना किसी इच्छाके, विना प्रयोजनके, हित करनेवाला तथा निर्वाण (संसार बंधनसे मोक्ष) देनेवाला दूसरा कौन है? कोईभी नहीं है।

नोट—१ यहाँ एक श्रीरामचंद्रजीकोही सौन्दर्य, सुजानता, दयालुता, अनाथोंपर प्रेम, निष्काम हित, मोक्षप्रदत्वमें अप्रतिम अद्वितीय सिद्धान्त किया है। इनका सा दूसरा नहीं।

२ 'सुंदर'—श्रीरामजी सौन्दर्यनिधान हैं, यथा 'बदन सकल सौंदर्ज निधाना। १। ३२७। ८।', 'सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मन ही मन भाई। १। ३१६। ४।', 'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥ हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहि असि सुंदरताई। ३। १६। ३-४।' (ये खरदूषणके वाक्य हैं। शत्रु और विषयी निर्दयी राक्षसोंपर भी इस सुंदरताका प्रभाव पड़ा, इससे हद है), 'रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै। गी० १। ८२।' श्रीविश्वामित्र महामुनि, ब्रह्मलीन श्रीजनक महाराज, ग्राम नरनारी, इत्यादिकी दशा जो श्रीरामजीको देखते ही हो गई वह तो आप ग्रन्थमें देख ही आये हैं। ऐसा सौन्दर्य किसीका नहीं है यह पूर्व दिखाया जा चुका है।

☞ स्मरण रहे कि 'सुंदर' शब्द इस ग्रन्थमें प्रथम-प्रथम श्रीरामजीके ही लिये विशेषणरूपसे आया है। यथा 'मज्जहिं सज्जन बृंद बहु पावन सरजू नीर। जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर।१।३४।' और यहाँ ग्रन्थके अन्तमें भी यह विशेषण उन्हींके लिये आया है—'सुंदर सुजान…एक राम…'।

३ सुजानोंमें अद्वितीय हैं। यथा—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न रामसम जान जथारथ। अ०

---

* पुनः, 'सो' पदसे जनाया कि यहाँ कथित जितने गुण हैं वे इनकी समान अन्य प्रभुओंमें नहीं हैं। यथा—'ऐसी कौन प्रभु की रीति। बिरुद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति। वि० २१४।' ऋषियोंको छोड़ शबरीके आश्रमपर गए। उसके फलोंके स्वादकी प्रशंसा घर, ससुराल आदि सर्वत्र की कि ऐसा स्वाद हमें कहीं न मिला।

२५३ । ५ ।', 'जानसिरोमनि कोसलराऊ । १ । २८ । १० ।' 'देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान । सबको प्रभु सबमें बसै सबकी गति जान । वि० १०७ ।' [करु०—'सुजान'=सबके अन्तष्करणके भाव-कुभाव, प्रीति वैरको जाननेवाले । यथा 'सबके उर अंतर बसहु जानहु भाव कुभाउ । २ । २५७ ।']

४ कृपानिधानोंमें अद्वितीय कहकर जनाया कि ऐसा जीवोंपर करुणावान् कोई दूसरा नहीं है। जीवपर इतनी कृपा है कि उसके अपराधोंको अपने सिर ले लेते हैं, सोचते हैं कि इसमें सामर्थ्य कहाँ कि यह अपने पुरुषार्थसे हमको प्राप्त कर सके, हमारी इसपर यथार्थ कृपा नहीं हुई इसीसे यह भवमें पड़ा चक्कर खा रहा है । यह कृपा जीवके प्रभु-सम्मुख होनेपर तो हमारे आचार्य्योंने कही ही है । पर इससेभी बढ़कर यह है कि सम्मुख नहीं हुए कोभी इसी गुणसे आपने भवपार कर दिया—

'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी । पावहिं गति जो जाचहिं जोगी ॥
उमा राम मृदुचित करुनाकर । बयरु भाव सुमिरत मोहि निसिचर ॥
देहिं परम गति सो जिय जानी । अस कृपाल को कहहु भवानी ॥ लं० ४४ । ३-५ ।'

५ 'अनाथ पर कर प्रीति' । सुग्रीव अनाथ था कोईभी त्रयलोक्यमें उसकी रक्षा बालिसे न कर सका । श्रीरघुनाथजी चाहते तो बालिसे मित्रता कर लेते तो वह रावणको पकड़कर बाँधके ला देता और श्रीसीताजीके लिए इतना संग्राम न करना पड़ता, न क्लेश उठाना पड़ता, जैसा कि वाल्मीकीयमें उसने स्वयं कहा है । पर उन्होंने उस अनाथका साथ दिया और उसके लिए बालीकी गालियाँभी सहीं ।

☞ पर यदि प्रभुके प्रेमकी अभिलाषा है तो सच्चे अनाथ होना चाहिए । 'अनाथ' शब्दमें सर्व-साधन-शून्य, सर्वोपायशून्य, सर्व-पुरुषार्थहीन, सर्व आशाभरोसा त्याग, एकमात्र श्रीरामजीकाही आशाभरोसा और उन्हींकी करुणा, कृपालुता और रक्षाका पूर्ण विश्वास तथा आत्म-निवेदन इत्यादि सब गुण होने चाहिए । जबतक मनुष्य दूसरे किसी भी मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, ऐश्वर्य्य, संपत्ति, अपने पुरुषार्थ इत्यादिमेंसे किसीकीभी किंचित्‌भी सहायताकी आशा रखता है तब तक वह अनाथ नहीं कहा जा सकता । केवल भगवान्‌के साथ ठगपनेसे काम नहीं चलेगा कि ठाकुरजीके सामने मुँहसे बेगार टाल दी । देखिए सुतीक्ष्णजीके विचार—'एक बानि करुनानिधान की । सो प्रिय जाके गति न आन की' ।—बस यही भाव 'अनाथ' का गृहीत है ।

६ 'अकामहित' । अहल्याको स्वयं वहाँ जाकर, शिलाका वृत्तान्त पूछकर उसे तारा । यह कारण-रहित कृपालुता है । यहाँ कविने स्वयं कहा है—'अस प्रभु दीनबंधु-हरि कारन रहित दयाल । १ । २११ ।' 'ते तुम्ह राम अकाम पियारे'—आ० ६ (६) देखो । पुनः, 'अकाम हित' से जनाया कि और सब कारण पाकर, स्वार्थवश हित करते हैं—'इहै जानि चरनन, चित लायो । नाहिंन नाथ अकारनको हित तुम्ह समान पुरान श्रुति गायो ॥ जननि जनक सुतदार बंधुजन भये बहुत जहँ जहँ हौं जायो । सब स्वारथ हित प्रीति कपट चित काहू नहि हरिभजन सिखायो । सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो । जरत फिरत त्रयताप पाप बस काहू न हरि करि कृपा जुड़ायो । वि० २४३ ।', 'जे सुर सिद्ध मुनीस जोगविद बेद पुरान बखाने । पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने । वि० २३६ ।', 'को न सेवत देत संपति, लोकहूँ यह रीति । दास तुलसी दीन पर एक राम ही के प्रीति । वि० २१६ ।

[करु०—अकाम=जो (प्राणी) किसी बातकी कामना नहीं रखते । वा, अकामहित=निष्काम जन प्रिय है । निर्वाणप्रद, यथा—'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं । अनइच्छित आवै बरिआईं' । निर्वाण-पदसे सभी प्रकारकी मुक्तियाँ यहाँ अभिप्रेत हैं ।]

७ 'निर्वानप्रद सम आन को' । देखिए खरदूषणादि शत्रुओंपर कृपा, कि सबकी दृष्टि राममय होगई और वे सब 'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्वान' । राह चलतेमें कितनोंको मुक्त कर दिया, अयोध्या पुरवासी सभी प्राणियों, जीव-जन्तुओंको अपने साथ परधामको ले गए । इत्यादि अपने रूप,

नाम, चरित और धाम सभीके द्वारा निर्वाण सबको सुलभ कर दिया। आपके नामकी ब्रह्मतारकसंज्ञा है जो और किसीके नामको नहीं प्राप्त है। चरितका माहात्म्य कहा ही है कि निर्वाणप्रद है—'रामचरनरति जो चहै अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान। १२८।' और धामकाभी फल ऐसाही कह चुके हैं—'अवध तजे तन नहिं संसारा' और 'कवनिहुँ जन्म अवध बस जोई। रामपरायन सो परि होई। ९७। ६।' रूपको अर्चाविग्रह आदि द्वारा सुलभ कर दिया। इनके सामने भावपूर्वक स्तुति, शरणागति इत्यादिका वही फल है जो साक्षात् त्रेतामें लोगोंको प्राप्त था।

☞ इस प्रकारके विशेषणोंके क्रमके भाव बहुत बार आचुके हैं।

पं०—दीन अर्थात् सर्वगुणहीन। 'अस बिचारि' अर्थात् अपना यह विरद विचारकर। भयभीर= संसारभ्रम।

नोट-☞ उपास्यमें जो जो गुण चाहिए वे सब यहाँ 'सुंदर सुजान' आदिसे संक्षेपमें कह दिये। बाहर प्रथम सौंदर्यहीपर दृष्टि जाती है, शूर्पणखा तक मोहित हो गई। यदि कोई अधिक सुंदर देख पड़ा तो उसकी ओर आकर्षित हो जानेकी संभावना है, सो आपके समान कोई सुंदर नहीं। आपको देख मन सहित समस्त इन्द्रियाँ आपमेंही डूब जाती हैं। सुजान हैं अतः 'जान जनजीकी', कुछ कहना नहीं पड़ता। कृपानिधान हैं, अतः सदा अहेतुकी कृपा करते हैं और कृपा करते अघाते नहीं। सदा यही समझते हैं कि हमही एकमात्र इसके दुःख दूर करनेको समर्थ हैं। 'अनाथ पर कर प्रीति जो' से सौलभ्य गुण दिखाया। भाव कि जीव यह न शंका करे कि इतने बड़े होकर हमपर क्यों दृष्टि डालेंगे। अतः कहते हैं कि अनाथोंपर तो उनका जैसा प्रेम है ऐसा किसीका नहीं। वे अकाम प्रिय हैं—'बलि पूजा चाहत नहीं चाहत एक प्रेम।' (वि०)

सि० ति०—'एक राम'—भाव कि भक्तोंको रमानेमें भी आप अद्वितीय हैं। यथा 'रामनाम सुविख्यातमभिरामेण वा पुनः। रा. ता. उ०।' इन्हीं गुणोंको विचारते हुए तो दण्डकवनके ऋषियोंने कहा है—'परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज। वाल्मी० ३। ६। २७।', तारानेभी कहा है—'निवास वृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः। आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैक भाजनम्। वाल्मी० ४। १५। १९-२०।' ब्रह्माजीने भी कहा है—'त्वं हि लोकगतिर्देव। वाल्मी० ७। ११०। १०।'—'भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन। वि० १०७।' देखिए।

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥ ३॥

अर्थ—जिनकी लवलेशमात्र कृपासे मंदबुद्धि मुझ तुलसीदासनेभी परमविश्राम पाया उन श्रीरामचन्द्रजीके समान प्रभु कहींभी नहीं है। ३।

नोट—१ (क) पूर्वार्धमें जो कहा उसका अब प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं कि उनके कृपालवलेशसे स्वयं मैंने परम विश्राम प्राप्त किया। (ख) यहाँपर 'कृपा लवलेस' से किस कृपाकी ओर इशारा है? इस बात पर सब टीकाकार चुप हैं। दासकी समझमें यहाँ दो बारकी कृपा जो खास श्रीरघुनाथजीकी इनपर हुई उसीपर यहाँ लक्ष्य है। प्रथम कृपा तो श्रीचित्रकूटमें दर्शन। दूसरी कृपा विनयावलीपर सही। 'तुलसी तो को कृपाल जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित चेति चित करि सो॥ वि० २६४।' प्रथमकी कथा प्रसिद्ध ही है। जब इन्होंने हनुमान्‌जीका पैर पकड़कर हठ किया तब उन्होंने दर्शन करानेका एकरार किया। इस प्रसंगको श्रीवेणीमाधवदासकृत मूलगुसाईं चरितसे उद्धृत करता हूँ—

छं०-हठ ठानि तेहि पहिचानि मुनिवर बिनय बहुबिधि भाषेऊ। पद गहि न छाड़उँ पवनसुत कह कहहु जो अभिलाषेऊ
रघुबीरदरसन मोहि कराइय मुनि कहेउ गद्‌गद बचन। तुम जाइ सेवहु चित्रकूट तहाँ दरस पैहहु चषन॥४॥
दो०—श्रीहनुमंत प्रसंग यह बिमल चरित बिस्तार। लहेउ गोसाइँ दरसरस बिदित सकल संसार॥ २२॥

चित चेति चले चित्रकूट चितय। मन माहिं मनोरथ को उपचय॥
जब सोचहिं आपन मंद कृती। पग पाछ पड़ै जु रहै न धृती॥
सुधि आवत रामस्वभाव जवै। तब धावत मारग आतुर ह्वै॥
यहि भाँति गोसाइँ तहाँ पहुँचे। किय आसन रामसुघाटहि पै॥
इक बार प्रदच्छिन देन गये। तहँ देखत रूप अनूप भये॥
जुग राजकुमार सु अश्व चढ़े। मृगया बन खेलन जात कढ़े॥
छबि सो लखि कै मन मोहेउ पै। अस को तनधारि न जानि सकै॥
हनुमंत बतायउ भेद सवै। पछिताइ रहे ललचाइल ह्वै॥
तब धीरज दीन्हेउ वायुतनय। पुनि होइहि दरसन प्रात समय॥

दो०—सुखद अमावस मौनिया बुध सोरह सै सात। जा बैठे तिस घाटु पर बिरही होतहि प्रात॥ २३॥
सो०—प्रगटेउ राम सुजान कहेउ देहु बाबा मलय। सुक बपु धरि हनुमान पढ़ेउ चेतावनि दोहरा॥ ७॥
दो०—चित्रकूट के घाट पै भइ संतन की भीर। तुलसिदास चंदन घिसैं तिलक देत रघुबीर॥ २४॥
छं०-रघुबीर छबि निरखन लगे बिसरी सबै सुधि देह की। को घिसै चंदन दृगन तें बहि चली सरित सनेह की
प्रभु कहेउ पुनि सो नाहिं चेतेउ स्वकर चंदन लै लिये। दै तिलक रुचिर ललाट पै निज रूप अंतरहित किये।५
दो०—बिरह व्यथा तलफत पड़े मगन ध्यान इक बार। रैन जगाये पवनसुत दीन्हे दसा सुधार॥२५॥

पुनः, विनयका अंतिमपद स्पष्टही है। मूलगुसाँइचरितमें वेणीमाधवदासजी लिखते हैं कि जब अस्सीघाटपर मुनिने निवास किया तब कलिने एक रातको इनके पास आकर इन्हें डाँटा और धमकी दी कि यदि पोथी जलमें न डुबा दोगे तो मैं ताड़ना करूँगा, भस्म कर दूँगा। उस समय आपने हरि श्रीहनुमान्जीका ध्यान किया। हनुमान्जी प्रगट हुए और

'हनुमंत कहेउ कलि ना मनिहै। मोहि बरजत बैर महा ठनिहै॥
लिखि कै बिनयावलि देहु मोहीं। तब दंड दियाउब तात ओहीं॥

दो०—बिदित राम बिनयाबली मुनि तब निर्मित कीन्ह। सुनि तेहि साषीजुत प्रभु मुनिहि अभय करि दीन्ह ५१

साक्षीकी बात गोस्वामीजीने स्वयं विनयपत्रिकाके अन्तिम पदमें प्रकट कही है। यथा 'बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैंहू लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ सही है। वि.२७९।'

'अभय कर देना' यही परमविश्राम है। —'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' २—'एक' 'राम समान प्रभु नाहीं कहूँ'। 'एक'=अद्वितीय। यहाँ 'राम' की प्रभुताके आगे अन्य सबकी प्रभुताका निषेध कर इनको परात्परतर-तत्त्व दृढ़ किया। जिस रावणने विष्णुभगवानकोभी छकाया, जिसने चक्रका अतिशय निरादर किया वह रावणभी आपके बाणोंसे मृत्युको प्राप्त हुआ।

☞सब निगमागम-पुराणादिका निचोड़ सिद्धान्त अन्तमें यहाँ कहा कि 'राम' ही प्रभु हैं अर्थात् उपास्य होनेकी योग्यता रखते हैं, दूसरा नहीं। दूसरा प्रभु है ही नहीं। 'नाहीं कहूँ', यथा 'जौ पै दूसरो कोउ होइ। तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥ काहि ममता दीन पर काको पतितपावन नाम।··· आपुसे कहुँ सौंपिए मोहिं जौं पै अतिहि घिनात। दास तुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात। वि० २१७।', 'तो सों प्रभु जो पै कहूँ कोउ हो तो। तौ सहि निपट निरादर निसिदिन रटि लटि ऐसो घटि को तो॥ ···तेरे राज राय दसरथके लयो बयो बिनु जोतो। वि० १६१।'

☞ ३ ग्रन्थके प्रारम्भमें जो 'स्वान्तः सुखाय' इत्यादि कहा, वह इनको मिलभी गया, यह यहाँ स्पष्ट किया।—'पायो परम बिश्राम'।

पं०—'कृपा लवलेश' का भाव कि 'बड़ी कृपा तो हनुमदादिपर हुई है और हम तो किंच (किञ्चित् हीसे) कृतार्थ हुए हैं।

दोहा—मोसम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर। अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भवभीर ॥ १३० ॥

अर्थ—हे श्रीरघुबीर ! मेरे समान कोई दीन नहीं है और न आपके समान कोई दीनोंका हित करनेवाला है। ऐसा विचारकर, हे रघुवंशमणि आप मेरे भवसंकट (जन्ममरण) का हरण कीजिए। १३०।

नोट—१ (क) दीन हित, यथा 'ऐसे राम दीन हितकारी। अति कोमल करुनानिधान बिन कारन पर उपकारी ॥ वि० १६६।', 'तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई। मो सम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग तुम सम हरि न हरन कुटिलाई ॥ हौं मन बचन कर्म पातकरत तुम कृपालु पतितन्हि गति-दाई। हौं अनाथ प्रभु तुम अनाथहित चित यह सुरति कबहुँ नहिं जाई ॥ हौं आरत आरतिनासक तुम्ह कीरति निगम पुराननि गाई। हौं सभीत तुम हरन सकल भय कारन कौन कृपा बिसराई ॥ तुम्ह सुखधाम राम श्रमभंजन हौं अति दुषित त्रिबिध श्रम पाई। यह जिय जानि दास तुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई ॥ वि० २४२।'

वै०—सम्बन्ध, अधिकारी, विषय और प्रयोजन ये चार अनुबन्ध ग्रन्थमें होते हैं। इनमेंसे अपना संबंध इस दोहेमें कहते हैं—'मोसम दीन न····'। अर्थात् भवभयसे पीड़ित दीन होकर मैं आपकी शरण आया हूँ। [आप दीनोंका हित करनेवाले हैं। भवभीत दीनकी वही रक्षा कर सकता है जो स्वयं भवमें न पड़ा हो और भवमें पड़े हुओंको भवसे तार सकता हो। ब्रह्मादि देवता स्वयं भवमें पड़े हुए हैं, यथा 'भवबारिधि मंदर परमं दर। बारय तारय संसृति दुस्तर। ६। ११४। (त्रिपुरारिकृतस्तुति)।', 'भवप्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे। ६। १०९। (देवस्तुति)', 'भवतारन कारन काज परं मन संभव दारुन दोष हरं ॥···धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे ॥ अब दीनदयाल दया करिये। ६। ११०। ब्रह्माकृतस्तुति।' अतः 'न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर' कहकर जनाया कि एकमात्र आपही इससे मुक्त कर सकते हैं। दूसरा कोई ऐसा है ही नहीं। आप 'रघुबीर' हैं, समस्त देवताओंकी रावणके अत्याचारसे आपने ही रक्षा की।] आप पञ्चवीरतासे परिपूर्ण हैं। दयावीरता दिखाइए। मेरा आपका दीन-दीनबन्धुका संबंध है।

अब प्रश्न होता है कि संबंध तो अनेक हैं, जैसे कि 'अंशअंशी', 'सेवक-स्वामी', 'शेष-शेषी', 'पुत्र-पिता' इत्यादि। तब केवल दीनदयालुत्वसे सम्बंध क्यों कहा ? भाव यह है कि मुझसे सेवा आदि कुछ भी नहीं बन पड़ती, भवपार जानेके लिये केवल आपकी दयाका भरोसा है।

नोट—'रघुबीर, रघुवंशमणि' से सगुण ब्रह्म रामकी शरण जाना कहा। इनसे अतिरिक्त जो किसी दूसरेको ब्रह्म राम कहते हैं उसका निषेध किया। रघुवंशमणि और रघुबीर विशेषण देकर तब 'हरहु····' कहनेका भाव कि रघुकुलके सभी राजा बड़े वीर, दानी, शरणपाल आदि हुए हैं और आप तो उन सबोंसे बढ़कर हैं, आप तो उस कुलमें शिरोमणि हुये हैं, आपकेसे बाँकुरे बिरद किसीके नहीं हैं। यथा 'और कहँ ठौर रघुबंसमनि मेरे। पतितपावन प्रनतपाल असरनसरन बाँकुरे बिरद बिरुदैत केहि केरे। बि० २१०।' ☞'रघुबंसमनि' शब्द प्रथम-प्रथम उमा-शम्भु-संवादमें श्रीपार्वतीजीके प्रश्नमें आया है—'प्रजा सहित रघुबंस-मनि किमि गवने निज धाम। १। ११०।' श्रीरामचरितके प्रारंभमें जो उपक्रम रूपसे आया है, उसी शब्दसे उपसंहार किया। इसी तरह 'रघुबीर' शब्द प्रथम-प्रथम दीनहितकारिता, शरणागतवत्सलता, शीलनिधानताके सम्बंधमें ग्रंथके आरंभमें दोहा २९ में आया है। यथा 'रहति न प्रभुचित चूक किये की। करत सुरत सयबार हियेकी ॥ जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो राम हिय हेरी ॥ ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने। १। २९। ५-८।' सुग्रीव और विभीषण दोनों दीन थे। यथा 'दीन जानि तेहि अभय करीजे। ४। ४। ३।', 'कृत भूप

बिभीषन दीन रहा। ६। ११०।' रघुबीर-शब्द यहाँ उपसंहारमें भी उन्हीं गुणोंका स्मरण करानेके लिये किया गया।

'बिषम भवभीर'—विषमका भाव कि किसी औरके छुड़ाये नहीं छूट सकती। भीर=संकट, दुःख, भय। 'हरहु भवभीर' से जनाया कि मैं भवसंकटमें पड़ा हूँ, भयभीत होकर शरणमें आया हूँ, क्योंकि आपका बिरद है कि 'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहहुँ ताहि प्रान की नाई।'

दोहा—कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि * रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥१३०।ख

अर्थ—जैसे कामीको स्त्री प्यारी लगती है और जैसे लोभीको दाम (रुपिया पैसा) प्रिय लगता है, वैसेही, हे रघुकुलके स्वामी! हे राम! आप मुझे निरन्तर प्रिय लगिए †। १३०।

पां०—यहाँ संबोधनसे यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थान्त समय गोसाईंजीको रघुनाथजी नेत्रगोचर हुए वा अन्त समय प्रगट हो गए।

नोट—१ ☞ यहाँ 'कामी और स्त्री' और 'लोभी और दाम' दोकी समताके प्रेमकी चाह है और बिनयावलीमें एकही पदमें पाँचकी समताके प्रेमकी इच्छा प्रकट की गई है, यथा—

"राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।
सुख जीवन ज्यों जीव को मनि ज्यों फनि को हित ज्यों धन लोभ लीन को॥
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिए करुनाकर पावन प्रेम पीन को॥
मनसा को दाता कहैं श्रुति प्रभु प्रबीन को।
तुलसिदासको भावतो बलिजाउँ दयानिधि दीजै दान दीन को॥ वि० २६९।"

यहाँ दोही उदाहरण दिए गए और विनयमें पाँच, इसमें क्या हेतु या भाव या भेद है यह पीछे विचार किया जायगा।

श्रीरघुनाथजीमें किस प्रकारका प्रेम वे चाहते हैं वह यहाँ दो उदाहरणोंसे वे स्पष्ट कर रहे हैं। (१) 'कामिहि नारि पिआरि जिमि' यह पहली उपमा है। कामीको स्त्री कैसी प्रिय है यह पूर्णतया वही जान सकता है जो इस फंदे में पड़ चुका है, दूसरा नहीं। गोस्वामीजी इस प्रेमका भली भाँति आस्वादन कर चुके हैं, यह उनके 'मूलचरित' से स्पष्ट है, यह सब जानते हैं; अतः यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। दूसरे उदाहरण बिल्वमंगल सूरदासजीभी हैं, इनकी कथा भक्तमालमें है और प्रायः सब जानते हैं। गोस्वामीजी प्रार्थना करते हैं कि जैसी हमारी आसक्ति उस समय स्त्रीमें थी तथा जैसी सभी कामियोंकी प्रेमांधदशा होती है वैसीही मेरी आपमें हो, आपके लिए हो।—"मन प्रान प्रिया पर वारि दिये। जस कौशिक मैनका देखि भये॥ दिन रात सदा रँग राते रहैं। सुख पाते रहैं ललचाते रहैं॥... ...... पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥" इत्यादि।

नारदमोह प्रकरणमेंभी कामीकी दशाका किंचित् दर्शन होता है—'जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।' इत्यादि

सारांश यह कि जैसे कामी जब किसी नवयौवना नागरीपर आसक्त हो जाता है तब उसका रूप उसके आँखों और हृदयमें सहज ही बस जाता है, समा जाता है, छा जाता है—'नजरोंमें बस रहा है दिलमें

* तिमि रघुबंस—ना० प्र०। † 'उदाहरण अलंकार'।

समा रहा है'। उसे ध्यान करनेकी, आसन जमाकर मन एकाग्र करके उसमें लगानेकी जरूरत नहीं पड़ती, वह स्वाभाविक उसीको देखा करता है, उसकी सुरति सदा उस प्राणप्रियामें लगी रहती है, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते यही उसका अष्टयाम है। पराधीन होकर वह यदि उससे दूरभी है तो चित्तसे तो वह उसके साथ ही है, केवल शरीरसेही दूर है।

प्रियकी गली कूचा, उसके गलीकी रज, उससे सम्बन्ध रखनेवाली एक एक वस्तु जो उसके सामने पड़ती है वह उसे चूमता है, नेत्रोंसे लगाता है, कब दर्शन हो यही अभिलाषा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, वह दर्शनके लिए छटपटाता है, वियोग उसे असह्य हो जाता है—केवल ध्यानसे तृप्त नहीं हो जाता। वियोगमें जैसी कुछ दीन दशा हो जाती है उसका कुछ दर्शन प्रभुने कराया है—'कामिन्ह कै दीनता देखाई। ३।३९।२। उसे तन-बदनका होश नहीं रहता, वह बावला सरीखा फिरता है।

वह उस नायिकापर सर्वस्व, प्राण तक, निछावर कर देता है, उसके लिए माता-पिता भाई-बंधु सभीसे नाता तोड़ देता है। भूख प्यास, सर्दी-गर्मी इत्यादि सब भूल जाता है।

वह स्त्री उसे सौन्दर्य और सर्वगुणसंपन्न ही देख पड़ती है, उसकी बेवफ़ाईमेंभी वह वफ़ा देखता है, जुल्म (सताने) में कृपा, परीक्षा और अदा देखता है, उसके हाथसे, लातसे, मार खानेमेंभी स्पर्शसे उसे फख़ही होता है। इत्यादि इत्यादि।

उसके गुण, उसके चरित, उसका नाम भी जो कोई सुनाता है वह भी प्रिय लगने लगता है, तब उसके प्रियत्वका कहना ही क्या ?

इत्यादि दशायें कामीकी देखने सुननेमें आती ही हैं।

श्रीमद्गोस्वामीजी 'कामिहि नारि पिआरि जिमि' कहकर माँगते हैं कि—इसी प्रकार मेरी सुरति स्वाभाविक एकरस तैलधारावत् आपमें लगी रहे—'ऊठत बैठत पड़े उताने। कहैं कबीर हम उठी ठिकाने।' आपको छोड़ मैं दूसरेको देखूँही नहीं, आपका चरित, आपका नाम सुनकर गद्गद हुआ करूँ, आपका ही गुण गाया करूँ, आपकी ही चर्चा जिह्वा पर रहे दूसरी कुछ नहीं, आपके प्यारे मुझे प्यारे लगें, भाई बंधु स्त्री पुत्र धन धाम सब संबंध आपके लिए मैं तृणवत् त्यागकर आपका हो जाऊँ, आपके दर्शनकी अभिलाषा उत्तरोत्तर उत्कट बढ़ती जाय, वियोग असह्य हो जाय, आपके लिए व्याकुल छटपटाता पागलसा फिरता रहूँ, संसारकी लज्जाका विचार न रह जाय। इत्यादि इत्यादि।

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि सीस ईसही नैहौं॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं। वि० १०४।'

(२) 'कामिहि नारि-पियारि' के बाद दूसरा उदाहरण 'लोभी और दाम' का देते हैं। लोभीका प्रियत्व धनपर कैसा है, यह कविने स्वयं विनयावली इत्यादिमें भी कहा है—'सुनु सठ सदा रंकके धन ज्यों छन छन प्रभुहि सँभारहि।'

वह बारबार उसकी देखरेख करता है, बारंबार गिनता है, कि कहीं कोई ले तो नहीं गया, कम तो नहीं हो गया, कितना और बढ़ा। 'चमड़ी जाय दमड़ी न जाय' कहावत प्रसिद्ध है, शरीर भी चाहे चला जाय पर धन कोई न लेने पावे, मर रहा है पर ध्यान धनपर है, औषधिके लिए भी उसे खर्च करना गवारा नहीं समझता और तो और वह मरकर उसपर सर्प होकर बैठता है।

इसी तरह आप चाहते हैं कि मैं क्षण-क्षण आपको हृदयमें सँभालता रहूँ, चित्त आपमें ही लगा रहे, कहीं भी रहूँ, किसी व्यवहारमें रहूँ, शरीर भी मरणतुल्य कष्टमें हो फिर भी आप हृदयसे दूर न हों, आपको मरनेपर भी न भूलूँ, दूसरे जन्ममें फिर भी आपकी ही भक्तिमें आरूढ़ रहूँ।

'पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं।

स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं। वि० १०५।'

धनके उपार्जनमें दुःख, उसकी रक्षामें दुःख और उसके हानिमें महादुःख, अर्थात् तीनों अवस्थाओंमें लोभीको इससे कष्ट ही पहुँचता है, तब भी वह लोभ नहीं छोड़ता। इसी तरह आपके प्रेमके कारण चाहे आद्यन्त जन्मभर कष्ट क्यों न उठाना पड़े तब भी प्रेम न छूटे। लोग निंदा भी करें तो भी हर्ज नहीं।

नोट—२ अब यह प्रश्न हो सकता है कि एकहीमें लगभग सब प्रेमकी दशा आ जाती है, एक ही उदाहरण पर्याप्त था, दो क्यों दिये? इसका एक उत्तर तो यही है कि यह कविकी, काव्य करते समयके उमंगपर निर्भर है। कभी वह एक ही उपमासे संतुष्ट हो जाता है और कभी दो दो, तीन तीनसे भी नहीं। यहाँ दोहीका प्रेम कहा, विनयवाले पदमें पाँचका। कहीं केवल चातकके ही उदाहरणसे बस कर दिया है। दूसरा उत्तर यह है कि हो भी सकता है कि कामी और नारि दोनों चेतन हैं, कामीको स्त्री प्रिय होती है पर ऐसा भी देखनेमें आता है कि कहीं कहीं स्त्रीका भी स्नेह पुरुषपर भी वैसा ही होता है। और कमसे कम यह तो अवश्य ही है कि कामी चाहता है कि मेरी प्राणप्रिया मेरे ऊपर वैसा ही प्रेम करे, दूसरे पर दृष्टिभी न डाले। अतः इस दृष्टान्तसे यह लालसा पाई जा सकती है कि आप मुझपर प्रेम रक्खें। इस संदेह के निवारणार्थ वे दूसरा दृष्टान्त देते हैं—लोभी और दामका। दाम जड़ पदार्थ है, वह यह भी नहीं जान सकता कि अमुक मनुष्यका मुझपर प्रेम है, पर लोभी उसके लिये प्राणोंसेभी अधिक प्रेम करता है। इस प्रकार दूसरा दृष्टान्त देकर वे जनाते हैं कि मेरा आपपर एकांगी अनन्य प्रेम हो, आप चाहे मेरी पर्वा करें या न करें, करें तो अच्छा ही है और न करें तब भी मेरा प्रेम बढ़ता ही जाय, कभी यह समझकर घटने न पावे कि प्रभु तो मेरी सुध भी नहीं लेते। और एक ही जन्म क्या, जन्म पुनर्जन्ममें भी आपके ही साथ मेरा प्रेम दृढ़ रहे, आपको उसी प्रकार न छोड़ूँ जैसे मनुष्य सर्प होकर अपने पूर्व शरीरकी कमाई पर बैठता है।

पुनः, तीसरा हेतु यह है कि स्त्रीका यौवन उतर जानेपर, अपनी वृद्धावस्था होने इत्यादि पर कामी का प्रेम घटता जाता है, परन्तु लोभीका प्रेम द्रव्यपर वृद्धावस्थामें और भी बढ़ जाता है। अतः पहले दृष्टान्तकी कमीकी पूर्त्ति दूसरेसे की। भाव कि ज्यों-ज्यों अवस्था गिरती जाय त्यों-त्यों प्रेम भी अधिक होता जाय, कम न हो।

श्रीबैजनाथजी दो विशेषण देनेका भाव यह कहते हैं कि 'यावत् मेरी देहबुद्धि रहे तावत मैं श्रवण-कीर्त्तनादिमें लगा रहूँ और जब जीव-बुद्धि आवे तब प्रेमसे आपके रूपमें मग्न रहूँ।'

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'दो उपमायें दो भावसे दी हैं। 'रघुनाथ' संबोधन भगवान्के रूपके लिये है, उसकी उपमा 'कामिहि नारि पियारि' की दी। राम संबोधन नामके लिये है, उसकी उपमा 'लोभी दाम प्रिय' की दी। कामीके हृदयमें स्त्रीके रूपका ध्यान रहता है वैसे ही मेरे मनमें आपके रूपका ध्यान होता रहे।...लोभी कितना ही दाम कमावे उसको सन्तोष नहीं होता, वैसे हम आपके नामका कितना ही जप करें परन्तु हमें नाम जपसे तृप्ति न हो। लोभीको एक एक पैसा प्राणके समान वैसे ही आपका एक-एक नाम प्राणके समान होवे, हम एक नामका भी नुकसान सह न सकें, गोस्वामीजीने नाम और रूप दोनों का प्रियत्व किस भावसे माँगा है कि नाम और रूप दो ही की उपासना होती है। कोई नामके उपासक होते हैं कोई रूपके और एकके अन्तर्गत दोनों (उपासनायें) रहती हैं। एक मुख्य रूपसे दूसरा गौणरूपमें।'

३ 'तिमि रघुनाथ निरंतर...राम' इति। (क) राम-पदमें अतिव्याप्ति यह है कि इससे निर्गुण और सगुण दोनोंका बोध होता है—'रमंते योगिनोऽनंते सत्यानंदे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते' इति श्रुतिः। और वही सगुण होकर दशरथात्मज राम हैं। दूसरे, रामसे उनके महाविष्णुनारायण और विष्णु रूपान्तरोंकाभी बोध हो सकता है। अतः इस अतिव्याप्तिके निवारणार्थ 'रघुनाथ राम' कहा। अर्थात मैं आपके दशरथात्मज रघुकुलस्वामि इस सगुण रूपकी उपासना चाहता हूँ, उसीमें प्रेम चाहता हूँ, अन्यमें नहीं। 'रघुनाथ' पद देकर श्रीरामजीके द्विहस्त छोड़, चतुः, षट्, अष्टसे लेकर सहस्रादिहस्त पर्य्यन्तवाले जितने स्वरूप हैं

उनको पृथक् कर दिया। मिलान कीजिए—'भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान' (सुं० २३), 'राम राम रघुपति जपत०'।●

तीसरा भाव यह है कि यहाँ वर माँग रहे हैं, अतः 'रघुनाथ' विशेषण दिया क्योंकि रघुकुलमात्र उदार होता आया है और आप तो उस कुलके राजा उदार शिरोमणि हैं अतः राजाधिराज रामचंद्रजीसे वर माँग रहे हैं। आप यह वर देनेको समर्थ हैं, यह सूचित करनेके लिए 'रघुनाथ' भी कहा।

(ख) "निरंतर" इति। कामीका प्रेम प्रायः युवामें रहता है और लोभीकी दशा बाल्यावस्थामें नहीं होती; क्योंकि इस अवस्थामें द्रव्यका बोध कम होता है। अतः आप 'निरंतर' पद देकर जनाते हैं कि जन्मसे लेकर बाल्य, युवा, जरा, मरणासन्न इत्यादि किसीभी अवस्थामें मेरा प्रेम कम न हो। दूसरे सोनेके समय तथा अन्य कारणोंसेभी कामी और लोभीके प्रेममें अंतर संभव है; अतः 'निरंतर' पद दिया। तीसरे, 'निरंतर' पदसे विनयके मीन-नीर, सर्प और मणि इत्यादिकाभी उदाहरण लक्षित कर दिया, क्योंकि उनका प्रेम निरंतर रहता है, वियोग होतेही वे तड़पकर प्राण दे देते हैं। विनयावलीके पदमें 'निरंतर' पद नहीं है वैसे ही यहाँ 'नीर मीन' आदि वाली उपमायें नहीं हैं।

यहाँ 'नीर मीन' 'मणि सर्प' के प्रेमकी माँग न करके 'निरंतर' ही विशेषणसे वैसा प्रेम सूचित तो कर दिया पर साथही यहभी जना दिया कि आपके वियोगमें तड़पना, दर्शनके लिए परम लालायित होना चाहते हैं, मरण नहीं चाहते, प्रति दिन आशा उत्तरोत्तर बढ़ती जाय कि अब प्रभु मिलते हैं, दूसरे वियोग-शृङ्गारमें जो रस है वह संयोगमें नहीं,—गोपियोंका ऐसा ही प्रेम था।

☞ऊपर नोट १ में हमने जो कहा था कि विनयके पदका विचार पीछे करेंगे, वह यहाँ किया गया।

पं० श्रीकान्तशरणजी—ऊपर भवभीरसे रक्षाके लिये प्रार्थना की। वह भव भगवान्‌की प्राप्तिसे ही छूटता है। यथा 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते। गीता ८। १६।'; और भगवान्‌की प्राप्ति उनके निरंतर स्मरणरूपा भक्तिसे होती है; यथा 'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥ तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च। मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्। गीता ८। ६ ७।' निरंतर स्मरण विना गाढ़ प्रेमके नहीं होता, इस लिये वैसे प्रेमकी याचना करते हैं।

मा० हं०—कांडसमाप्ति। मालूम होता है कि इस कांडसमाप्तिकी शैलीकी कल्पना गोसाईंजीने

● कोई रामायणी ऐसा कहते हैं कि रघुनायक और राम दो सम्बोधन देकर जनाया कि आपका रूप हमें 'कामिहि नारि पियारि जिमि' ऐसा प्रिय लगे और आपका रामनाम 'लोभिहि जिमि दाम' ऐसा प्रिय लगे। आपका एक नामका नुकसान सहन न हो, गिनता रहूँ कम तो नहीं होगया।—(प्रेमकी उच्च दशामें रूपमें मग्न हो जानेपर नाम उसीमें लय हो जाता है, नाम पृथक् रहही नहीं जाता। प्रेमपागलको रट जप ध्यानकी सुधि कहाँ)? उत्तरार्धका अर्थ यह है कि हे रघुकुलके स्वामी श्रीरामजी! आप मुझे वैसेही प्रिय लगें। यह अर्थ नहीं है कि हे रघुनाथ? आपका रूप मुझे प्रिय लगे। हे राम! आपका रामनाम प्रिय लगे। दशरथात्मज राममें वैसा प्रेम चाहते हैं। रघुनाथ राममें प्रेम हो, इससे सूचित करते हैं कि आपकेही चरित आपका रूप, आपका धाम और आपका रामनाम, आपका कैंकर्य्य इत्यादि सबमें प्रेम चाहते हैं। चरित, और नामके संबंधमें तो अपना मत विनय और गीतावलीमें देही चुके हैं कि जिनको ये दोनों रामजी से भी अधिक प्रिय हैं वे धन्य हैं और धामकी उपासना आपके चरितसे स्पष्ट है कि यहाँके एक हपपचको काशीमें कैसे प्रेमभावसे मिले, यही नहीं, किन्तु अपने एक कृपापात्रको श्रीअवधमें आकर श्रीअवधके कुछ भागका दिव्य दर्शन कराया था।

"श्रुति रामकथा मुख रामको नाम हिये पुनि रामहिको थल है"

भागवतके 'भवे भवे यथाभक्तिः पादयोस्तव जायते। तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वन्नोयतः प्रभो', इस श्लोकसे ली हो। परन्तु उसमें 'इन्होंने' अपनी चतुरता और प्रेम खर्च करके जो सुधार किये हैं उनके संबंधमें जो कुछ लिखा जाय वह थोड़ा ही है। ग्रंथसमाप्तिकी ऐसी शैली भागवतको छोड़कर हमें अन्यत्र कहींभी नहीं मिली। परबोधकशक्तिका मर्म स्वामीजीको सचमुचमें समझा था ऐसा-ऐसा कहना पड़ता है।

करु०—यहाँ श्रीगोसाईंजी जीव और परमेश्वरके चार अनुबन्ध कहते हैं। जब ये चार अनुबन्ध सद्गुरुसे प्राप्त हों तब श्रीरामतत्त्वकी प्राप्ति होती है। वे ये हैं—१ अधिकारी, २ विषय, ३ सम्बन्ध और ४ प्रयोजन। इनके स्वरूप ये हैं—१ वैराग्य, विवेक और षट्सम्पत्तियुक्तको विशेष अधिकारी कहते हैं। वैराग्य, यथा—'तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी'। विवेक स्वधर्मग्रहण परधर्मत्याग, रामसम्बन्धी पदार्थका ग्रहण, संसार वा अनात्म सम्बन्धका त्याग, इसमें बुद्धि अचल रहे, यह विवेक है—'संत-हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार', 'सगुन षीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुनदोष बिभागा। गहि गुन पय तजि अवगुन बारी॥' षट्सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितीक्षा, श्रद्धा, समाधान। (ज्ञानदीपकमें इसका वर्णन हो चुका है)। पुनः, षट्सम्पत्ति षट्शरणागतिको कहते हैं (इनका उल्लेख विभीषणशरणागति तथा और भी स्थलोंमें आ चुका है)। विषय = वर्णनीय पदार्थ।

२—अधिकारी होनेपर तब विषयकी प्राप्ति है। श्रुतिस्मृति, पुराण, श्रीमद्रामायण समस्त ग्रंथोंका विषय श्रीरामचंद्र हैं; जब यह विषय अच्छी तरह जान ले तब सम्बन्धकी प्राप्ति हो। ३—जीव और परमेश्वर का सजातीय सम्बन्ध है। पुत्र पिता, अंश अंशी, इत्यादि सम्बन्ध हैं—'सर्वभाव भज०। ८७।' में दे०। सब सम्बन्ध अनादि हैं। सद्गुरुसे इसे जान ले। ४—प्रयोजन—जीवका सच्चा प्रयोजन यह बताया है कि श्रीरामचंद्रकी निष्काम भक्ति करे, यह भक्ति अन्तिम दोहेमें कही। ☞ जो इन चारोंको जाने वह राम-भक्ति पहिचाने।

१—अनुबन्ध अर्थात् संबन्ध—यथा 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि'

२—विषय, यथा—'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना'

३—प्रयोजन, यथा—'निज गिरा पावन करन कारन रामजस तुलसी कह्यो'

४—अधिकारी, यथा—'सदा सुनहिं सादर नरनारी। ते नरबर मानस अधिकारी'

नोट—बालकांड मं० श्लो० ६ के तिलकमें दिखाया गया है कि गोस्वामीजीका मङ्गलाचरण श्रीमद्भागवतके मंगलाचरण 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्' इत्यादिसे बहुत मिलता जुलता है, भागवतकारके मंगलाचरणके चारों चरणोंके भाव तो मानसकारने अपने मंगलाचरणमें व्यक्त ही कर दिए हैं और उससे अधिक एक बात और भी दी है जो भागवतकारने स्पष्ट रूपसे अपने मंगलाचरणमें व्यक्त नहीं कर पाई। इसी प्रकार ग्रन्थकी समाप्ति भी श्रीमद्भागवतसे बहुत कुछ मिलती है। जैसा कि दोहेके अन्तमें दिए हुए मिलानसे स्पष्ट है।

भागवत्के मंगलाचरणमें 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि' अंतिम शब्द हैं और ग्रंथकी समाप्तिपरके दो श्लोकोंके पहले यह श्लोक है—

'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाऽथ भगवद्राताय कारुण्यतस् तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि।भा. १२।१३।१९

'नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे। य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे।

अंतमें शुकदेवजीकी वन्दनापर समाप्ति है।

भागवत्कारने जैसे मंगलाचरण 'सत्यं परं धीमहि' से किया वैसे ही ग्रंथका अंत भी किया। और मानसकारने, अपने मंगलाचरणमें जिस पत्तको वे सत्य समझते हैं उसे, जैसे ग्रन्थके प्रारम्भमें स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं', वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट

और असंदिग्ध शब्दोंमें उपसंहारमें ग्रन्थकी समाप्तिके प्रसंगभरमें व्यक्त कर रहे हैं। जिन शब्दोंको किसी प्रकार तोड़ मरोड़कर किसीके लिए अर्थका अनर्थ करना संभव नहीं है।

यहाँ 'राम', 'रघुनाथ', 'रघुबंस-भूषन', 'रामपदाब्ज', 'रामधाम', 'रामनाम', 'रघुनाथ नाम' यही शब्द कविने अपने उपसंहारमें दिए हैं। यह न्याय है कि यदि उपक्रम आदिमें कोई बात संदिग्ध हो तो उसका निर्णय उपसंहारसे किया जाता है। यद्यपि संदेहकी बात तो कोई है ही नहीं क्योंकि शिवजी स्पष्ट कह रहे हैं कि—'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना'। तोभी अन्तमें तो कोई संदेह रह ही नहीं जाता कि गोस्वामीजी किसको परात्पर परब्रह्म परं ध्येय, परं ज्ञेय, किसके नामको तथा मंत्रको परं जाप्य और किस चरितको परं पाठ्य सिद्धान्त करते हैं।

अन्तमें जैसे भागवतमें श्रीशुकदेवजीकी वन्दना पर समाप्ति है कि जिनके द्वारा संसारमें प्रचार हुआ वैसेही यहाँ महाकवि गोस्वामि तुलसीदासजी—

'यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं' इत्यादि

पर समाप्ति करते हैं और विशेषता यह है कि अन्तमें भक्तों, वक्ताओं, श्रोताओं, मनन करनेवालों को आशीर्वाद देते हुए सबका इससे कल्याण निश्चय कराते हुए ग्रन्थकी समाप्ति करते हैं जो बात भागवत में नहीं है।

'ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।'

गोस्वामीजीने ग्रन्थका उपक्रम और उपसंहार दोनों एक ही अक्षर "व" से किया है। "व" तंत्रशास्त्र के मतानुसार अमृत-बीज है अतः मानसमें अमृतबीजका संपुट हुआ।

फल-श्रुतिका भागवतकी फलश्रुतिसे मिलान

भा० १२. १२. ६१ देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः। यच्छन्ति कामान्गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्तनात्॥ — मनकामना सिद्धि नर पावा। जो यह कथा कपट तजि गावा॥ १२८॥

भा० १२. १३. १८ तच्छृण्वन्विपठन्विचारण परो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥ — कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥

१२. १३. ११—आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यान संयुतम्। हरिलीला कथावार्तामृतानन्दित सत्सुरम्॥११॥

मानस—जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।

भा० १२. १२ कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।
इह तु पुनर्भगवानशेष मूर्त्तिः परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसंगैः॥६५॥

मानस—मत्वातद्रघुनाथनामनिरतं स्वांतस्तमः शांतये। भाषाबद्धमिदंचकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।

भा० १२. १३ सर्ववेदान्तसारंहि श्रीभागवतमिष्यते। तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्रस्याद्रति क्वचित्॥

यह रामचरितमानस सब श्रुतियोंका सारसिद्धान्त है यथा—'बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि। बरनहु रघुबर बिसद जस श्रुतिसिद्धांत निचोरि॥' बा० १०९।

'रामउपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं॥'

१२. १३ तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते॥ ९॥ — सतपंच चौपाई मनोहर

☞ भागवतमें प्रतिपाद्य देवसे कोई याचना नहीं है। मानसमें प्रतिपाद्य उपास्यदेवसे भवभय-हरण और अविचल प्रेमकी प्रार्थना भी है॥

१२. १३ सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्। वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥१२॥

भा० १२. १३ श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं। यस्मिन्पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्रज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं। तच्छृण्वन्विपठन्विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥१८॥

रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये। ते संसारपतंग-घोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥
१२. १२ स एवं श्रावयेन्नित्यं यामं क्षणमनन्यधीः (श्लोकमेकं तदर्धं वा पादं पादार्धमेव वा)
मानस-सतपंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरे। दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे॥
श्रद्धावान्योऽनुश्रृणुयात्पुनात्यात्मानमेव सः॥ ५८॥
तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिम्। सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो।
पशुपतिभिरजशक्रशंकराद्यैर्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि।६६। सो एक राम अकाम हित निर्बानप्रद सम आन को॥
उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्मन्युदरचितास्थिरजंगमालयाय। जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने सुरऋषभायनमः सनातनाय।६७। पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥
१२. १३ योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशंभुना दुर्गमं।
संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत॥ २१॥ श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यैतुरामायणम्।
११. ११ स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यातनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणंतमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥ ६९॥

श्लो०—यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशंभुना दुर्गमं श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यैतु रामायणं।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शांतये भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसं॥१॥

अर्थ—पहले समर्थ श्रेष्ठ कवि श्रीशंकरजीने जिस दुरूह मानस-रामायणको श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंमें निरन्तर भक्ति प्राप्त होनेके लिए बनाया था, तुलसीदासने उसीको रामनाममें तत्पर पाकर अपने अन्तःकरणके अन्धकारको मिटानेके लिए उसी प्रकार भाषामें बनाया।१।

करु०—दुर्गम अर्थात् किसीको सम्पूर्ण जाननेकी गम्य नहीं।

यहाँ इस रामचरितमानस ग्रन्थका उपसंहार है—

उपक्रम	उपसंहार
नानापुराणनिगमागम सम्मतं यद्रामायणे	यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा,	मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये
भाषनिबन्धमतिमंजुलमातनोति	भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।

प० प० प्र०—उपसंहार 'यद् रामायणं श्रीशम्भुना कृतं' से बालकांड मं० श्लो० ७ के 'रामायणे निगदितं' का अर्थ स्पष्ट किया है। अर्थात् शिवरामायणही वहाँ विवक्षित है।

'स्वान्तः सुखाय' यह प्रयोजनका फल उपक्रममें कहा था। यहाँ 'स्वान्तस्तः शान्तये भाषाबद्ध चकार' यह उपसंहार है। पायो परम विश्राम=स्वान्तः सुखप्राप्ति=स्वान्तस्तमः शान्ति।

श्रीपार्वतीजीने रामप्रेमप्राप्ति होनेसे विश्राम पाया। गरुड़जीने भी परम विश्राम पाया। विश्वमें सभी जीव सुखी होगए। इस प्रकार बालकांड मं० श्लोक ७ में जो प्रयोजनका फल, स्वान्तः सुख उपक्रमित किया था, वह सभी लोगोंने अवधमें, नारदजीने, वसिष्ठजीने, सनकादिकने पाया।

विवेक-विरागयुक्त वेदविहित आचार पालन करके ज्ञान-प्राप्तिके पश्चात् रामपद प्रेमभक्ति प्राप्तिसेही परम विश्रामकी प्राप्ति हो सकती है—यह गोस्वामीजीका सिद्धान्त है।

सि० ति०—जैसे उल्टे नामके जपसे श्रीवाल्मीकिजी ब्रह्मके समान हुए, तब उन्होंने नामके शुद्ध स्वरूपके अर्थवैभव जाननेकी इच्छासे श्रीनारदजीसे गुणोंके प्रश्न किये, यथा 'गुणवान्कः'। नामका विभव उसका अर्थ है, इसीसे नाम-जपके साथ उसके अर्थ विचारकी विधि है। चरित नामका अर्थ है, अर्थ प्रकाशके द्वारा श्रीरामजीके गुणोंको विस्तार करना नामके विभवकाही विस्तार है, यथा 'न भिन्नो नाम नामिनः'। जब श्रीनारदजी उन्हें उत्तर देने लगे तब 'रामो नाम जनैः श्रुतः' यह नाम कहकर तब उसके अर्थभूत गुणोंका कथन

प्रारंभ किया है। मूलरामायण वाल्मीकीयमें स्पष्ट है।

इसी तरह श्रीगोस्वामीजी भी नामके द्वारा कृतार्थ होकर उसी नामके विभव विस्तार करनेवाले चरितके वर्णनकी ओर प्रवृत्त हुए कि जिससे चरितके पठन-पाठनसे नाममें प्रीति बढ़े, इन्होंने बार-बार शपथ करके कहा है कि मैं रामनामसेही कृतार्थ हुआ हूँ। नामकेही आराधनसे उसके अर्थभूत चरितका विशेष विकास होता है, यथा 'जानहिं सिय रघुनाथ भरतको सील सनेह महा है। कै तुलसी जाको राम नाम सों प्रेम नेम निबहा है। गी० २। ६४।' इसीसे इनकी रचना लोकोत्तर हुई है।

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभं।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति ये ते संसारपतंगघोर किरणैर्दह्यंति नो मानवाः ॥२॥

इति श्रीरामचरित्रमानसे सकल कलिकलुष विध्वंसने अविरल हरिभक्तिसंपादनोनाम
सप्तमः सोपानः सम्पूर्णः।

अर्थ—यह श्रीरामचरितमानस पुण्यरूप (पवित्र), पापोंका हरण करनेवाला, सदा कल्याणकारी, विज्ञान और भक्तिका देनेवाला, माया मोह और पापोंका नाशक, अत्यन्त निर्मल, श्रेष्ठ सुंदर निर्मल प्रेमजलसे पूर्ण और मङ्गलकारी है। जो भक्तिपूर्वक इस श्रीमद्रामचरित-मानससरोवरमें स्नान करते हैं वे मनुष्य संसाररूपी सूर्यकी प्रखर (तेज) किरणोंसे नहीं जलते हैं। अर्थात् परम शान्ति पाकर सदा प्रसन्न रहते हैं। २।

इस तरह कलिके समस्त पापोंका नाश करनेवाला श्रीरामचरितमानसका हरिभक्ति संपादन करनेवाला सातवाँ सोपान सम्पूर्ण हुआ।

नोट—'पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं···'इति। (क) पुण्य आदिके भाव पूर्व बालकांड आदिमें आ चुके हैं। पुण्य=पवित्र, पावन। ☞यह शब्द उपक्रम रूपसे ग्रंथके आरम्भमें संस्कृत मंगलाचरण श्लोक ४ में प्रथम-प्रथम श्रीरामगुण-ग्रामके विशेषण रूपमें आया है और यहाँ उपसंहारके श्लोकमें अन्तमें भी श्रीमद्राम-चरितकेही विशेषण रूपमें आया है। वहाँ 'सीतारामगुण-ग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।' विशुद्ध विज्ञानी कवीश्वर और कपीश्वरकी वन्दनामें आया है और यहाँ 'विज्ञान-भक्तिप्रदं' के साथ आया है। इससे जनाया कि कवीश्वर वाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जी इस पुण्यचरितमें विहार करनेसेही विशुद्ध विज्ञानी हुए। रामचरित पावन है, यथा 'पावन गंग-तरंगमालसे। १। ३२। १४।' पापहरं, यथा 'समन पाप संताप सोक के। १। ३५। ५।' शिवकर=कल्याणकर, यथा 'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथकी। १। १०।', 'जगमंगल गुन-ग्राम रामके। दानि मुकुति धन धरम धामके। १। ३२। २।', 'प्रिय पालक परलोक लोकके। १। ३२। ५।', 'मेटत कठिन कुअंक भाल के। १। ३२। ५।', इत्यादि सब भाव 'शिवकर' में आ गए। विज्ञान भक्ति प्रद, यथा 'यह रावनारिचरित्र पावन रामपदरतिप्रद सदा। कामादिहर बिज्ञानकर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा। ६। १२० छंद २।' भक्तिप्रदके प्रमाण तो ग्रन्थमें ही स्वयं श्रीपार्वतीजी और गरुड़जी हैं। यथा 'मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस। उपजी रामभगति दृढ़ बीते सकल कलेस। १२९।', 'राम चरन उपजेउ नव नेहा। १२९। ८।', 'रामचरन नूतनरति भई। मायाजनित बिपति सब गई। मोह जलधि बोहित तुम्ह भए। १२५। ३।' 'माया-मोह-मलापहं' का उदाहरणभी उपर्युक्त उदाहरणमें आ गया। प्रेमांबुपूरं, यथा 'रघुपति भगति प्रेम परमितिसी। १। ३१। १४।' मलका नाश जलसे होता है अतएव मलापहं कहकर 'प्रेमांबुपूरं' कहा। श्रीरामचरितसे निर्मल प्रेम होता है जिससे मायामोहमल धुलकर नहीं रह जाता। मिलान कीजिए—'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम-जनम अभ्यास निरत चित अधिक-अधिक अधिकाई। नयन मलिन परनारि निरखि मन मलिन बिषय संग लागे। हृदय मलिन बासना मानमद जीव सहज सुख त्यागे॥ परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाए। सब प्रकार मल-भार लाग निजनाथ चरन बिसराए॥ तुलसिदास ब्रत दान ग्यान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै। रामचरन अनुरागनीर बिनु अति मल

नाथ न पावै। वि० ८२।' सुविमलका भाव कि सांसारिक प्रेम निर्मल नहीं होता। किसी कामनासे जो प्रेम होता है वहभी निर्मल नहीं होता है। परमार्थकी कामनावाला प्रेम निर्मल है और निष्काम प्रेम जिसमें व्यभिचारकी गंध नहीं होती वह प्रेम 'सुविमल' है, 'विशुद्ध' है। ऐसे अत्यन्त निर्मल प्रेमका देनेवाला यह चरित है।

२ 'संसार पतंग...' इति। संसार क्या है यह विनयके निम्न पदसे स्पष्ट हो जायगा—

'मैं तोहि अब जान्यो संसार। बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल प्रगट कपट आगार।
देखत ही कमनीय कछू नाहिंन पुनि किये बिचार। ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निसरै सार॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायो पार। महामोह मृगजल सरिता महँ बोन्यो हौं बारबार॥
सुनु खलु छल बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार। सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार।
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार। सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझै नहिं व्यवहार॥
निज हित सुनु सठ हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभुके दासन्ह तजि भजहि जहाँ मदमार। १८।'

संसार, भव, संसृति पर्याय शब्द हैं। जन्म-मरण, आवा-गमन आदि। संसार शब्द इस अर्थमें कई बार आया है। यथा 'होइहहु सुकुत न पुनि संसारा। १। १३६। ७।', 'संसारामय भेषजं सुखकरं श्रीजानकी जीवनं। ४ मं० श्लो० २।', 'महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर। ६। ७६।', 'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं। ६। १०५ छन्द।', 'पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे। ७। १३ छन्द।'

पतंग=सूर्य। यथा 'कौतुक देखि पतंग भुलाना। १। १९५। ८।', 'कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग। ४। १५।', 'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। १। ११६। ४।' इत्यादि। संसारको सूर्यकी भयंकर मध्याह्नकालकी किरणसमूह कहा। सूर्यकी भयंकर किरणोंकी तापसे मनुष्य व्याकुल हो जाते हैं। वैसेही जीव बारंबारके जन्म-मरण आदिसे संतप्त होते हैं, इसीसे देवता, ऋषि आदि सभी उससे रक्षा की प्रार्थना करते हैं। यथा—'भव बारिधि मंदर परमंदर। वारय तारय संसृति दुस्तर। ६। ११४। (श्रीशिवजी), 'भव प्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे। ६। १०९। १२।', 'भवखेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे। ७। १३ छंद।' (वेदस्तुति), 'भवताप भयाकुल पाहि जनं। ७। १४ छंद १।', 'देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिबिधि ताप भव-दाप नसावनि। ७। ३५। १।' (श्रीसनकादिकजी)। इत्यादि।—इस भव घोर घामसे झुलस न जानेका उपाय बताते हैं कि इसमें भक्तिपूर्वक डूबे रहें।

'भक्त्यावगाहन्ति ये' यह शर्त है, नियम है। अतः भक्तिपूर्वक अवगाहन क्या है, यह भी जान लेना चाहिए। बालकाण्डमें आशीर्वादरूप फल ग्रन्थकारने इस प्रकार कहा है। 'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी। १। १५। १०-११।', 'रामचरित मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा। मन करि बिषय-अनल-बन जरई। होइ सुखी जो एहि सर परई। १। ३५। ७-८।', 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। १। ४१। ६।', 'सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिये तें। १। ४३। ६।' भक्तिसे श्रद्धा विश्वासपूर्वक तथा प्रेमसे आदरपूर्वक मन चित्त और बुद्धिको लगाकर स्नान करना, डुबकी लगाना जनाया। जब ऐसा होगा तो स्नान प्रसन्न मनसे होगा, उसके कहने सुननेमें प्रेम-पुलकावली होगी। अवगाहन स्नान और डुबकी लगाने एवं डूबे रहनेको कहते हैं। यथा 'जे सर सरित राम अवगाहहिं। २। ११३। ६।', 'रोवहिं सोक सिंधु अवगाहहिं। २। २७६। ८।' 'नो मानवाः' इति। नो=नहीं। यथा 'पतंति नो भवार्णवे वितर्क बीचि संकुले। ३। ४ छंद।', ग्रंथकारने कथाके प्रारम्भमें कथाका फल बाल० ३१ (४) से लेकर दोहा ३२ तक तथा मानस-सर-सरयूरूपकमें कहा, वैसे ही ग्रन्थके अन्तमें यहाँ फलश्रुति कहते हुए ग्रन्थ की समाप्ति की है।

ग्रन्थका प्रारम्भ 'व' वर्णसे किया गया था—'वर्णानामर्थसंघानां। बाल० मं० श्लो० १।', उसी अक्षरपर ग्रन्थकी समाप्ति भी की। 'मानवाः' अन्तिम शब्द है जिसका अन्तिम अक्षर 'व' है। इस अक्षरसे ग्रंथको सम्पुटित करनेके भाव बा० मं० श्लो० १ में दिये गए हैं। तन्त्रशास्त्रानुसार 'व' अमृत बीज है। वाणी और विनायकका (जिनका सर्वप्रथम मंगल किया है) बीज 'व' कार है। बीजयुक्त मन्त्र बड़ा प्रभावशाली होता है, वह परिपूर्ण फल देता है और शीघ्र। अतः 'व' बीजका संपुट देकर सूचित किया कि इसके वक्ता-श्रोता अमरपदरूपिणी श्रीरामभक्ति तथा मनोरथसिद्धि पावेंगे।

करु०—'संसार पतंग घोर किरण' अर्थात् अहं मम मान बड़ाई। इत्यादि।

पं०—'दह्यन्ति नो' भाव कि मन-तन शीतल होकर श्रीरामचंद्रजीके स्वरूपको पावेंगे। वासना घोर किरणें हैं।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'ते संसार पतंग...' इति। यहाँ श्रीरामजीके शरीरसे पृथक् सत्तावान् समष्टि-संसारको सूर्य कहा है और उसके व्यष्टिरूप नानात्वको किरण। जगत् दस दिशामय कहा जाता है, नानात्वमें उसकी दस दिशाओंको भी मानसकारने दिखाया है; यथा 'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद् परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। ५।४८।' इसमें जननी आदि दश गिनाये गये हैं। इन्हें स्वतन्त्र रूपसे उपकारी मानकर जो जीव इनमें ममतारूप तागोंमें बँधा हुआ है, वह जब इन सबको श्रीरामजीके शरीर रूपमें जानेगा, तब इन सबके द्वारा हुए उपकार श्रीरामजीके निश्चित होनेपर इन सब (व्यष्टि जगत्) से ममता हटाकर श्रीरामजीमें ही दृढ़ प्रीति करेगा, क्योंकि इन्हींने सब रूपोंसे पालन पोषण आदि उपकार किये हैं, इस ज्ञानपर वह ममता यहाँ एकत्र होगी, यही डोरीका बटना है। फिर किसी भले-बुरे कार्यके सम्बन्धका कोई भी मित्र-शत्रु न रह जायगा, समदर्शित्व अनायास रहेगा। तब राग-द्वेष आदि अग्निमय दोषोंकी ज्वालासे यह नहीं जलेगा।

वही चराचरात्मक अज्ञान-दृष्टिसे श्रीरामजीसे पृथक् देखनेपर सूर्यकी तरह ममतारूपी तीक्ष्ण किरणों द्वारा त्रिविध तापोंसे जलानेवाला है। यथा 'सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रयताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुड़ायो। वि० २४३।', 'जोरे नये नाते नेह फोकट फीके। देहके दाहक गाहक जीके। वि० १७६।'

नोट—किष्किन्धाकांड दोहा ३० में बताया जा चुका है कि प्रत्येक काण्डके अन्तमें जो फलश्रुति है वही उस सोपानका नाम है। इस तरह पिछले सोपानोंके क्रमशः नाम ये हैं—'सुख संपादन, प्रेम-वैराग्य-संपादन, विमल वैराग्यसंपादन, विशुद्ध संतोष संपादन, ज्ञान-संपादन, विज्ञान संपादन। इसी तरह इस सप्तम सोपानका नाम फलश्रुतिके अनुसार 'अविरल हरिभक्ति संपादन' है। ये सातों सोपान श्रीरघुपतिभक्तिके मार्ग हैं, यथा 'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना। १२६।३।' धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे संतोष, संतोषसे ज्ञान, ज्ञानसे विज्ञान होता है और विज्ञानका फल हरिभक्ति है।

श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः, श्रीभरद्वाजाय नमः, श्रीयाज्ञवल्क्याय नमः, श्रीउमामहेश्वराय नमः, श्रीगरुड़ाय नमः, श्रीभुशुण्डिचरण-कमलेभ्यो नमः, श्रीहनुमते नमः, श्रीगुरवे श्रीरूपकलादेव्यै नमः, सशक्ति श्रीभरताय नमः, सशक्ति श्रीलक्ष्मणाय नमः, सशक्ति श्रीशत्रुघ्नाय नमः, श्रीसीतारामाभ्यां नमः, श्रीसन्तभगवन्तचरणकमलेभ्यो नमः, श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्य श्रीमतेरामचंद्राय नमः।

यो नित्यमच्युतपदाम्बुज युग्मरुक्म व्यामोहतस्तदितराणि तृणाय मेने।
अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिंधोः श्रीरूपकलाब्जचरणौ शरणं प्रपद्ये॥
'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियो।'
हे प्रभो! यह आपकी वस्तु आपकोही अर्पण है, इसे स्वीकार करें।

श्रीसन्त-भगवन्त-गुरु-करकमलार्पणमस्तु । जय जय सीतारामकी । जय बोलो हनुमानकी ।

जे निज भगत नाथ तव अहहीं । जो सुख चाहहिं जो गति लहहीं ॥

अविरल भक्ति विशुद्ध अति श्रुति पुरान जो गाव । जेहि खोजत योगीश मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव ।
सोइ भक्ति गति रहनि सोइ सोइ प्रभु चरण सनेह । सोइ विवेक सुख सुमति सोइ सोइ सतसंगति देहु ।

सब मिलि कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि तुम्हहिं भजौं दिन राती ॥
मन की सकल मलिनता भागै । सीताराम चरण लौ लागै ॥
पद पङ्कज राजैं मन माहीं । रहउँ सदा चित चरनन्हि पाहीं ॥
बार बार माँगउँ कर जोरे । बसहु राम सिय मानस मोरे ॥

चहौं न सुमति सुगति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़इ अनुदिन अधिकाई ॥
बार बार माँगौं कर जोरे । पुरवहु नाथ मनोरथ मोरे ।

आरति

आरति श्रीरामायनजी की कीरतिकलित ललित सिय पी की ।
गावत ब्रह्मादिक मुनि नारद बालमीक बिज्ञानबिसारद ॥
सुकसनकादि सेष अरु सारद बरनि पवनसुत कीरत नीकी ॥ १ ॥
गावत बेद पुरान अष्टदस छवो सास्त्र सब ग्रंथन को रस ।
मुनिजनधन संतन को सर्बस सार अंस सम्मत सब ही की ॥ २ ॥
गावत संतत संभु भवानी अरु घटसंभव मुनि बिज्ञानी ।
ब्यास आदि कबिबर्ज बखानी कागभसुंडि गरुड़ के हिय की ॥ ३ ॥
कलिमलहरनि बिषयरसफीकी सुभग सिंगार भक्तिजुवती की ।
दलन रोगभव मूरि अमी की तात मातु सब बिधि तुलसी की ॥ ४ ॥
आरति श्रीरामायनजी की ।

इति आरती संपूर्ण शुभम् । श्रीसंतगुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः ॥



Regd. No. A. 511

'मुनिजन धन संतन्ह को सर्बस। सार अंस संमत सब ही की।'

सुप्रसिद्ध रामायणियों, साहित्य-मर्मज्ञों तथा मानस-प्रेमियों द्वारा प्रशंसित

'श्रीरामचरितमानस' का संसारमें सबसे बृहत् तिलक

* मानस–पीयूष *

(द्वितीय संस्करण। लगभग ७००० पृष्ठों में)

बालकांड	४५)	अयोध्याकांड	२०)
अरण्यकांड	६॥)	किष्किन्धाकांड	४॥)
सुंदरकांड	७॥)	लंकाकांड	११)
उत्तरकांड			१३)

मानसपीयूषका पूरा प्रकाशन हो चुका। अब इसका परिशिष्ट भाग प्रकाशित होगा। और तत्पश्चात् 'विनयपियूष' के शेष अंशका प्रकाशन प्रारम्भ होगा।

☞ 'विनयपियूष' के जो ग्राहक बनना चाहते हों वे सूचना दें।

☞ विना २०) अथवा आधा मूल्य अग्रिम आये वी० पी० पी० नहीं भेजा जायगा।

'विनय-पियूष' ('विनयपत्रिका' के प्रथम ३६ पदोंका तिलक) ८)

हमारे यहाँ निम्न पुस्तकें भी मिलती हैं—

'वीणा के तारों में' (नारदभक्तिसूत्रके २४ सूत्रोंकी व्याख्या। श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र' जी) २)

आस्तीन का साँप १) जड़ चेतन ।) आशा की ओर ‑)

मिलनेका पता—'मानसपीयूष कार्यालय', ऋणमोचनघाट,
पो० अयोध्या (उ० प्र०)

❀ मानस शब्द-सागर ❀

श्रीरामचरितमानस के शब्दों के संकलन का

❀ एक अनूठा ग्रन्थ ❀

मानस जगत की एक बहुत बड़ी कमी को पूर्ण करनेवाला

तथा

रामचरितमानस की गभीर गवेषणा के लिये अति उपयोगी ग्रन्थ

रामचरितमानस में व्यवहृत शब्दों की तालिका (शब्द-सूची)

अन्य विकसित भाषाओं में उनके धर्म-ग्रन्थों की शब्द-सूची (Concordance) प्राप्त हैं। हिन्दी-जगत में यह प्रथम प्रयास।

ऐसे उपयोगी ग्रन्थ का मूल्य केवल २०) रु० मात्र।

प्राप्तिस्थान—काशीप्रसाद विजयकुमार
८३–विडिन स्ट्रीट–कलकत्ता–६

मुद्रक—बजरंगबली गुप्त, 'विशारद' श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, बनारस।